

उपनिषद्-प्रकाश

अर्थात्

ईश, केन, कठ, प्रश्न मुण्डक और माण्डूक्य,
छः उपनिषदों का हिन्दी अनुवाद तथा
व्याख्या प्रश्नोत्तर के रूप में।

जा

श्रीस्वामी दर्शनानन्द सरस्वती के उर्दू उपनिषद्-प्रकाश का
हिन्दी अनुवाद है।

िसका

मास्टर अवधबिहारी लाल चान्दापुरी ने हिन्दी अनुवाद किया

और

महाशय श्यामलाल वर्म्मा आर्य्य-बुकसेलर बरेली ने
लखनऊ-निवाम्मी श्रीमान् पं० रामनारायण अवस्थी
से शुद्ध कराकर

प्रकाशित किया।

तृतीयावृत्ति
१००० प्रति

सन् १९२५ ई०

मूल्य २॥=)

बाबू चन्द्रमोहनदयाल मैनेजर द्वारा दयाल प्रिंटिंग वर्क्स मिशन-रोड,
लखनऊ में मुद्रित।

धन्यवाद



गुणग्राही पाठकों को अनेकशः धन्यवाद है कि उन्होंने द वर्ष के भीतर ही इस ग्रन्थ-रत्न को हाथोहाथ खरीद लिया और आज, संवत् ९८२ की कृष्ण-जन्माष्टमी को हमें तृतीय संस्करण का धन्यवाद लिखने का सौभाग्य प्राप्त हुआ।

प्रथम संस्करण में जो त्रुटियाँ रह गई थीं, इस बार वे दूर करदी गई हैं। प्रथम संस्करण में कागज के कराल अकाल के कारण कागज न मिलने से हलका लगाया गया था। इस बार कागज़ भी बढ़िया होगया है और छपाई भी उत्तम है, जिससे पूर्ण आशा है कि पाठक महाशय पहले से अधिक अपना कर शीघ्र चतुर्थ संस्करण का शुभ अवसर देंगे।

ऐंग्लो-अरबिक प्रेस, लखनऊ
कृष्ण-जन्माष्टमी ९८[illegible]

विनीत—
पं० रामनारायण अवस्थी
(सहायक)

आवश्यक निवेदन



श्रीमन्महर्षि स्वामी दयानन्द सरस्वती महाराज ने अपने लोक-प्रसिद्ध ग्रंथ, सत्यार्थप्रकाश मे केवल दस उपनिषदों को ऋषि प्रणीत माना है अर्थात ईश, केन, कठ प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, ऐतरेय, तैत्तिरीय छान्दोग्य और बृहदारण्यक। जिनमे से आरम्भ के छः उपनिषदों का हिन्दी अनुवाद पाठकों के सम्मुख है। यह ग्रंथ श्रीस्वामीजी महाराज के सुयोग्य शिष्य और आर्य्य-समाज के जाज्वल्यमान रत्न, परलोक प्राप्त **श्रीस्वामी दर्शनानन्द सरस्वती** कृत उर्दू उपनिषद् प्रकाश का हिन्दी-अनुवाद है। उपनिषद-प्रकाश का उर्दू-जगत में बड़ा मान है और अब तक उसकी अनेक आवृत्तियाँ निकल चुकी है। इस उपयोगी ग्रंथ की हिन्दी-जगत् में भी बड़ी माग थी, जिसको वैदिक आर्य्य पुस्तकालय, बरेली के अध्यक्ष **महाशय श्यामलाल वर्मा** ने पूरा कर दिया।

इसके अनुवादक श्रीयुत मास्टर अवधबिहारीलाल है। यह ग्रन्थ ही आपकी योग्यता का ज्वलत प्रमाण है। सयोग वश इस ग्रंथ के सशोधन का सौभाग्य मुझे प्राप्त हुआ। यह ग्रंथ मेरे सस्कृत-भाषा-सशोधन के प्रथम प्रयास का फल स्वरूप है। इस कारण मुझे आशका है कि इस ग्रंथ में मुझसे अनेक त्रुटियाँ रह गई हो, जिनके लिये विद्वान् पाठक मुझे क्षमा प्रदान करेंगे। मैं प्रकाशक **महाशय श्यामलाल वर्मा** को इसका धन्यवाद देता हूँ कि उन्होने ऐसे कठिन कार्य के लिये मुझे उत्साहित किया। और मैं अपने परमप्रिय एव सुचतुर मैनेजर **श्रीयुत् बाबू चन्द्रमोहनदयालजी** को अनेकश धन्यवाद देता हूँ

कि जिन्होने असीम कृपा करके मुझे इसके सशोधन का अवसर दिया। साथ ही मैं यहाँ पर इस प्रेस के भूतपूर्व संशोधक **मास्टर चन्द्रिकाप्रसादजी गुप्त** को भी धन्यवाद दिये विना नहीं रह सकता कि जिनके सत्सग एव सहकारिता में रहकर मैं इस कार्य के योग्य हुआ। और, मैं अपने प्रिय पाठकों को उस समय धन्यवाद दूँगा, जब वे मुझे उन त्रुटियो की श्लोकाङ्क-सहित सूचना देंगे जिनको वे इस ग्रथ के पढते समय पावेंगे। ताकि चतुर्थ सस्करण में उनकी शुद्धि हो जावे।

* यथार्थ में मैं इस योग्य न था कि अनुवादक की त्रुटियो को शुद्ध करूँ। क्योंकि मैं एक साधारण कर्मचारी हूँ, विद्वान् नहीं। मुझ मे और अनुवादक मे धरती आकाश का अन्तर है। तथापि परम पिता परमात्मा की अनुग्रह से मैं यथाशक्ति इस महान् कार्य के करने को उद्यत हुआ। मैंने अपने सशोधन में ग्रन्थ का पूर्व भाव नही बिगडने दिया है, केवल यत्र-तत्र थोडा बहुत शुद्ध कर दिया है। आशा है, प्रिय पाठक इसे शीघ्र अपनाकर प्रकाशक महाशय के व्यय एव अनुवादक और सशोधक के घोर परिश्रम को सफल करेंगे। इतिशुभम्।

विनीत—

ऐंगलो-अरविक प्रेस, लखनऊ
कृष्ण-जन्माष्टमी, स० १९७८

पं० रामनारायण अवस्थी
(सशोधक)

* ओ३म् *

भूमिका

प्रश्न—कोई मनुष्य भी किसी कार्य को विना प्रयोजन के नहीं करता। तुम्हारे इस ईशोपनिषद् के अनुवाद करने का क्या अभिप्राय है। और इसमें किन-किन बातों का वर्णन होगा ?

उत्तर—प्रत्येक मनुष्य की यह इच्छा रहती है कि दुःख से छूटकर सुख प्राप्त करें। और इसी के लिए समस्त संसार के मनुष्य रात दिन प्रयत्न करते हैं। परन्तु वेद-विद्या का ज्ञान न होने से सुख दुःख के ठीक-ठीक साधनों को न जानकर दुःखदायक वस्तुओं का सुखदायक समझकर दुःख उठा रहे है। और ईश्वर जीव और प्रकृति के गुण कर्म और स्वभाव का ठीक ज्ञान न होने से मनुष्य-जीवन जैसे अनमोल रत्न को पशुओं की भाँति केवल पेट पालने में खो रहे है। सहस्रो मनुष्य इस विद्या के न जानने से ऐसे बुरे मार्ग पर चल रहे हैं कि जहाँ उनकी आयु की पूजी को दूसरो के हाथ स एक मिनट भी शान्ति मिलना कठिन है। और सब दुःखों से छुड़ाकर सुख देनेवाले परमात्मा को मनुष्यों ने ऐसा भुला दिया है कि लगभग सर्व संसार में उसके ठीक-ठीक स्वरूप के जाननेवाले बहुत ही थोड़े मनुष्य रह गए हैं। शेष सब मनुष्य विपरीत इसके कि ईश्वर के गुणों का वर्णन करें, उसकी निन्दा करते हैं। कोई उस

सर्व सहायक और परम शक्तिमान् को आकाश के कोठे पर क़ैद कर रहा है। और विपरीत इसके कि उसके विना आधीन हुए अपने कार्यों को विना सहायता के करे, उसकी सहायता के लिए फ़रिश्तो और पैगम्बरों की वाहिऍ भर रहा है। कोई उसकी पवित्र आत्मा को भक्तों पर दया दिखाने वाला बता रहा है। और सर्व संसार की उत्पत्ति अपने रसूल के लिये बता रहा है कोई ईश्वर के साथ लम्बी चौड़ी मिला कर पिता पुत्र और रुहुल कुद्दुस के नाम से जीव ब्रह्म प्रकृति की सत्ता स्वीकार कर रहा है। कोई ईश्वर की सत्ता से विमुख होकर सृष्टि को अनादि बता रहा है और मुक्त मनुष्यों को तीर्थंकर और सिद्ध कहकर उन्हे मोक्ष शिला पर आसीन सिद्ध करता हुआ पुजवा रहा है।

तात्पर्य यह है कि चारो ओर ईश्वर जीव के सम्बन्ध मे ऐसा अँधेरा छा रहा है कि जब तक इन पदार्थों का ठीक-ठीक ज्ञान संसार में न फैल जावे तब तक कोई मनुष्य भी सुख और शान्ति से जीवन नही व्यतीत कर सकता। नियत मार्ग तक पहुँचने का कहना ही क्या है। सर्व संसार का धर्म कर्म और वंश की प्रतिष्ठा और सदाचार सब धन के सहारे आ रहा है। जिसके पास रुपया है वह सहस्रो प्रकार की बुराइयो के करने पर भी सदाचारी है। बिरादरी में उसके दुराचारो पर दृष्टि डालनेवाला कोई नहीं। और जिसके पास धन नहीं, वह किसी प्रकार भी संसार में प्रतिष्ठा के योग्य नहीं गिना जाता। इस अवस्था को देख कर प्रत्येक ब्राह्मण, साधु जन जिनके धर्म मे रुपये का रखना भारी पाप समझा जाता था, धन के कमाने में लग गये। तात्पर्य यह है कि बड़े-बड़े धर्म प्रचारको को भी धन कमाने

की धुन ने धर्म के मार्ग से पृथक् कर अधर्म के मार्ग का यात्री बना दिया। जिनके विश्वास पर लोग अपनी आयु की नाव को संसार-सागर से पार लगाने के विचार में मग्न थे। वे लोग भी टके के ध्यान में फँसकर स्वयं अपनी आयु को भँवर में फँसा बैठे। ऐसी अवस्था को देखकर इस बात की आवश्यकता प्रतीत हुई कि समस्त हिन्दी जाननेवालों को ईश्वर, जीव और प्रकृति का ठीक-ठीक ज्ञान कराने के हेतु उपनिषदों का (जो ईश्वर के बनाए हुए वेदान्तरों के व्याख्यान हैं) हिन्दी में अनुवाद किया जावे। और कुछ मित्रो के कहने से यह भी प्रतीत हुआ कि यह अनुवाद संक्षेप और केवल शब्दार्थ रूप मे ही न किया जावे किन्तु जहाँ तक हो सके पूर्ण विस्तार के साथ ठीक प्रकार से और कुछ स्थानो पर आवश्यक आन्दोलन के साथ चलाया जावे। यद्यपि मेरी विद्या की योग्यता इस प्रकार की नही कि मैं इस प्रकार के बोझ और उत्तर दायित्वपूर्ण कार्य को सहन कर सकूं, तथापि परमात्मा की सहायता के विश्वास पर चलाने का उद्योग किया जायगा।

यह उपनिषद् वास्तव मे यजुर्वेद का चालीसवॉ अध्याय है। इसमें सब मन्त्र ज्ञान-काण्ड के है। जहाँ तक विचार पड़ता है, सब उपनिषदो का मूल यही उपनिषद् है। क्योंकि यह उपनिषद् वेद के अन्त में है। इसी कारण से इसका नाम वेदान्त रक्खा गया। और शेष उपनिषद् भी इसी कारण वेदान्त कहे जाते है। और व्यासजी ने ब्रह्म सूत्रों में भी इसी के विषय से ब्रह्म सिद्धि को लिया। इसीलिए उसका नाम भी वेदान्त-शास्त्र हुआ। दूसरा कारण इनको वेदान्त कहने का यह भी है कि वेद नाम ज्ञान का है और

ब्रह्म के जानने में बुद्धि से पूरा काम नहीं चलता। और ब्रह्म-ज्ञान, ज्ञान की सब से अन्तिम श्रेणी है। क्योंकि प्रकृति से जीव सूक्ष्म है और उसका ज्ञान इन्द्रियों के द्वारा नहीं होता, परन्तु इसके कार्य और ज्ञान के प्रत्यक्ष होने से उसकी सत्ता का ज्ञान सर्व साधारण को हो सकता है। परन्तु ब्रह्म ऐसी सूक्ष्म वस्तु है कि जिसका ज्ञान भी इन्द्रियों से तो हो ही नहीं सकता, इस कारण से शब्द प्रमाण की आवश्यकता है। और आचार्य लोग वेद को सब से अधिक स्वतः प्रमाण मानते हैं। इसलिए इन वेद के ब्रह्म के विषय में मन्त्रों और उनकी व्याख्या का नाम वेदान्त हुआ।

स्वामी दर्शनानन्द सरस्वती।



❀ ओ३म् ❀

ईशोपनिषद्

का

हिन्दी अनुवाद

मंत्र

ईशा वास्यमिदꣳ सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद्धनम ॥ १

(शब्दार्थ यत्=जो। किञ्च=कुछ। जगत्याम्=संसार में। जगत्=समष्टि व्यष्टि रूप से विद्यमान है। इदम्=यह। सर्वम्=सब। ईशा वास्यम्=ईश्वर से रहने योग्य है। तेन=उस ईश्वर से। त्यक्तेन=दी हुई वस्तुओं से। भुञ्जीथाः=भोग करो। कस्यास्वित्=किसी का। धनम्=धन। मागृधः=मत ग्रहण करो।

(अर्थ) जो कुछ इस नाश वाले संसार में भाग या पूर्ण वस्तुएँ हैं वह सब ईश्वर के रहने का घर है या ईश्वर से ढकी हुई हैं अर्थात् ईश्वर प्रत्येक वस्तु में विद्यमान है। कोई पर्वत की गहरी से गहरी गुफ़ा नहीं जिसमे ईश्वर विद्यमान न हो।

कोई समुद्र की गहरी से गहरी तह नहीं जहाँ परमात्मा न हो। कोई पर्वत की चोटी ऐसी नहीं जहाँ परमात्मा न हो। सूर्य्य-लोक, चन्द्र लोक, तारागण इत्यादि जितने भी लोकलोकान्तर हैं, सब स्थानों पर परमात्मा व्यापक है। किसी स्थान पर मनुष्य परमात्मा से छिप नहीं सकता। और जो ईश्वर की आज्ञा के विरुद्ध करते हैं अर्थात् ईश्वर को छोड देते हैं। वे जन्म-मरण के दुःखों को भोगते हैं। इसलिए प्रत्येक मनुष्य को चाहिए कि परमात्मा को सब जगह व्यापक जाने, तो उसके विरुद्ध करने से दुःख की उत्पत्ति को समझ कर कभी पाप करने के लिये उद्यत न हो। और किसी का धन लेने की इच्छा न करे। क्योंकि परमात्मा का नियम है कि प्रत्येक मनुष्य को उसके कर्मों के अनुसार भोग मिलता है और कोई मनुष्य उसके विरुद्ध अपनी इच्छा से भोग प्राप्त नहीं कर सकता। इसलिए दूसरे का धन लेने की इच्छा से पाप तो अवश्य होगा और भोग मे कुछ भी अन्तर नहीं आएगा। इसी को विना लाभ का पाप कहते है।

प्रश्न—यद्यपि इस वेद मन्त्र से ईश्वर का सर्वव्यापी होना पाया जाता है, परन्तु हम ईश्वर को कहीं नहीं देखते। अब हम तुम्हारे इस वेद-मन्त्र को माने या अपनी आँखों से देखी हुई वस्तुओं का विश्वास करें? यदि ईश्वर है तो बताओ कहाँ है।

उत्तर—बहुत सी वस्तुएँ जो सूक्ष्मता, दूरी इत्यादि के कारण प्रतीत नहीं होतीं और उनकी सत्ता को सब मनुष्य मानते हैं, जैसे—बुद्धि, आत्मा, दुःख इत्यादि। इससे सिद्ध है कि संसार में ऐसी वस्तुएँ विद्यमान हैं जिनको मनुष्य

इन्द्रियों से नहीं जान सकते। उनमें से एक ईश्वर है और यह प्रश्न कि ईश्वर कहाँ है नितान्त अशुद्ध है, क्योंकि कहाँ का शब्द स्थानीय के लिये आता है और वेद-मंत्र ने ईश्वर को सर्वव्यापक बताया है। जैसे कोई कहे कि दूध में घी या मिश्री में मिठास कहाँ है? तो उत्तर होगा सर्वत्र। जिससे कहाँ को आक्षेप एक स्थानीय वस्तुओं के लिए उचित प्रतीत होता है सर्वव्यापी के लिये नहीं।

प्रश्न—जो मनुष्य ईश्वर को नहीं मानते वे अधिक धनी प्रतीत होते है, जैसे चीनी इत्यादि नास्तिक जातियाँ। इससे प्रतीत होता है कि ईश्वर के मानने से दरिद्रता और दुख प्राप्त होते है।

उत्तर—प्रथम तो यह प्रश्न ठीक नहीं कि नास्तिक मनुष्य अधिक धनी होते है। क्योंकि ईसाई यहूदी जो ईश्वर की सत्ता को मानते है, बड़े बड़े धनी देखे जाते है दूसरे धनी होना कोई अच्छी बात नहीं, किन्तु जितने धनी देखे जाते है उन सब में और अधिक बुराइयाँ देखी जाती है। और वेदों के माननेवाले तो इस प्रकार के धन को जिससे मुक्ति के मार्ग में बाधा के अतिरिक्त अन्य कोई लाभ प्राप्त नहीं होता, बुरा मानते है।

प्रश्न - क्या कोई मनुष्य विना धन के सिद्ध मनोरथ हो सकता है?

उत्तर—संसार में तो मनुष्य के लिये धन की आवश्यकता प्रतीत होती है, परन्तु उससे मनुष्य अपने नियत स्थान से नितान्त दूर हो जाता है। और जो लोग संसार और दीन दोनों एक साथ प्राप्त करना चाहते हैं वह बड़े मूर्ख है।

प्रश्न—क्या वेदों में धन कमाने की आज्ञा नहीं है ?

उत्तर—वेदों में प्रत्येक वस्तु के विषय में जिससे जीवन का काम पड़ता है वर्णन है। और नीच मनुष्य ही धन की इच्छा भी करते हैं। परन्तु वेदो में धन को कही मुक्ति का कारण नही लिखा किन्तु योगाभ्यास और वैराग्य को मुक्ति का कारण बताया है। और वैराग्य का अर्थ सब सांसारिक वस्तुओं की इच्छा छोड़ना है। जो मनुष्य सांसारिक वस्तुओ की इच्छा में फँसे हैं, वही ईश्वर की आज्ञा के विरुद्ध कार्य करते है। जितने झगड़े संसार में फैले है उन सबका कारण दूसरो का अधिकार लेना है। यदि मनुष्य केवल इसी वेद-मंत्र के समान आचरणवाले हो जावें, तो लड़ाई झगड़े सब दूर हो जावें। चोरी लूटमार और ठगी का नितान्त अन्त हो जावे। पुलिस और सेना की आवश्यकता न रहे, अदालतें बन्द दिखाई दें। तात्पर्य यह है कि जितनी बुराइयाँ आज संसार में दिखाई देती हैं कही उनका चिन्ह भी न दिखाई दे। और प्रत्येक मनुष्य संसार मे स्वर्ग से बढ़ कर आनन्द उठाए।

प्रश्न—क्या ईश्वर के भय से वैराग्य ग्रहण करके कर्मों को नितान्त त्याग दना चाहिए ?

उत्तर—कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतꣳ समाः।
एवंत्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ॥२॥

(शब्दार्थ) कुर्वन्=करता हुआ। एव=निश्चय। इह=इस संसार में। कर्माणि=कामों को। जिजीविषेत्=जीना चाहे। शतम्=सौ। समाः=वर्ष। एवम्=इस प्रकार। त्वयि=तुझ में।

न=नहीं । अन्यथा=दूसरी तरह । इतः=इसके सिवाय। अस्ति=है । न=नहीं । कर्म=काम । लिप्यते=चिपटना है। नरे=मनुष्य मे ।

(अर्थ) इस वेद मंत्र में परमात्मा जीव को इस बात का उपदेश करते हैं कि हे जीवो ! तुम इस संसार में सौ वर्ष तक कार्य करते हुए जीने की इच्छा करो अर्थात् पूर्ण आयु पर्यन्त कार्य करते रहो, क्योंकि तुम्हारे लिये सब से अच्छा मार्ग यही है, क्योंकि अच्छे कर्म जीव के बन्धन का कारण नहीं होते ? बहुत से मनुष्य यह कहेगे कि मंत्र मे तो केवल कर्म लिखे है तुम अच्छे किस प्रकार कहते हो। तो इसका उत्तर यह है कि ईश्वर की आज्ञा के विरुद्ध दूसरो का अधिकार लेनेवाले कर्मों के करने का निषेध पिछले मंत्र मे हो चुका है उनको छोड़कर जो कर्म है वह सब ईश्वर की आज्ञा के अनुसार होने से शुभ ही हैं। किसी प्रकार की बुराई हो नही सकती। क्योंकि ईश्वर कभी दुःखदायक कर्म के करने का उपदेश जीव को नही करते और कर्म के उपदेश का तात्पर्य भी यही है। क्योंकि मनुष्य सदा अच्छा या बुरा कुछ न कुछ कार्य करता रहता है, इसलिए कर्म के उपदेश की कोई आवश्यकता न थी। परन्तु पहले मंत्र में किसी का अधिकार न लेनेवाले कर्मों का उपदेश इसलिए किया कि विना शुभ कर्मों के किये मनुष्य बुरे कर्मों से बच नही सकता और बुरे कर्मों से सदा दुःख उत्पन्न होता है और कोई मनुष्य दुःख की इच्छा से कोई कार्य नहीं करता। इस सब बुराई को दूर करने के लिये उपदेश किया कि किसी समय भी शुभ कार्य से वंचित न रहो, जिससे अवकाश मिलने से बुरे कार्य का विचार ही उत्पन्न न हो। क्योंकि मन सदा कर्म करता रहता है। वह किसी समय भी कर्म से पृथक् नहीं

होता। ऐसी अवस्था में जब कि मन की शक्ति को समाधि या सुषुप्ति के द्वारा नितान्त रोक दिया जाय, मनुष्य का सब से बढ़कर कर्त्तव्य यह है कि वह मन को अवकाश न दे। इसलिए एक दृष्टान्त लिखते है।

दृष्टान्त

एक समय किसी धनी के पास एक मनुष्य ने आकर कहा कि मैं नौकरी चाहता हूँ। धनी ने पूछा क्या वेतन लोगे। सेवक ने कहा मेरा वेतन यही है कि मुझे सदा कार्य करने को रहे। जब कार्य न होगे मैं तुम्हें मार डालूगा। धनी ने सोचा के सेवक तो ब ‹‹ अच्छा है जो कुछ वेतन नही माँगता और कार्य करने क लिए सदा उद्यत है और कभी विश्राम लेने का नाम नहीं लेता। हमें अपने कार्यों के लिए बहुत स मनुष्यों की आवश्यकता पड़ती । जब कार्य देखेंगे उसको कार्य देते रहेंगे। शेष मनुष्यो को निकाल देंगे। तात्पर्य यह है कि स धनी ने सेवक की प्रतिज्ञा मान ली। सेवक बड़ा फुर्तीला था। काम जिह्वा से निकला नहीं कि पूर्ण हुआ एक दो दिन में ी धनी क कार्य समाप्त हो गए। अब उसे चिन्ता हुई कि य द इस कार्य नही देते तो अवश्य मार डालेगा। यदि कार्य दें तो इतना कार्य कहाँ से लाएँ। इस चिन्ता ने धनी के चित्त को नितान्त अशान्त कर दिया। खाना पीना सब बन्द हो गया एक दिन ि सी विद्वान् ने धनी से पूछा कि आपके पास इतना धन ; तो भी आप इतने निर्बल क्यों होते जाते हैं। धनी ने सब वृत्तान्त कह सुनाया। विद्वान् ने कहा कि तुम अपने कार्यों पर ही उसे निर्भर क्यो रखते हो। उसे मुहल्ले और शहर के मनुष्यो के कार्यों पर लगा दो। यदि वह उस भी पूरा

कर दिखाये तो सब मनुष्यों की भलाई के कार्य पर लगादो। यदि इससे भी छुटकारा पा जाय तो प्रत्येक जीव की सेवा का काम लो। यह सीमा-रहित कार्य उससे जन्म भर समाप्त न होगा और तुम उसके हाथ से बच जाओगे।

यही दशा मनुष्य के मन की है। जिस समय उसे शुभ कार्य से छुट्टा मिलेगी उसी समय मनुष्य के नाश करनेवाले कार्यों में लग जायगा। इसलिये उस मन को परोपकार के कार्य में लगाए बिना मनुष्य संसार की बुराइयों से बच नहीं सकता और न बुरा कार्य करके आसक्ति और दुःख को छोड़कर किसी शुभ परिणाम की आशा कर सकता है। मनुष्य के अपने कार्य इतने स्वल्प हैं कि मन उनको बहुत शीघ्र समाप्त कर लेता है। महात्मा रामचन्द्र जी ने भी हनुमान को यही उपदेश किया था कि इच्छा की नदी शुभ और अशुभ इच्छा रूप दो मार्गों पर जाती है। जो इच्छा ईश्वर की आज्ञा के अनुसार हो वह शुभ है और जो उसके विरुद्ध है, बुरी इच्छा है। इसलिए ईश्वर को सर्वव्यापी समझकर और यह सोचकर कि उसकी आज्ञा के विरुद्ध कार्य करने से दुःख भोगना पड़ेगा। इसलिए स्वार्थता और दूसरों का अधिकार छीनने को छोड़कर परोपकार और दूसरों की भलाई के कार्य करना चाहिए। और जो मनुष्य दूसरों की भलाई के कार्य करते हैं वह सदा सुख से रहते हैं। इसलिए परोपकार की इच्छा जो अच्छी है सदा मन में रख कर संसार के उपकार पर कमर बाँधनी चाहिए। जब तक प्राण रहें कभी उस उपकार के कार्य से पृथक् होकर जीवन न व्यतीत करना चाहिए। क्योंकि मनुष्य-जीवन इतना बहुमूल्य है कि उसका बार-बार मिलना अत्यन्त कठिन है। जो मनुष्य ईश्वर की आज्ञा की चिन्ता न करके मनुष्य-जीवन को व्यर्थ

कार्यों में खो रहे है, उनसे बढ़कर मूर्ख कोई नहीं। और जो दूसरों को हानि पहुँचाकर लाभ प्राप्त करना चाहते हैं वह पूरे पशु हैं। वही मनुष्य बुद्धिमान् कहलाते है जो सदा परोपकार के कार्यों में लगे रहते हैं। जिनके जीवन का उद्देश्य ही दूसरों की भलाई करना है और जो विना स्वार्थ संसार के उपकार में लगे रहते है। वही प्राणी ईश्वर-ज्ञान को पाते है जो शुभ कार्य दूसरों की भलाई के लिए करते हैं, वह कभी बंधन का कारण नहीं होते। बंधन का कारण वही कर्म होते है जो ईश्वर की आज्ञा के विरुद्ध किए जाते हैं और जिनमें दूसरों का अधिकार लेने का विचार उपस्थित है। बस, जो मनुष्य अपने जीवन को परोपकार मे बिताएँगे वही संसार के बुरे कर्मों से बचकर शुभ कर्मों से मन को शुद्ध करके तत्त्वज्ञान को ग्रहण करके मुक्ति के अधिकारी होंगे। इस वेद मंत्र का अर्थ है।

मत्र—असुर्य्या नाम ते लोका अन्धेन तमसा वृताः। तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः ॥ ३ ॥

(शब्दार्थ) असुर्य्यानाम=प्रकाश रहित ते=वे। लोकाः=लोक। अन्धेन=घोर। तमसा=अंधकार से। आवृताः=घिरे हुए हैं। तान्=उनको। ते=वे। प्रेत्य=मरकर। अभिगच्छन्ति=प्राप्त होते हैं। ये के च=जो कोई। आत्महनः=आत्मा के हनन करनेवाला। जनाः=मनुष्य है।

(अर्थ) वे मनुष्य महा अन्धकार वाले लोकों में मरने के पश्चात् जाते हैं जो कि अपनी आत्मा को मार डालते हैं। अन्धकारवाले लोकों से तात्पर्य उन लोकों से है जिनमें जीव

की जानने की शक्ति बहुत ही न्यून होजाती है। क्योंकि सूर्य प्रकाशवाली शक्ति है। और प्रकाश का अर्थ ज्ञान भी है, इसलिए सूर्य से रहित अन्धकारवाले लोक का तात्पर्य ज्ञान से रहित योनि से है। क्योंकि ज्ञान का अर्थ भलाई और बुराई को जानकर उसके द्वारा दुःख से छूटकर सुख प्राप्त करना है। और जिन योनियों में सुख के प्राप्त करने के लिए और दुःख से छूटने के लिए जो साधन हैं उनका ज्ञान न हो वह सब योनियाँ ज्ञान के सूर्य से रहित हैं और ज्ञान के सूर्य से तात्पर्य वेदों की शिक्षा से है। क्योंकि वेद का अर्थ ज्ञान है और सृष्टि के आरम्भ में होने से इनका स्वतः प्रकाश अर्थात् बिना किसी दूसरी शिक्षा के प्रकाशित होना भी माना हुआ है। इसलिए जिन लोकों में वेदों की शिक्षा नहीं हो सकती वह लोक सूर्य अर्थात् प्रकाश से रहित है। परंतु वेद-मंत्र ने अन्धकार से पूर्ण होने का अनुमोदन किया है। कुछ मनुष्यों का यह विचार होगा कि जब सूर्य का प्रकाश नहीं होगा तो मनुष्य स्वयं ही अन्धकार से भरपूर होंगे, वेद में यह शब्द क्यों प्रकाशित किए गए। परंतु बुद्धिमान मनुष्य जान सकते हैं कि सूर्य के न होने की अवस्था में नितान्त अन्धकार ही नहीं रहता, किन्तु दीपक के प्रकाश की अवस्था में भी सूर्य नहीं होता। इसलिये वेद ने बता दिया कि जिन लोकों में सूर्य अर्थात् ईश्वरीय प्रकाश और दीपक अर्थात् मानुषी शिक्षा अर्थात् किसी प्रकार का प्रकाश नहीं होता। आत्मा को नाश करनेवाले मनुष्य उन लोकों में प्रवेश करते हैं।

प्रश्न—जब कि तुम आत्मा की उत्पत्ति नहीं मानते तो नाश भी किसी प्रकार हो नहीं सकता। यह उपदेश जो कि आत्मा को नाश करने के अध्याय में है किस प्रकार ठीक हो

सकते हैं, क्योंकि अविनाशी आत्मा का नाश हो ही नहीं सकता। जब कि इस अपराध का होना असम्भव है तो उसका दंड बताना सरासर मूर्खता है ?

उत्तर—नाश करने से तात्पर्य उसके अधिकार नाश करने से है, क्योंकि जीवात्मा को मन इत्यादि पर परमात्मा ने राज्य दिया है। और यह सब इन्द्रिय मन और शरीर आत्मा को नियत स्थान तक पहुंचाने के लिए साधन दिए। अतएव जो मनुष्य आत्मा को इस स्थान से गिराकर मन इन्द्रिय और शरीर का दास बना देते है वह सचमुच आत्मा का नाश करते हैं।

प्रश्न—जब कि परमात्मा ने आत्मा को अधिकारी और मन इत्यादि को दास बनाया है तो मनुष्य उसके विरुद्ध किस प्रकार कार्य कर सकता है ?

उत्तर—मनुष्य कर्म करने में स्वतंत्र है परंतु जिस समय परमात्मा के विरुद्ध करता है तो उसे दुःख मिलता है। और जब परमात्मा की आज्ञा के अनुसार चलता है तो उसे सुख मिलता है।

प्रश्न—तुम जो नाश करने का अर्थ अधिकार का नाश लेते हो इसमें क्या प्रमाण है ? क्योंकि मंत्र में तो आत्मा का हनन लिखा है।

उत्तर—यहाँ अर्थ करने के लिए लक्षणा शक्ति का आधार किया है, क्योंकि जहाँ अक्षरों से असम्भव अर्थ निकले वहाँ लक्षणा शक्ति से काम लिया जाता है। जैसे किसी ने कहा मचान पुकारते हैं, क्योंकि मचान में पुकारने की शक्ति का

होना असम्भव है, इसलिए वहाँ यह लक्षणा करते हैं कि मचान पर बैठे हुए मनुष्य पुकारते हैं।

प्रश्न—तुम्हारा यह प्रमाण ठीक नहीं। क्योंकि ऐसा हमने कभी नहीं सुना, दृष्टान्त वह होता है जिसे प्रत्येक मनुष्य मान ले।

उत्तर—जब मनुष्य रेलगाड़ी पर बैठे हुए कहते हैं कि मेरठ आगया, तो बुद्धिमान् मनुष्य जानता है कि मेरठ तो जड़ पदार्थ है उसमें आने के कार्य का होना असंभव है, इसलिए वह उसके अर्थ यह समझता है कि रेलगाड़ी मेरठ पहुँच गई। और आने की क्रिया मेरठ को छोड़कर रेलगाड़ी पर लगा देता है।

प्रश्न—यदि इस प्रकार मन माना अर्थ किया जाय, तो किसी शब्द का ठीक अर्थ कुछ भी न होगा, परन्तु जहाँ जो चाहो कर लो।

उत्तर—नहीं, शब्दों के ठीक अर्थ समझने के लिए ही यह शक्तियाँ नियत की गई हैं। जिससे कि कहनेवालों का ठीक-ठीक अभिप्राय समझ में आ जाए और मनुष्य भ्रम-जाल में न पड़े रहें।

प्रश्न—तुमने लोक शब्द का अर्थ शरीर किस प्रकार किया ? क्योंकि किसी कोष में लोक का अर्थ शरीर नहीं किया गया।

उत्तर—क्योंकि लोक शब्द का दृश्य पदार्थ है। इसलिए शरीर को दृश्य होने से और पिंड अर्थात् जगत् के प्रमाण में ही जाती है, इसलिये लोक शब्द का अर्थ शरीर करना ठीक है। और 'प्रेत्य' शब्द अर्थात् मरने के पश्चात् प्राप्त होने से दूसरे शरीर का नाम भी लोक ठीक हो सकता है।

मन्त्र—अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनद्देवा आप्नुवन् पूर्वमर्षत् । तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत्तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति ॥ ४ ॥

(शब्दार्थ) अनेजत्=न काँपनेवाला । एकम्=अनुपम् । मनसः=मन से । जवीयः=शीघ्रगतिवाला । एनत=इस । देव := प्रकाश करनेवाले । आप्नुवन्=पास के । पूर्वम्=पहिले ही । अर्षत्=विद्यमान होने से । तत्=वह । धावतः=दौड़ते हुए । अन्यान्=औरों को । अत्येति=उलांघता है । तस्मिन्=उसमें । अपः=जलको । मातरिश्वा=वायु । दधाति=धारण करता है ।

(अर्थ) उपरोक्त तीन मन्त्रों में ईश्वर का सर्वव्यापी होना और उसकी आज्ञानुसार जन्म भर कर्म करने का उपदेश और उसके मन्त्रों के विरुद्ध आत्मा के अधिकार को नाश करनेवालों को दंड का होना बता कर ईश्वर की परिभाषा करते हैं । क्योंकि विना ठीक ठीक परिभाषा विदित हुए उससे जो लाभ उठाना चाहिए उसमें मनुष्य नहीं लगते । जिससे सुख के कारण उपस्थित होते हुए भी सुख दुःख से पृथक् रहते हैं । इस मंत्र का अर्थ यह है कि वह परमात्मा सर्वव्यापी होने से कभी काँपता या हिलता नहीं और एक होने के कारण कभी भय भी उसके समीप नहीं आता । क्योंकि जिसकी बराबर कोई न हो और न उससे बड़ा हो, तो उसे किससे भय हो सकता है । वह परमात्मा सर्वव्यापी होने से मन से भी शीघ्रगामी है, क्योंकि जहाँ मन जाता है, परमात्मा वहाँ पहले उपस्थित होता है । क्योंकि परमात्मा सर्वव्यापी होने से पहिले सब स्थानों पर विद्यमान है । इसलिए इन्द्रियाँ उसको

नहीं पा सकतीं। अर्थात् उसको नहीं जान सकतीं। जो परमात्मा को जानने के लिए इधर उधर दौड़ते हैं, वह परमात्मा को कदापि नही पा सकते। अर्थात् जहाँ-जहाँ इन्द्रियाँ विषयों के लिए जाती हैं परमात्मा उनसे आगे पहले विद्यमान होते हैं। इस सब का तात्पर्य यह है कि ब्रह्म को इन्द्रियों से अनुभव नहीं कर सकते। और न वह लोग जो इन्द्रियों से ईश्वर का दर्शन करने के लिये चारों ओर दौड़ते हैं, कभी परमात्मा को जानने के योग्य नहीं हो सकते, जब तक कि संसार के विषयों से पृथक् न हो जाव।

प्रश्न—क्या ब्रह्म चलनेवाला है, या नहीं हिलता है?

उत्तर—ब्रह्म सर्वव्यापी होने से तनिक भी नहीं हिलता परन्तु संसार की प्रत्येक वस्तु उसकी शक्ति से चलती है।

प्रश्न—क्या ब्रह्म साकार है या निराकार?

उत्तर—प्रत्येक साकार वस्तु सीमावाली होती है और सीमावाली वस्तुएँ चल फिर सकती है। परन्तु मंत्र मे बताया है कि ब्रह्म सर्वव्यापक होने से चलने इत्यादि से रहित है। इस लिए वह साकार नहीं हो सकता, उसको शास्त्र में निराकार लिखा है।

प्रश्न—ब्रह्म निराकार है इसमें कोई प्रमाण नही। क्योंकि आकारवाली वस्तुएँ ही कार्य कर सकता है क्योंकि ब्रह्म सृष्टि की रचना इत्यादि का कार्य करता है, इसलिए वह किसी प्रकार निर्गुण अर्थात् निराकार नही हो सकता।

उत्तर—क्योंकि आकार जाति का चिन्ह है और जाति उन वस्तुओं में रहती है जो एक से अधिक हों क्योंकि ब्रह्म एक है, इसलिये उसमें जाति नहीं है। जब जाति नहीं, तो

उसका चिन्ह आकार भी नहीं। और यह आवश्यक नहीं कि प्रत्येक सगुण वस्तु साकार भी हो। क्योंकि गुण प्रत्येक साकार व निराकार वस्तु में रह सकते हैं।

प्रश्न—कोई निराकार वस्तु कार्य करती हुई दृष्टिगोचर नहीं होती। इसलिये निराकार ब्रह्म का जगत् को उत्पन्न करना असम्भव है।

उत्तर—जितना कार्य करता है निराकार ही करता है। शरीर के अंग और यंत्र इत्यादि जितनी साकार वस्तुएँ हैं वह सब निराकार के कार्य करने के सधान हैं। क्या जीव साकार है? यदि साकार होता, तो निकलता हुआ अवश्य दृष्टिगोचर होता। क्योंकि जीव भी शरीर को चलाने इत्यादि का कार्य करता है। इस लिये निराकार ब्रह्म भी जगत् की रचना इत्यादि करता है।

प्रश्न—मंत्र में यह जो लिखा है कि ब्रह्म जल को वायु में धारण करता है इसका क्या अर्थ है?

उत्तर—वायु जो बादल इत्यादि जल के परमाणुओं को इकट्ठा करती है वह सब ब्रह्म की मदद से ही करती है, नही तो जड़ वायु में कुछ भी करने की शक्ति नहीं। क्योंकि परमेश्वर सब से अधिक बली है। और कुछ मनुष्य यह भी अर्थ निकालते हैं कि प्राणवायु जो कि माला के मणियों में धागे की भाँति शरीर की प्रत्येक इन्द्रिय इत्यादि में पुरोया हुआ है, वह भी परमात्मा की सहायता से सब कार्य कर सकता है नहीं तो प्राणवायु में भी कोई शक्ति नहीं। और माता के गर्भ में यह आत्मा उसकी सहायता से अपने कर्मों को पूरा करता है। तात्पर्य यह है कि परमात्मा की सहायता के बिना कोई इन्द्रिय

इत्यादि वस्तु काम नहीं कर सकती। इसी विषय को अगले मंत्र से और भी पुष्ट करते हैं—

मंत्र—तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके ।
तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः॥५॥

(शब्दार्थ) तत्=वह ईश्वर। एजति=चलता है। तत्=वह। न=नहीं। एजति=चलता है। तत्=वह। दूरे=दूर है। तत्=वह। उ=शंकार्थक। अन्तिके=निकट है। तत्=वह। अन्तः=भीतर। अस्य=इस। सर्वस्य=सब जगत् के। तत्=वह। उ=शंकार्थक। अस्य=इस। सर्वस्य=सब संसार के बाह्यतः=बाहर है।

(अर्थ) वह परमात्मा जिसको एक वस्तु में देखकर दूसरी बार अन्य वस्तुओं में देखने से मूर्ख मनुष्य चलता हुआ जानते हैं। और विद्वान् मनुष्य उसको सर्वव्यापक समझकर प्रत्येक स्थान पर विद्यमान देखने पर भी चलने से रहित जानते हैं। वह मूर्ख लोगों के विचार से बहुत ही दूर है। क्योंकि मनुष्य उसको संसार के दूर दूर भागों में खोजने जाते हैं। जब वहाँ पर उसका चिन्ह नहीं मिलता तो संसार से बाहर चौथे (चतुर्थ) आकाश सातवें (सप्तम) आकाश, बैकुंठ, गोलोक, कैलाश, क्षीरसागर, तात्पर्य यह है कि बहुत ही दूर बताते हैं। परन्तु विद्वानों और योगी मनुष्यों के विचार में उससे अधिक समीप कोई वस्तु नहीं है। जीव आत्मा के अन्दर बाहर होने से वह बहुत ही समीप है। इसीलिये योगी मनुष्य बाहर से उसके ढूंढने को छोड़कर समाधि के द्वारा अपनी आत्मा के

अन्दर देखते हैं। वह संसार की प्रत्येक वस्तु के अन्दर बाहर विद्यमान है, कोई वस्तु उसको घेर नहीं सकती।

प्रश्न—चलना और न चलना यह परस्पर विरोधी गुण हैं वह एक ब्रह्म में कैसे रह सकते है।

उत्तर—ब्रह्म में चलने का गुण नहीं, किन्तु अज्ञानी मनुष्य ऐसा विचार करते हैं। इसलिए दो विरोधी गुण ब्रह्म में नहीं आते।

प्रश्न—क्या अज्ञानी मनुष्य ही ब्रह्म को हिलनेवाला मानते हैं, हमारी बुद्धि में तो जो मनुष्य ब्रह्म को जगतकर्त्ता मानते हैं उनको ब्रह्म हिलने का गुण मानना पड़ता है।

उत्तर—जगतकर्त्ता होने के लिये ब्रह्म को हिलने की कोई आवश्यकता नहीं, परन्तु वह सर्वव्यापी होने से विना हिले भी सब कार्यों को कर सकता है। यह कहीं नियम नहीं कि किसी कार्य के लिए हिलना आवश्यक हो।

प्रश्न—संसार में कोई कार्य विना हिले बनता हुआ नहीं दिखाई देता। इसलिए हिलने के गुण का होना कार्य बनाने के लिए आवश्यक है।

उत्तर—चुम्बक पत्थर जो लोहे को अपनी ओर खींचता है, क्या चुम्बक को इसके लिए हिलने की आवश्यकता है, कदापि नहीं। जब कि चुम्बक लोहे को विना हिले खींचता हुआ प्रतीत होता है तो ईश्वर में कार्य करने के लिए हिलने के गुण को आवश्यक समझना भारी भूल है।

प्रश्न—ब्रह्म जगत् के भीतर तो हो सकता है जगत् के बाहर ब्रह्म कहाँ रह सकता है। इसलिए यह विचार ठीक नहीं

कि ब्रह्म जगत् के भीतर बाहर विद्यमान है, किन्तु ऐसा मानना चाहिए कि ब्रह्म जगत् में सब स्थानों पर विद्यमान है।

उत्तर—यदि तुम जगत् शब्द के अर्थ को समझते तो तुम्हें इस आक्षेप का अवसर ही न मिलता। क्योंकि जगत् का अर्थ उत्पन्न होनेवाला और नाश होनेवाला है, जिसको विकृति कहते है। संसार में प्रकृति दो प्रकार की हैं, एक प्रकृति दूसरी विकृति। परमात्मा प्रकृति के भीतर व्यापक है और विकृति प्रकृति का एक भाग है, इसलिए परमात्मा जगत् अर्थात् विकृति के भीतर बाहर दोनो ओर व्यापक है।

मंत्र—यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्नेवानुपश्यति ।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते ॥ ६ ॥

(शब्दार्थ) यः=जो। तु=तो। सर्वाणि=सब। भूतानि=प्राणियों को। आत्मनि=अपने में। एव=ही। अनुपश्यति=देखता है। सर्वभूतेषु=सब प्राणियों में। च=और। आत्मानम्=अपने को। ततः=फिर। न=नही। विजुगुप्सते=निन्दित काम करता है।

(अर्थ) जो मनुष्य प्रत्येक जीव के दुःख को अपना दुःख समझकर प्रत्येक जीव में अपना पुण्य अर्थात् आत्मभाव रखता है, या जो मनुष्य प्रत्येक जीवात्मा और पंच भूतों के भीतर विद्यमान देखता है और सर्व संसार को परमात्मा से छोटा होने के कारण परमात्मा के भीतर प्रतीत करता है वह मनुष्य कभी पाप-कर्म नहीं करता। क्योंकि पाप सदा उस अवस्था मे होता है जब कि स्वार्थ से दूसरो के अधिकार

छीनने का विचार लगा होता है। और दूसरों का अधिकार छीनने का साहस तब होता है जब अपने से अधिक बलवती शक्ति दंड देनेवाली न मान ली जाय। क्योंकि जब अपने से अधिक बलवाली शक्ति दंड देनेवाली अनुभूत होती है, तब इस भय से कि अपराध करने के पश्चात् दंड से सुरक्षित रहना बहुत कठिन है और दंड से दुःख होता है और दुःख की इच्छा से कोई कर्म नहीं किया जाता। इसलिए प्रत्येक वस्तु के भीतर परमात्मा को समझनेवाला मनुष्य कभी पाप नहीं कर सकता।

प्रश्न—केवल पाप से बचने के लिए परमात्मा को सर्वव्यापक मानने की कोई आवश्यकता नहीं। क्योंकि यह कार्य केवल राज्य के भय से भी चल सकता है। देखो आजकल अङ्गरेजी राज्य के प्रबन्ध से पापों की कितनी कमी हो गई।

उत्तर—अल्पज्ञ और एक देश में रहनेवाले जीवात्मा के भय से यह कार्य नहीं चल सकता। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण आजकल मिलता है। अङ्गरेज़ी गवर्नमेन्ट के नियमों में रिश्वत लेना अपराध है, परन्तु प्रत्येक न्यायालय के नौकर (....) दोनों हाथों से रिश्वत लेते हैं। पुलिस तो रिश्वत ले, अपराधियों को बचा, निरपराधियों को प्रायः फाँसी तक दिला देती है। जिस गवर्नमेन्ट के भय से उसके नौकर ( ) जिनका सम्बन्ध रात दिन अफ़सरों से पड़ता है भय न खाकर रात दिन पाप करते हैं तो उस गवर्नमेन्ट से डरकर गुप्त प्रकार से पाप करनेवाले किस प्रकार पाप से बच सकते हैं। मनुष्य को पाप से बचानेवाला ईश्वर के ज्ञान को छोड़कर और कोई नहीं है।

प्रश्न—यदि राज्य के भय से पाप दूर नहीं हो सकते, तो वेदों में राज्य के नियम और राज्य की आवश्यकता क्यों बताई है ?

उत्तर—क्योंकि परमात्मा सर्व संसार के भीतर रहकर भी कर्मों का फल दूसरों के द्वारा दिलाता है। इसलिए राज्य-नियम का उपदेश किया गया। राज्य-नियम को कर्मों का फलदाता मानने से ही पाप दूर हो सकते है।

प्रश्न—इसका क्या कारण है कि राज्य के परिश्रम से पाप की जड़ दूर नहीं हो सकती।

उत्तर—राजा अल्पज्ञ अर्थात् स्वल्प ज्ञानवाला होता है और उसकी शक्ति भी अल्पज्ञ और सीमावाले शरीर पर प्रभाव रखती है। मन और आत्मा पर उसका कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता। और राजा के दंड से भी शरीर ही कैद होता है, मन कैद नहीं हो सकता। और पाप की जड़ मन है। इस लिए मन से अधिक सूक्ष्म परमात्मा ही उसको नाश कर सकता है।

प्रश्न—क्या शक्ति सूक्ष्म में ही होती है ? हम तो यह देखते हैं कि जो अधिक स्थूल वस्तु है वह अधिक शक्तिवाली है। और साधारणतः भी स्थूल वस्तु ही बलवाली देखी जाती है।

उत्तर—शक्ति सदा सूक्ष्म वस्तु में रहती है। और जो जिसके भीतर प्रवेश कर सकता है वही उसको ठीक प्रकार से शुद्ध कर सकता है जैसे जल मिट्टी की अपेक्षा सूक्ष्म है वह मिट्टी,

की दीवार को गिरा सकता है । और अग्नि जल को उड़ा सकती है। वायु अग्नि को पृथक् कर सकती है। इस प्रकार परमात्मा जो सब से सूक्ष्म हैं वह मन को शुद्ध कर सकता है। अगले मंत्र में इसका और भी अनुमोदन किया है—

मंत्र—यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः। तत्र को मोहः कः शोकः एकत्वमनुपश्यतः ॥ ७ ॥

(शब्दार्थ) यस्मिन्=जिसमें। सर्वाणि=सब। भूतानि=प्राणियों को। आत्मा=स्वयम्। एव=ही। अभूत=हुआ। विजानतः=जानता हुआ। तत्र=वहाँ। कः=कौन। मोहः=गलती। कः=कौन। शोकः=दुःख। एकत्वम्=एक भाव को। अनुपश्यतः=देखते हुए।

(अर्थ) जिस अवस्था में मनुष्य के मन में यह विचार उत्पन्न हो जाता है कि सब जीवात्मा ही है और उसी आत्मा ने कर्मों का फल भोगने के लिए यह नाना प्रकार के रूपों को धारण किया है। तो उसको अपने और सब पशुओं के मध्य में कोई अन्तर नहीं प्रतीत होता। ऐसे समय न तो उसे कोई भ्रम उत्पन्न होता है और न किसी को मित्र और किसी को शत्रु अनुभव करता है। किन्तु सर्व संसार में एकता को अनुभव करता है।

प्रश्न—क्या सब वस्तुएँ आत्मा से उत्पन्न नहीं हुई। यदि हुई हैं, तो सब आत्मा के गुण विद्यमान होने चाहिए।

उत्तर—उत्पन्न होने से तात्पर्य प्रकट होने से है। इसी प्रकार सब वस्तुएँ आत्मा के प्रकाश से ही प्रकट होती हैं परंतु

वह आत्मा का रूप नहीं हो सकती। जैसे दीपक के प्रकाश से गृह की सब वस्तुएँ प्रकाशित होती है परन्तु वस्तुओं में दीपक के गुण प्रविष्ट नहीं हो जाते।

प्रश्न—यह अवस्था सब को प्राप्त हो सकती है ?

उत्तर—निःसन्देह संसार के प्रत्येक जीव का नियत स्थान यही है जो इसके लिए परिश्रम करता है वही इस अवस्था को प्राप्त कर सकता है। जैसे जो मनुष्य सीधे मार्ग पर चला जाता है वह नियत स्थान पर पहुँच जाता है। परन्तु जो मनुष्य थोड़ी दूर चलकर बैठ जावे या उलटी राह पर चले, तो नियत स्थान पर नहीं पहुँच सकता। इसलिए जो साधनों को ठीक-ठीक करता है वह आत्मा की शान्ति प्राप्त कर सकता है।

प्रश्न—इस नियत स्थान पर जाने के साधन क्या हैं ?

उत्तर—प्रथम साधन ज्ञान है, दूसरे कर्म, तीसरे उपासना। जब तक ठीक-ठीक ज्ञान नहीं, तब तक ठीक-ठीक कर्म नहीं हो सकता और जब तक ठीक-ठीक कर्म न हों, उपासना नहीं हो सकती। और जब तक उपासना न हो, तब तक उसके गुणों को भले प्रकार अपने आत्मा में अनुभव नहीं कर सकते।

प्रश्न—सब मनुष्य कर्म उपासना और ज्ञान बताते हैं अर्थात् कर्म को पहला, उपासना को दूसरा और ज्ञान को अन्तिम साधन बताते हैं। इसलिए तुम्हारा कहना किस प्रकार ठीक माना जाय, क्योंकि सब विद्वानों की सम्मति के विरुद्ध है।

उत्तर—हमारा कहना सब महात्माओं के विरुद्ध नहीं किन्तु वेदों और सृष्टि-नियम के अनुकूल है। जिसके लिए बहुत से प्रमाण हैं। प्रथम ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद से मिलता है, क्योंकि ऋचा ऋग का अर्थ प्रशंसा है, जिससे ज्ञान प्राप्त करके यजुर्वेद के अनुसार कर्म करने का उपदेश मिलता है। और साम के उपासना का ज्ञान होता है। दूसरे तीनों आश्रमों के क्रम से भी ज्ञान होता है। क्योंकि ब्रह्मचर्य आश्रम में शिक्षा के द्वारा ज्ञान और शेष आश्रमो मे कर्म इत्यादि होते है। तीसरे वर्णों के अनुक्रम में भी ब्राह्मण अर्थात् ज्ञान वाले को पहले बताया है। संक्षेपतः जहाँ तक विचार किया जा सकता है यही प्रतीत होता है कि पहले ज्ञान और उसके पश्चात् कर्म और उपासना होनी चाहिए। और जब से ज्ञान को छोड़कर पहले कर्म उपासना का स्थान नियत किया, तब ही से अविद्या का अंधेर फैल गया।

प्रश्न—ज्ञान से पहले कर्म मानने में क्या-क्या दोष हैं?

उत्तर—प्रथम तो प्राकृतिक नियम के विरुद्ध है क्योंकि प्रकृति का नियम है कि मनुष्य आँख से देखकर चलता है न कि चलकर देखता है। दूसरे यदि विना ज्ञान के कर्म को ठीक मान लिया जाय, तो अधर्म और धर्म के कर्मों में पहिचान न होगी। इसलिए ज्ञान के द्वारा धर्म के कर्मों को जानकर उसके अनुसार कार्य करना चाहिए। अब परमात्मा के ज्ञान का उपदेश करते हैं।

मंत्र—स पर्य्यगाच्छुक्रमकायमव्रण मस्ना विरशुद्धम पाप विद्धम। कविर्मनीषी परिभूः

स्वयं भूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वती-
भ्यः समाभ्यः ॥ ८ ॥

(शब्दार्थ) सः=वह ईश्वर । परि=चारों ओर से । अगात=विद्यमान है । शुक्रम्=संसार को उत्पन्न करनेवाला। अकायम्=शरीर रहित । अव्रणम्=व्रणों से रहित । अस्नाविरम्=नस नाड़ियों के बन्धन में न आनेवाला । शुद्धम्=पवित्र। अपाप विद्धम्=पापों से न बँधनेवाला । कविं=ज्ञानी । मनीषी=मन के अन्तर्गत भावों का जाननेवाला। परिभूः=सर्व व्यापक । स्वयंभूः=अजन्मा । याथातथ्यत = ठीक-ठीक । अर्थान्=वस्तुओं को । व्यदधात्=भले प्रकार उपदेश करता है । शाश्वतीभ्यः समाभ्यः=हमेशा रहनेवाले जीवों के लिये ।

(अर्थ) वह परमात्मा जिसकी आज्ञानुसार कर्म करने से मनुष्य दुःख से छूट जाता है । सर्वव्यापी है उसका न कोई एजन्ट है न सांसारिक राजाओं के समान मन्त्री जागीरदार और सैनिक हैं । इन सब की आवश्यकता तो एक देशी और शरीरधारी के लिये होती है, परमात्मा शरीर रहित है और शरीरधारी न होने के कारण परमात्मा घात्र इत्यादि से रहित हैं वह किसी प्रकार भी टूट फूट नहीं सकते, क्योंकि उनके शरीर और नाड़ियों का बन्धन ही नहीं और वह सब प्रकार की अशुद्धताओं से रहित होने के कारण शुद्ध हैं क्योंकि अशुद्धता सदा स्थूल पदार्थों में प्रवेश करती है । परमात्मा सब से अधिक सूक्ष्म हैं । इसलिए वह तीनों काल में शुद्ध हैं और पाप के फल दुःख से भी रहित हैं क्योंकि परमात्मा की

आज्ञा के विरुद्ध चलने का नाम पाप है। वह अपने विरुद्ध कभी नहीं चलते और वह सर्वज्ञ होने से प्रत्येक भेद को जो जीवों की दृष्टि से छिपा हुआ है, जानते हैं। प्रत्येक वस्तु का उन्हें ज्ञान है, प्रत्येक मन के अन्तर्गत भाव उनको ज्ञात हैं, क्योंकि संसार में बिना ज्ञान के कार्य करने से जीवों को हानि पहुँचती है। इसलिए परमात्मा ने प्रत्येक वस्तु का ठीक-ठीक ज्ञान जीवों के सुख और शान्ति के निमित्त उपदेश किया है।

प्रश्न—परमात्मा ने किस प्रकार जीवों को ज्ञान का उपदेश किया है और ज्ञान कौन सा है?

उत्तर—वह ज्ञान वेदों में है जिसको जीव की मुक्ति प्राप्त करने के लिए परमात्मा ने उपदेश किया है।

प्रश्न—निराकार परमात्मा किस प्रकार वेदों की रचना और उसका उपदेश करता है क्योंकि उपदेश करना वाणी से हो सकता है और जिसके वाणी न हो वह किस प्रकार उपदेश कर सकता है। किसी-किसी अवसर पर शरीर की इन्द्रियादि से ही उपदेश किया जा सकता है। परंतु जिसके शरीर न हो, वह किस प्रकार उपदेश कर सकता है। इसलिए निराकार का वेदों के द्वारा उपदेश करना नितान्त असम्भव है।

उत्तर—शरीर और जिह्वा केवल बाहरवालों को उपदेश करने के हेतु आवश्यक हैं, जो हमारे अन्दर है वह हमको बिना शरीर और जिह्वा के उपदेश कर सकता है। जैसे जब किसी मनुष्य का मन बुरे कार्य की ओर जाता है, जो आत्मा उसे भय लज्जा शंका उत्पन्न करा के रोकने का उपदेश करता है। अर्थात् यह विचार उत्पन्न होता है कि सम्भव है कि कोई देख ले, तो क्या होगा और सफलता हो अथवा नहीं। इस प्रकार जो

सब के भीतर विद्यमान है उसको उपदेश के हेतु शरीर की आवश्यकता नहीं।

प्रश्न—निराकार बिना शरीर के जगत् को कैसे बना सकता है, क्योंकि हर एक वस्तु के बनाने के लिए हाथ पाँव की आवश्यकता है। यदि हाथ पाँव और यंत्र न हो, तो यह नाना प्रकार का जगत् किस प्रकार बन सकता है।

उत्तर—हाथ पाँव या यंत्र की आवश्यकता भी एक देशी को होती है। जो सर्वव्यापी हो उसे हाथ पाँव इत्यादि किसी अंग की आवश्यकता नहीं। पेड़ों पर भिन्न-भिन्न प्रकार की चित्र-कारी हाथ पाँव के बिना बन जाती है, फूलों की पखड़ियाँ, फूलों का रूप, मनुष्य का शरीर, संक्षेपतः लाखों वस्तुएँ बिना हाथ पाँव के बनी है, जिससे प्रतीत होता है कि बिना हाथ पाँव के बनना संभव है। केवल एक देशी जीवात्मा को हाथ पाँव की आवश्यकता होती है। सर्वव्यापी परमात्मा को बनाने के लिए हाथ पाँव इत्यादि किसी यंत्र की आवश्यकता नहीं। किन्तु हाथ पाँव वाला सब कामो को नही कर सकता, क्योंकि कोई ऐसा मनुष्य प्रतीत नही होता जो परमाण को पकड़ सके और न इस समय तक कोई ऐसा यंत्र विद्यमान है जिसके द्वारा परमाणु को पकड़ सक। परन्तु परमाणु के देखने-योग्य भी कोई खुर्दबीन इस समय तक नहीं बनी। जिस से प्रतीत होता है कि सृष्टिकर्त्ता वही हो सकता है कि जिसके हाथ पैर व शरीर न हो किन्तु वह परमाणु से अधिक सूक्ष्म और सर्वव्यापी हो।

मंत्र—अन्धन्तमः प्रविशन्ति येऽविद्या मुपासते।
ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायाꣳरताः ॥९॥

(शब्दार्थ) अन्धम्=घोर। तमः=अन्धकार में। प्रविशन्ति=प्रवेश करते हैं। ये=जो लोग। अविद्याम्=अविद्या की। उपासते=उपासना करते हैं। ततः=उससे। भूयः=ज्यादह। इव=समानता सूचक अव्यय। ते=वे। तमः=अन्धकार को। ये=जो। उ=शंकावाचक अव्यय। अविद्याम्=अविद्या में। रताः=लगे हुए हैं।

प्रश्न—जो मनुष्य अज्ञानी हैं वह तो अज्ञान के कारण जीवात्मा के प्राकृतिक ज्ञान के विरुद्ध हैं, वे गिरी हुई अवस्था को प्राप्त हों यह तो ठीक है। परन्तु विद्या में लगे हुए मनुष्य उससे नीची अर्थात् गिरी हुई अवस्था को प्राप्त करें यह नितान्त अंधेर नगरी है।

उत्तर—पहले इस बात को सोचना चाहिए कि गिरी हुई अवस्था क्या है? जहाँ तक अन्वेषण से पता लगा है तो यही प्रतीत होता है कि जितना अधिक दुःख होगा वही गिरी हुई अवस्था होगी। अब प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि दुःख क्या वस्तु है? तो उत्तर यह मिलता है कि स्वाधीनता का न होना या आवश्यकता का होना और उसके दूर करने की सामिग्री का न होना ही दुःख है। अब जितनी आवश्यकता बढ़ती जायगी यदि उसके पूरा करने की सामिग्री उपस्थित होगी, तो सुख होगा और यदि पूरा करने की सामिग्री न होगी तो भारी दुःख होगा। क्योंकि अज्ञानी मनुष्य आवश्यकता रखते हैं, परन्तु पूरा करने की सामिग्री नहीं रखते; इसलिए उनको दुःख होता है। परन्तु जो मनुष्य प्राकृत-विद्या उपार्जन करते हैं उनकी आवश्यकताएँ बहुत ही बढ़ जाती हैं। इसलिए न तो वह कभी पूरी हो सकती हैं और न उनका दुःख दूर हो सकता है। यदि इसकी तुलना करें कि अज्ञानी अधिक दुखी होते हैं या

प्राकृत-विद्या के विद्वान्? तो किसी गॉव के निवासी और किसी नगर के निवासी के जीवन से परिणाम निकल आएगा। गॉव का निवासी स्वस्थ और नगर का निवासी रोग-ग्रस्त होगा। और गाँववाला जिस निश्चिन्तता से खेत में सोता है नगरवालो को वह निद्रा कभी स्वप्न मे भी प्राप्त नही होती।

प्रश्न—सब मनुष्य तो अविद्या का अर्थ कर्मकाण्ड और विद्या का अर्थ ज्ञान-काण्ड लेते है। तुमने यह मनमाने अर्थ कहाँ से निकाल लिए? क्योंकि विद्या का अर्थ प्राकृत-विद्या करना किसी प्रकार ठीक नही हो सकता।

उत्तर—जिन मनुष्यो ने स्वय कुछ नही विचारा केवल वेदान्तियो के अर्थों को लेकर कर्मकाण्ड को अविद्या बता दिया और संसार से विरक्त, सांसारिक कर्मों को छोड़, समाधि करनेवालो को विद्या के उपासक दुःख अविद्या के उपासको से भी नीचे गिरा दिया यह उनके विचार का फल है। संसार में विद्या तीन प्रकार की होती हैं—अविद्या, विद्या, सत् विद्या। मिथ्या ज्ञान, व्यावहारिक ज्ञान और पारमार्थिक ज्ञान, इसके अनुसार मनुष्य भी तीन प्रकार के होते हैं—पामर, विषयी, मुमुक्षु। अविद्या की उपासना करनेवाले पामर और विद्या की उपासना करनेवाले विषयी और सत् विद्या की उपासना करनेवाले मुमुक्षु कहलाते हैं। और परमात्मा ने इस वेद-मन्त्र के द्वारा बताया है कि ऋषि लोग जो अपने आप को पामरो से अच्छा समझते हैं, यह उनका प्रमाद है। यदि वह विद्या से बढ़कर सत् विद्या को न प्राप्त करेंगे, तो उनको अविद्या के उपासकों से अधिक दुःख होगा।

मंत्र—अन्यदेवाहुर्विद्याया अन्यदाहुरऽविद्यायाः।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे ॥१०॥

(शब्दार्थ) अन्यत्=और । एव=ही । आहुः=बताते है । विद्यायाः=विद्या से । अन्यत्=और । आहुः=बताते है । अविद्यायाः=अविद्या से । इति=यह । शुश्रुम=सुनते है । धीराणाम्=धीरो से । ये=जो । नः=हमारे लिये । तत्= उसे । विचचक्षिरे=उपदेश करते है ।

(अर्थ) सर्व साधारण मनुष्य अविद्या की उपासना अर्थात् अज्ञानता का और ही परिणाम बताते है और प्रकृति विद्या अर्थात् व्यावहारिक ज्ञान का और ही फल बताते है अर्थात् जो काम पामर मनुष्य करते है उनके परिणाम और होते है और जो कर्म मनुष्य करते हैं, उनका फल दूसरा होता हैं । इस प्रकार हम सब अपने पुरुषाओ से उपदेश लेकर जानते चले आए हैं । इस मंत्र का अर्थ यह है कि प्रत्येक उपदेष्टा का कर्तव्य है कि वह अपने शिष्यों को विद्या अविद्या और सत् विद्या का पृथक्-पृथक् फल बता दे, जिससे शिष्य धोके से दुःख न उठाएँ ।

मंत्र—विद्याञ्चाविद्याञ्च यस्तद्वेदोभयꣳ सह ।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्यया ऽमृतमश्नुते ॥११॥

(शब्दार्थ) विद्याम्=विद्या को । च=और । अविद्याम्= अविद्या को । यः=जो । तत्=वह । वेद=जानता है । उभयम्= दोनों को । सह=साथ । अविद्यायां=अविद्या से । मृत्युम्= मौत को । तीर्त्वा=पार करके । विद्यया=विद्या से । अमृतम्= मोक्ष को । अश्नुते=प्राप्त होता है ।

(अर्थ) जो मनुष्य विद्या अर्थात् व्यावहारिक ज्ञान या अनुभव विद्या को और अविद्या अर्थात् मिथ्या ज्ञान अर्थात् विपरीत ज्ञान को एक साथ अर्थात् दोनों को समान समझते

हैं। अर्थात् जिस प्रकार अविद्या दुःख का कारण है उसी प्रकार अनुभविक विद्या भी दुःख का कारण है। यह जानते हैं वह अविद्या के त्याग देने से मृत्यु अर्थात् अज्ञान से बच जाते हैं और अनुभव विद्या के त्याग देने से इन्द्रियों के विकारों से पृथक् होकर समाधि या मुक्ति-रूप अमृत का प्राप्त करते है।

प्रश्न—अविद्या के छोड़ने को मृत्यु से तरना क्यों कहा?

उत्तर—क्योंकि जीवन के विरुद्ध अवस्था का नाम मृत्यु है और जीवात्मा चैतन्य अर्थात् ज्ञानवाला और कर्म करने में स्वतंत्र है। जब अविद्या के कारण जीव का ज्ञान दब जाता है और वह अपने आप को स्वतन्त्रता के स्थान में प्रत्येक वस्तु को अधीन अनुभव करता है, तो उसको वह अवस्था मृत्यु प्रतीत होती है। और मृत्यु भी उसी दशा का नाम है जब जीव कर्म करने में असमर्थ हो जाता है। बस जब जीव अविद्या से पृथक् हो जाता है, तो वह किसी के अधीन नहीं रहता, इस कारण वह मृत्यु से छूट जाता है।

प्रश्न—विद्या से छूटने का उपदेश क्यों किया है?

उत्तर—विद्या या व्यावहारिक ज्ञान तभी तक रहता है जब तक इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयों के भोगने का कर्म करती हैं। और जब तक इन्द्रियाँ विषयों में फँसी है तब तक मुक्ति हो ही नहीं सकती। इस कारण बिना विद्या के छूटे मुक्ति का आनन्द मिलना असम्भव है।

प्रश्न—यदि हम विद्या का अर्थ व्यावहारिक ज्ञान न लें तो बिना विद्या के मुक्ति किस प्रकार प्राप्त होगी? इस दशा में विद्या अविद्या को एक मानना नितान्त अनुचित होगा।

उत्तर—विद्या का कोई अर्थ न लिया जावे तो भी विद्या को पृथक् करने से ही मुक्ति होगी। जिस प्रकार एक मनुष्य नदी

के पार जाना चाहता है, तो नदी से पार जाने का साधन नाव होती है। परन्तु जब तक मनुष्य नाव में बैठा है तब तक नदी के बीच में है, पार नहीं। और जिस समय नाव को भी छोड़ देगा तब पार होगा। इस प्रकार विद्या भी मुक्ति का साधन है, परन्तु जब तक इस साधन से पृथक् न हो जावें, तब तक मुक्ति-सुख का मिलना असम्भव है। इसी प्रकार विद्या और अविद्या दोनों प्रकार के ज्ञान से पृथक् होने पर मुक्ति मिलती है। इस कारण मोक्ष के चाहनेवालों को संसार के प्रत्येक पदार्थ को त्याज्य समझना चाहिए। किसी वस्तु मे आत्मा को फँसाना नहीं चाहिए।

मंत्र—अन्धन्तमः प्रविशन्ति येऽसम्भूति मुपासते।
ततो भूय इव ते तमो य उ सम्भूत्याꣳरताः॥ १२

(शब्दार्थ) अन्धम्=घोर। तमः=अंधकार मे। प्रविशन्ति=प्रवेश करते है। ये=जो। असम्भूतिम्=अनादि प्रकृति को। उपासते=उपासना करते ह। ततः=उनसे। भूयइव=ज्यादह। ते=वे। तम=अन्धकार में प्रवेश करते हैं। ये=जो। उ=शंका मे। सम्भूत्याम्=प्रकृति जन्य कार्यों में। रताः=लगे हुये है।

(अर्थ) जो मनुष्य अज्ञानता से कारण रूप को ईश्वर समझ कर उसकी उपासना से सुख की इच्छा करते है, वह बहुत ही अज्ञान के अंधकार में फँसकर अपने आप को दुखी देखते हैं। यद्यपि दुख सुख जीवात्मा का धर्म नहीं, किन्तु मन का धर्म्म है। परन्तु अज्ञानी मनुष्य जिनकी बुद्धि प्रकृति की उपासना से बिगड़ जाती है, वह मन के धर्म्म अपने मे अनुभव करते है। अर्थात् प्रकृति के उपासक इतने अज्ञानी हो

जाते है कि उनको अपना ज्ञान भी नही रहता। और वे मनुष्य जो प्रकृति को ईश्वर समझ कर उसकी उपासना से सुख की इच्छा करते है वह उनसे अधिक बुरी अवस्था में पहुँच जाते हैं।

प्रश्न—कारण प्रकृति के उपासक कौन मनुष्य हैं?

उत्तर—जितने नास्तिक मनुष्य जो केवल प्रकृति से जगत् की उत्पत्ति मानते है वह सब प्रकृति के उपासक हैं, उनको सांसारिक विषय-भोग के अतिरिक्त कोई काम अच्छा नहीं प्रतीत होता। वह आत्मा को प्रकृति के एक विशेष विधान का प्रभाव रूप समझते हैं। मानो उनको अपनी सत्ता का भी ज्ञान नही रहता।

प्रश्न—कार्य प्रकृति के उपासक कौन मनुष्य हैं?

उत्तर—मूर्ति-पूजक, धन पूजक इत्यादि जितने मनुष्य हैं वह सांसारिक वस्तुओं से सुख की इच्छा करते हैं, वह सब कार्य प्रकृति के उपासक हैं।

प्रश्न—न तो मूर्ति-पूजक ही मूर्ति को ईश्वर मानते हैं और न धन-पूजक ही धन को ईश्वर मानते हैं। इस कारण यह प्रकृति को ईश्वर माननेवाले नहीं हैं।

उत्तर—जो मनुष्य ईश्वर की उपासना करते है वह किस कारण करते हैं, केवल आनन्द अर्थात् सुख की इच्छा से। क्योंकि प्रकृति सत् है, जीवात्मा सत्चित है, परमात्मा सत्चित आनन्द है। क्योंकि जीव में आनन्द का अभाव है और उसे आनन्द की इच्छा भी है, इस कारण वह आनन्द स्वरूप परमात्मा की उपासना रुचि से करता है। अब जो मनुष्य प्रकृति से उत्पन्न हुए जन्य-द्रव्यों को सुख का साधन समझते हैं, वह वास्तव में धन को परमेश्वर समझते हैं। क्योंकि

विना सुख की इच्छा के मनुष्य किसी वस्तु की उपासना नहीं कर सकता। और जिसकी उपासना सुख के लिए की जाय वही परमेश्वर है।

मंत्र—अन्यदेवाहुः सम्भवादन्य दाहुर सम्भवात्।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे ॥११॥

(शब्दार्थ) अन्यत्=और। एव=वही फल। आहु=बताते हैं। सम्भवात्=कार्य जगत् से। अन्यत्=और ही। आहु=बताते हैं। असम्भवात्=प्रकृति से। इति=यह। शुश्रुम=सुनते हैं। धीराणाम्=धीर पुरुषों से। ये=जो। नः=हमारे लिये। तत्=उसे। विचचक्षिरे=विचार कर निर्णय कर गये है।

(अर्थ) जो मनुष्य कार्य जगत् की उपासना करते हैं उनको दुःख से मिला हुआ क्षणिक सुख कभी-कभी मिलता है, और दुख तो सदैव बना रहता है। और मन्द बुद्धि होकर जन्म मरण के बन्धन रूप संसार-सागर में डुबकियाँ खाता रहता है। ऐसा विद्वान् लोग कहते हैं। और जो जड़ रूप कारण की उपासना करता है वह प्रकृति में लीन हो जाता है, ऐसा विद्वानो से हम सुनते आए है। तात्पर्य यह कि प्रत्येक मुक्ति के चाहनेवाले का कर्तव्य है कि विद्वानों से कार्य जगत् और कारण की उपासना के परिणामों को पृथक् पृथक् ज्ञात करने का परिश्रम करें। और विद्वान् मनुष्य उनको यथार्थ ज्ञान उत्पन्न करावे, जिससे वे मुक्ति के मार्ग को अनुभव करके उस पर चल सके।

मंत्र—सम्भूतिं च विनाशं च यस्तद्वेदोभयथ्ं सह।
विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा सम्भूत्याऽमृतमश्नुते १४॥

(शब्दार्थ) सम्भूतिम्=कार्य जगत् को। च=और। विनाशम्=सूक्ष्म कारण जगत् को। य=जो। तत्=इन। उभयम्=दोनों को। वेद=जानना है। सह=साथ। विनाशेन=सूक्ष्म कारण जगत् से। मृत्युम्=मौत को। तीर्त्वा=तर के। सम्भूत्या=कार्य जगत् से। अमृतम्=मोक्ष को। अश्नुते प्राप्त होता है।

(अर्थ) पिछले मन्त्र में यह बतलाया गया है कि कार्य जगत् की उपासना से यह फल होता है और कारण की उपासना से यह फल होता है। और यह प्रकट हो गया कि दोनों प्रकार की उपासना से मुक्ति नहीं हो सकती। क्योंकि जीव को जिस आनन्द की आवश्यकता है, कार्य कारण रूप प्रकृति उससे रहित है। जिस वस्तु मे जो गुण नही है, उसकी उपासना से वह गुण किस प्रकार प्राप्त हो सकता है। जैसे यदि किसी मनुष्य को गर्मी ने सताया हो और वह उससे बचने के लिये अग्नि की उपासना करे अर्थात् अग्नि के निकट बैठे तो उसकी उष्णता बढ़ जायगी, किसी प्रकार कम नही होगी। क्योंकि जीव को अल्पज्ञता के कारण दुःख होता है और वह उससे छूटने के लिये अज्ञानी प्रकृति की उपसना करेगा, तो उसका ज्ञान बढ़ने के स्थान मे कम होकर और भी दुःख को बढ़ा देगा। इस कारण प्रकृति की उपासना से मुक्ति का निषेध करके अब मुक्ति का कारण बताते हैं। अर्थात् जो मनुष्य मरण के नियमों और उनके कारणो को यथार्थ प्रकार से साथ-साथ जानता है अर्थात् इस बात को समझता है कि जन्म-मरण शरीर की दशाएँ हैं, जो उत्पन्न होता है उसका नाश होना आवश्यक है, इसलिये शरीर की इच्छाओं को अपने से पृथक् समझता है। वह जन्म-मरण के बन्धन के दुःख से छूटकर

शरीर की विद्यमानता में ही मुक्ति की दशा को पहुँच जाता है। अर्थात् इस शरीर मे रहते हुए मुक्ति सुख को भोगता है मानो यह मन्त्र बताता है कि मृत्यु के पश्चात् ही मुक्ति नही होती, जिससे नास्तिकों को मुक्ति की सत्ता से इनकार करने का अवसर मिल सके। परन्तु परमात्मा ने ऐसे नियम बना दिये हैं कि जिससे मनुष्य-जीवन मे ही मुक्ति होकर मुक्ति में दूसरों की श्रद्धा उत्पन्न कराने का कारण हो सके। और प्रत्येक मनुष्य को यह विचार रखना चाहिये कि जिसकी जीवन मे मुक्ति न हो जावे, तो मृत्यु के पश्चात् भी उसकी मुक्ति किसी प्रकार नहीं हो सकती।

मंत्र—हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।
तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये ॥ १५ ॥

(शब्दार्थ) हिरण्मयेन=चमकीले। पात्रेण=वर्तन या ढक्कन से। सत्यस्य सत्य=का। अपिहितम्=ढका हुआ है। मुखम्=मुख। तत्=उसे। त्वम्=तू। पूषन्=उन्नति चाहने वाले जीव। अपावृणु=खाल। सत्यधर्माय=सत्य धर्म के। दृष्टये=दिखाने के लिये।

(अर्थ) चमकीली वस्तुओ की इच्छा के ढकने से सत्यता का सुख ढका हुआ है। यदि तुम अपनी उन्नति की इच्छा रखते हो तो जब तक सत्य का ज्ञान न हो जाय तब तक सत्यता पर आचरण नहीं हो सकता। और जब तक आचरण न हो तब तक उन्नति नहीं हो सकती। इस ढकने को उठा दो अर्थात् चमकीली वस्तुओं की इच्छा को छोड़ दो। इस मन्त्र का तात्पर्य यह है कि जिस मनुष्य के हृदय में चमकीली वस्तुओं की इच्छा हो वह कभी सत्यता से जीवन नही व्यतीत कर

सकता। चमकीली वस्तुओं में लोभ और काम होता है और लोभी और कामी पुरुष किसी दशा में विश्वासनीय नहीं हो सकता। आजकल जितनी बुराई दृष्टिगोचर होती हैं, वह सब इन्हीं चमकीली वस्तुओं के कारण हैं यदि। कोई न्यायालय में मिथ्या बोलता है, तो चमकीली वस्तुओं के लोभ से। यदि कोई झूठी बही या दस्तावेज बनाता है, तो चमकीली वस्तुओं की इच्छा से। यदि चोर चोरी करता या डाकू डाका मारता है, तो चमकीली वस्तुओं की इच्छा से। संक्षेपतः जितनी बुराइयाँ संसार में फैली हुई है सबका कारण चमकीली वस्तुओं की इच्छा है। यदि संसार से यह इच्छा उठ जाय, तो प्रत्येक मनुष्य सत्यता पर आचरण करने लग जाय। संक्षेपतः मनुष्य को मोक्ष से दूर रखने वाली और दिन रात दुःख समुद्र में डुबानेवाला केवल यही चांडालिनी इच्छा है। और जब तक मनुष्य इस इच्छा से पृथक् नहीं हो जाता, तब तक दुःखों से छूटना और उन्नति करना असम्भव है।

मंत्र—पूषन्नेकर्षे यम सूर्य प्राजापत्य व्यूह रश्मीन् समूह। तेजो यत्ते रूपकल्याणतमन्तत्ते पश्यामि योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि ॥१६॥

(शब्दार्थ) पूषन—उन्नति करनेवाला। एकर्षे=वेदज्ञ। यम=न्यायकारी। सूर्य=अन्तर्यामी प्रकाशक। प्राजापत्या=संसार-रक्षक। व्यूह=हम से दूर कर। रश्मीन्=किरणें। समूह=कुल। तेजः=तेज। यत्=जो। ते=तेरा। कल्याण-तम्=कल्याण देनेवाला। तत्=वह। ते=तेरा। पश्यामि=देखता हूँ। यः=जो। सः=वह। असौ=यह। पुरुष=

व्यापक जीवात्मा या परमात्मा। सः=वह। अहम्=मैं। अस्मि=हूँ।

(अर्थ) हे वेद के जाननेवालों में सब से श्रेष्ठ परमात्मन्! आप सब के अन्तर्यामी और प्रेरणा करनेवाले और सूर्य के समान प्रकाशवाले, आप सब दुखों से मुझे पृथक् करके सुख का रास्ता दिखानेवाले, अपने तेज को हम पर फैलाइए। और जो आपका सब से अधिक कल्याण करनेवाला स्वरूप है, जिससे प्राणियों को ऐसा आनन्द मिलता है कि उससे बढ़कर या उसके तुल्य आनन्द कहीं नहीं मिलता। हम समाधि के द्वारा उस आनन्द को देख सकें, ऐसी विद्या हमें दान कीजिए जिससे हमको प्रकट हो जाय कि हम पुरुष अर्थात् विकारों से रहित हैं और इस शरीर के विकारों से मेरा कोई सम्बन्ध नहीं।

मंत्र--वायुरनिलममृतमथेदं भस्मान्तꣳ शरीरम्।

ओम् क्रतो स्मर क्लिबे स्मर कृतꣳ स्मर ॥१७

(शब्दार्थ) वायुः=हवा। अनिलम्=आप से मिली हुई शक्ति। अमृतम्=मरने से रहित। अथ=बाद। इदम्=यह। भस्मान्तम्=जिसके अन्त में भस्म ही शेष रही ऐसा। शरीरम्=शरीर है। ओ३म्=ईश्वर। क्रतो=संकल्प करनेवाले। स्मर=याद कर। कृतम्=किये हुए कर्मों को। स्मर=याद कर। (शेष पदों का अर्थ इसी प्रकार)

(अर्थ) वायु और अग्नि से मिली हुई शक्ति अर्थात् प्राण और मृत्यु से रहित अर्थात् जीवात्मा के निकल जाने के पश्चात् यह शरीर भस्म हो जाने वाला है। जब तक इसमें प्राण हैं, तभी तक भूख प्यास और प्रत्येक प्रकार की चेष्टायें होती हैं। और जब तक इसके भीतर जीवात्मा रहता है, तभी

तक ज्ञान रहता है और जब प्राण और जीवात्मा निकल गए तब यह शरीर किसी कार्य के योग्य नही रहता। और वह सम्बन्धी जो पहले इसकी रक्षा के निमित्त हजारों प्रकार का परिश्रम करने के लिए उद्यत रहते थे जो छोटी सी खराबी को भी न देख सकते थे, जहाँ कुछ भी मिट्टी लग जाती थी वहाँ धोने पोंछने का प्रबन्ध करते थे। जब प्राण और जीव निकल गया तो वह स्वयं अपने हाथों से लकड़ी लगाकर उसमें आग डाल इस शरीर को भस्म कर देते हैं। इस कारण हे कर्म करनेवाले मनुष्य ! तू ओ३म् नामी परमात्मा को स्मरण कर, जिससे तेरी ज्ञान-शक्ति बढ़कर तुझको मोक्ष के रास्ते का अधिकारी बना सके। और तुम आत्मिक बल के हेतु बल देनेवाले को याद करो और अपने किए हुए पुराने कर्मों को याद करो, जिससे तुम्हें दुःखों से छूटने का मार्ग मिल सके। तात्पर्य यह है कि इस शरीर को नाश होनेवाला समझ कर आत्मिक बल देनेवाले परमात्मा की उपासना करनी चाहिए। जिससे मनुष्य का आत्मा बल पाकर संसार की कुरीतियों और इन्द्रियों की इच्छा का सामना करती हुई नियत स्थान पर पहुँच सके।

मन्त्र—अग्ने नय सुपथा राये अस्मान् विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्। युयोध्यस्मज्जु-हुराणमेनो भूयिष्ठान्ते नम उक्तिं विधेम॥१८॥

(शब्दार्थ) अग्ने=प्रकाश स्वरूप परमेश्वर। नय=ले चल। सुपथा=अच्छे रास्ते से। राये=ऐश्वर्य या कल्याण के लिए। अस्मान्=हमें। विश्वानि=सब। देव=दिव्य गुण युक्त। वयुनानि=कर्मों को। विद्वान्=जाननेवाला।

युयोधि = दूर कर। अस्मत् = हम से। जुहुराणम् = बुरे और अधर्म के कार्य। एनः = पापों को। भूयिष्ठाम् = बहुत। ते = तेरी। नम-उक्तिम् = नमस्कार की वाणियों को। विधेम = कहते हैं।

(अर्थ) हे प्रकाश-स्वरूप परमात्मन्! आप हमको मोक्ष के रास्ते पर चलाइए। हे हमारे कर्मों के जाननेवाले, सर्व जगत् में व्यापक परमात्मन्! आप हमें कुटिल अर्थात् बुरे कर्मों से पृथक् कीजिये। हम बारम्बार आप से नम्र होकर प्रार्थना करते हैं कि हमारे हृदयों को पापों से हटाकर मोक्ष मार्ग पर चलाइए। इसका तात्पर्य यह है कि परमात्मा की सहायता के बिना कोई मनुष्य आत्मिक, लाभदायक और निषिद्ध बातों का ठीक-ठीक ज्ञान नहीं रखता। और जिसको ज्ञान न हो, वह उसे पूरा किस प्रकार कर सकता है। इसलिए मोक्ष के निमित्त परमात्मा से प्रार्थना करनी चाहिए कि हमको सत् असत् का विचार करनेवाली बुद्धि का दान दें। जिससे हम बुरी बातों को अपनी आत्मा के लिए निषिद्ध समझ कर छोड़ सकें और शुभ बातों को (जो मुक्ति के लिए आवश्यक हैं) ज्ञान प्राप्त कराएँ, जिससे हम उनको कार्य-रूप में लाकर अपनी आत्मा की शान्ति की सीढ़ी पर पहुँच सकें।

ओ३म्

शान्ति शान्ति शान्ति।



❀ ओ३म् ❀

केनोपनिषद्

का

हिन्दी अनुवाद



इस उपनिषद् में इस बात का वर्णन है कि मन, इन्द्रिय और प्राणों को चलानेवाला और संसार को नियम से चलानेवाला कौन है? इस कारण यह उपदेश मनुष्य के मिथ्या ज्ञान को दूर करने में बड़ा लाभदायक है और इसी विचार से हिन्दी में अनुवाद करना आवश्यक समझा गया, कि जिससे हिन्दी जाननेवाले वैदिक शिक्षा को जान सकें। यहाँ अधिक लिखने की आवश्यकता नहीं, बुद्धिमान् मनुष्य स्वयं विचार कर देखेंगे। इसमें प्रश्न और उत्तर हैं।

प्रश्न—केनेषितं पतति प्रेषितं मनः केन प्राणः प्रथमः प्रैति युक्तः। केनेषितां वाचमिमां वदन्ति चक्षुः श्रोत्रं क उ देवो युनक्ति ॥ १ ॥

(शब्दार्थ) केन=किससे । ईषितम्=अभीष्ट वस्तु मे। पतति=गिरता है । प्रेषितम्=प्रेरणा किया । मनः=मन । केन= किससे । प्राणः=श्वास । प्रथमः=अपने स्थानो में व्याप्त। प्रैति=प्रतिक्षण अपना कार्य करता है । युक्तः=अपने कार्य्य मे लगा हुआ । केन=किससे । ईषिताम्=अभीष्ट वस्तुओ मे। वाचम्=वाणी को। इमाम्=इसे । वदन्ति=कहते है । चक्षुः= आँख अर्थात् रूप को। श्रोत्रम्=कान को । कः उ=मौन । देव = देवता। युनक्ति=युक्त करता अर्थात् काम मे लगाता है ।

(अर्थ) शिष्य अपने गुरु से प्रश्न करता है कि हे गुरु! किसके चलाने से मन अपनी आवश्यक और मनमोहक वस्तुओं की ओर जाता है। और किसकी शक्ति से यह प्राण सर्व शरीर को चलाते और प्रत्येक स्थान पर अपना कार्य करते हैं। किसकी शक्ति से यह जिह्वा इन शब्दों को कह रही है और आँख, नाक, इत्यादि इन्द्रियों को अपने-अपने कार्य में कौन लगाता है। क्या कारण है कि आँख से रूप का ही ज्ञान होता है, शब्द का नहीं। क्या कारण है कि जिह्वा शब्दों को बोल सकती है और कोई दूसरी इन्द्रिय शब्दों को बोल नहीं सकती। यद्यपि इन्द्रियों को कार्य में लगानेवाला जीवात्मा है। परन्तु यह नियम किसने बाँधा है कि इस इन्द्रिय से यह काम होगा दूसरा नहीं होगा। क्योंकि अन्धे का आत्मा भी चाहता है कि रूप देख ले, उसे किसी इन्द्रिय से रूप का ज्ञान होजावे, परन्तु ऐसा होना असम्भव है। इस कारण जीवात्मा अपने कर्त्तव्य से उस कार्य्य को नहीं कर सकता जिससे जीवात्मा का प्रत्येक कार्य्य में स्वाधीन होना प्रमाणित नहीं होता। परन्तु वह वही कार्य कर सकता है जो उस नियम बनानेवाले के नियम के अनुसार हो । उसके लिए परिश्रम करने से वह

सफल होता है और इन नियमों के विरुद्ध चलने में मनुष्य सफल मनोरथ नहीं होता।

उत्तर–श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो मनो यद्वाचो ह वाचं स उ प्राणस्य प्राणः। चक्षुषश्चक्षुरतिमुच्य धीराः प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति ॥ २ ॥

(शब्दार्थ) श्रोत्रस्य=कान का। श्रोत्रम्=कान। मनसः=मन का। मनः=मन। यत्=जो। वाचः=वाणी का। ह=यह प्रसिद्ध है। वाचम्=वाणी। स. उ=वह। प्राणस्य=प्राणों का। प्राणः=प्राण। चक्षुष=आँखों का। चक्षुः=आँख। अतिमुच्य=छोड़ कर। धीराः=धीर पुरुष। प्रेत्य=मर कर। अस्मात्=इस। लोकात्=लोक से। अमृताः=जन्म मरण रहित। भवन्ति=हो जाते हैं।

(अर्थ) जो अटल और सूक्ष्म शक्ति सारे संसार को चलाने वाली है, वह कान इन्द्रिय जो सूक्ष्म है। उससे भी सूक्ष्म और उसके भी कान है अर्थात् कान उसकी शक्ति से सुनता है। कान का कान कहने का तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार कान इन्द्रिय के बिना शरीर सुन नहीं सकता, उसी प्रकार परमात्मा की सहायता के बिना कान भी सुन नहीं सकते। जिस प्रकार इन्द्रियाँ बिना मन के अपने विषयों का ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकती इसी प्रकार परमात्मा की सहायता के बिना मन भी अपना कार्य नहीं कर सकता। इस कारण वह मन का भी मन है। जिस प्रकार गूंगा मनुष्य जिह्वा के बिना अपने भीतरी विचार प्रकट नहीं कर सकता। इसी प्रकार जिह्वा वाला मनुष्य भी परमात्मा की सहायता के बिना अपने विचारों को प्रकट

नहीं कर सकता। इस कारण वह जिह्वा की भी जिह्वा है। जिस प्रकार प्राणों के विना कोई शरीर हिल नहीं सकता, ऐसे ही परमात्मा की सहायता के विना प्राण भी हिल नही सकते। इस कारण वह प्राणो का प्राण है। जिस प्रकार ऑख के विना कोई मनुष्य देख नही सकता, ऐसे ही परमात्मा की सहायता के विना ऑख भी देख नही सकती। इस कारण प्रत्येक इंद्रिय अपने कर्मों में परमात्मा की सहायता के अधीन है, विना परमात्मा की सहायता के कोई इन्द्रिय कार्य नहीं कर सकती।

प्रश्न यदि प्रत्येक इंद्रिय परमात्मा की सहायता से कार्य करती है, उसकी सहायता के विना नहीं कर सकती, तो जीवात्मा अपने कर्मों मे वाध्य हुआ। फिर वह कर्मों का उत्तर दाता किस प्रकार हो सकता है? क्योंकि यदि इंद्रिय अपनी इच्छा से कार्य कर सकती, तो वह उत्तरदाता होता। क्योंकि स्वतन्त्र ही अपने कर्मों का उत्तरदाता हो सकता है।

उत्तर जीवात्मा कार्य करने में स्वतन्त्र है। जिस प्रकार सूर्य के प्रकाश से मनुष्य पाप या शुभ कर्म कर सकता है, विना प्रकाश के उन कार्यों को नही कर सकता। परन्तु तो भी उस मनुष्य के कर्मों का उत्तरदाता सूर्य नहीं, क्योंकि वह उसको करने पर वाध्य नही करता।

प्रश्न—जबकि इन्द्रियॉ स्वयं सदा कार्य करती हुई दृष्टिगोचर होती हैं तो ईश्वर की सहायता यों ही मानी हुई है, क्योंकि उसके लिये कोई प्रमाण नही मिल सकता?

उत्तर—जीव की प्रत्येक इंद्रियॉ बाह्य वस्तुओं की अपेक्षा रखती है, ऑख प्रकाश की, कान आकाश की, त्वचा (खाल) वायु की, जिह्वा जल की और नासिका पृथ्वी की सहायता चाहते है। और यह सब वस्तुएँ अपने कर्म तभी कर सकती हैं,

जब एकत्रित हों। एकत्रित होना इन वस्तुओं का अपने अधिकार में नहीं, क्योंकि प्रकृति मे चेतनता नहीं। इस कारण प्रत्येक इन्द्रिय परमात्मा की सहायता के विना कोई कार्य नही कर सकती। सूर्य, चन्द्रमा, पृथ्वी इत्यादि में जो कुछ शक्ति है वह सब परमात्मा की दी हुई है।

प्रश्न — जब कि विना इन्द्रियों की सहायता के जीवात्मा कुछ नहीं कर सकता और बाह्य वस्तुओं की सहायता विना इन्द्रियाँ कुछ नही कर सकती। और बाह्य वस्तुओं का बनाने वाला परमात्मा है, तो जितने पाप होते है उनका वास्तविक कर्ता परमात्मा है। न जगत् की रचना न इन्द्रियों की सहायता मिलती और न पाप करते। भला दयालु परमात्मा को क्या आवश्यकता पड़ी थी कि उसने इतना आडम्बर किया।

उत्तर—क्योंकि ईश्वर जीवों की मुक्ति के आनन्द के लिए और कर्मों का फल देने के लिये सृष्टि को रचता है। यदि सृष्टि का क्रम से आरम्भ होता तो आक्षेपक का आक्षेप उचित हो सकता था। परन्तु परमात्मा क्रमशः सृष्टि को उत्पन्न और नाश करता है। इस कारण सृष्टि क्रम का आरम्भ न होने से और जीव को कर्म करने में नितान्त स्वतन्त्र छोड़ देने से और सृष्टि के आरम्भ में वेदों की शिक्षा के द्वारा भले बुरे का ज्ञान करा देने से ईश्वर पर अपराध नही आ सकता। इस प्रकार का अपराध तो मुसलमान और ईसाई मत के ईश्वर पर आ सकता है, जिसने प्रथम ही बार अपनी इच्छा से सृष्टि की है और उसमे किसी जीव के कर्म और ईश्वरीय दया व न्याय का आक्षेप नही।

प्रश्न—ईश्वर को हम किस प्रकार देख सकते है ?

उत्तर—न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग्गच्छति

नो मनो न विद्मो न विजानीमो यथैतदनु-
शिष्यादन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधि ।
इति शुश्रुम पूर्वेषां ये नस्तद्विचचक्षिरे ॥ ३ ॥

(शब्दार्थ) न=नहीं । तत्र=वहाँ । चक्षुः=आँख । गच्छति= जाती है । नो=नहीं । वाक्=वाणी । गच्छति=जाती है । नो=नहीं । मनः=मन । न=नहीं । विद्मः=समझते हैं । न=नहीं । विजानीमः=जानते हैं । यथाः=जैसे । एतत्= यह ब्रह्म । अनुशिष्यात्=जाना जावे । अन्यत् एव=और प्रकार ही । तत्=वह ब्रह्म । विदितात्=जाना जाता है । अथो=इसके अतिरिक्त । अविदितात्=नहीं जाना जाता । अधि=इन्द्रियों से । इति=यह शुश्रुम्=हम लोग सुनते आते हैं । धीराणाम्=धीर पुरुषों से । ये=जो । नः=हमारे लिये । तत्=उस ब्रह्म का । विचचक्षिरे=व्याख्यान कर गये हैं ।

(अर्थ) क्योंकि ब्रह्म अर्थात् वह परमात्मा निराकार होने से रूप से रहित है, इस कारण उसको आँख नहीं देख सकती । क्योंकि आँख केवल शरीरवाले का रूप ही देख सकती है । जिस प्रकार वह वाणी जो प्रत्येक वस्तु की स्वल्परूप में ही प्रशंसा करती है । ब्रह्म के अनन्त गुण होने से उसकी पूरी पूरी प्रशंसा नहीं कर सकती । और मन जिस प्रकार प्रत्येक वस्तु को जान लेता है । परन्तु ब्रह्म को वर्तमान अवस्था में मन भी नहीं जान सकता । क्योंकि मनुष्य के पास जानने के यन्त्र इन्द्रिय और मन ही हैं और यह ब्रह्म को अनुभव नहीं कर सकते, इस कारण हम ब्रह्म को नहीं जानते । यद्यपि अनुमान इत्यादि से व्याप्ति स्थापित करके हम अन्य वस्तुओं के विशेष गुणों को अनुभव कर सकते है, परन्तु ब्रह्म को अनुमान से भी नहीं जान

सकते । इस कारण संसार के आरम्भ के ऋषियों ने जिस प्रकार इसकी व्याख्या की है जो आज तक क्रमश हम तक पहुंची है । ऐसा ही हम बताते हैं । क्योंकि ब्रह्म के जानने का उपाय इन महात्माओं के उपदेश को छोड़ कर और हो ही नहीं सकता जिनको सृष्टि के आरम्भ में परमात्मा ने उपदेश दिया। क्योंकि प्रत्येक वस्तु को जानने के लिए कोई न कोई प्रमाण नियत है, विना परमात्मा के किसी वस्तु का ज्ञान नहीं हो सकता। परन्तु प्रमाण के जानने के लिए किसी दूसरे प्रमाण की आवश्यकता नही होती । यदि प्रमाण के लिए भी किसी दूसरे प्रमाण की आवश्यकता पड़े तो अनवस्था दोष आ जायगा अर्थात् एक प्रमाण के लिए दूसरा और दूसरे के लिए तीसरा इसी प्रकार क्रम कभी समाप्त न होगा ।

क्योंकि ब्रह्म प्रत्येक प्रमाण से बढ़कर प्रमाण है, इसलिए उसके गुण और शक्ति को छोड़कर कोई प्रमाण भी उसको अनुभव नही कर सकता । क्योंकि सब इन्द्रियाँ तो भौतिक अर्थात् प्राकृतिक वस्तुओं को अनुभव कर सकती है । ब्रह्म भौतिक नही है, इस कारण इन्द्रियों से उसका ज्ञान किसी प्रकार भी नही हो सकता ।

मन इन्द्रियों के द्वारा अनुभव करता है या किसी अंग या गुण को देखकर अनुमान करता है, परन्तु जब ब्रह्म कभी प्रत्यक्ष हो ही नही सकता, उसको मन किस प्रकार अनुभव कर सकता है । इस कारण जो ऐसा जानता है कि वह स्पर्श विद्या से प्रतीत होने के योग्य प्राकृतिक संसार से नितान्त पृथक् है और जिसको सूक्ष्मरूप भागवाला प्रकृति की अपेक्षा सूक्ष्म होने के कारण जान नहीं सकते वह उससे भी ऊपर अर्थात् अधिक सूक्ष्म है ।

प्रश्न—यदि जानी हुई वस्तुओं से ईश्वर पृथक् है तो उसके एक देशवासी होने में क्या संशय है ?

उत्तर—जानी हुई वस्तुओं से पृथक् रखने का यह तात्पर्य है कि वे सब नाशवाली हैं और ईश्वर शेष है, इस कारण उसके गुण स्थूल और नाश होनेवाली वस्तुओं से मिल नहीं सकते। पृथक् होने से तात्पर्य एक देशवासी नहीं।

प्रश्न—न जाननेवाली प्रकृति से पृथक् और ऊपर क्यों कहा ? क्योंकि प्रकृति भी सदा रहनेवाला है।

उत्तर—क्योंकि प्रकृति जड़ है और ब्रह्म स्वतन्त्र और चैतन्य है, प्रकृति उसके अधिकार में है इस कारण वह प्रकृति के ऊपर अर्थात् अधिक सूक्ष्म है और उससे महान् है। तात्पर्य यह है कि जो ब्रह्म का जाननेवाला और उसमें श्रद्धा रखनेवाला गुरु से शिष्य प्रश्न करे कि ब्रह्म क्या है ? तो उसको भी बतलाना चाहिये कि ब्रह्म इन्द्रियों से और साइंस के यंत्रों से जो स्पर्श विद्या को ही अनुभव करते हैं जानने के योग्य नहीं बल्कि मेधा नामावाली सूक्ष्म बुद्धि से वह जाना जा सकता है परन्तु चंचल मनवाले मनुष्यों की बुद्धि भी उसके जानने के योग्य नहीं।

प्रश्न—क्या कारण है कि ब्रह्म प्रत्यक्ष का विषय नहीं ?

उत्तर—इस कारण कि वह सब से सूक्ष्म और समीप है और जो वस्तु बहुत समीप और सूक्ष्म होती है वह बिना शुद्ध बुद्धि और निश्चल मन के प्रतीत नहीं हो सकती।

मन्त्र--यद्वाचानभ्युदितं येन वागऽभ्युद्यते।
तदेव ब्रह्मत्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥ ४ ॥

(शब्दार्थ) यत्=जो ब्रह्म। वाचा=वाणी से। न=नहीं। अभ्युदितम्=कहा जाता है। येन=जिसके कारण।

वाक्=वाणी। अभ्युद्यते=बोलती है। तत्=उसे। एव=ही। ब्रह्म=ईश्वर। त्वम्=तू। विद्धि=जान। न=नहीं। यत्=जो। इदम्=यह। उपासते=उपासना करते है।

(अर्थ) जिस ब्रह्म को जिह्वा शब्दो से प्रकट नही कर सकती परन्तु ब्रह्म के बनाए नियमों से जिह्वा मे प्रकट करने की शक्ति है। जैसे भिन्न २ प्रकार के अक्षरों के उच्चारणार्थ ब्रह्म ने स्थान नियत कर दिये है। उसी स्थान से उन अक्षरो का उच्चारण हो सकता है, उसके विरुद्ध नहीं हो सकता। जिसके नियमो से बँधी हुई जिह्वा शब्दो और उनके अर्थों को प्रकट करती है तो उसको ब्रह्म या परमात्मा जानो। और जिसको यह बताकर संकेत किया जा सकता है और जिसकी संसार के मनुष्य उपासना करते है यह ब्रह्म नहीं है।

प्रश्न—ब्रह्म के लिए यह ब्रह्म है ऐसा क्यों नहीं कह सकते।

उत्तर-क्योंकि यह और वह जो परिधि हैं वे परिच्छिन वस्तु के विद्यमान और लोप को प्रकट करते हैं। परन्तु ब्रह्म सर्वव्यापी होने से विद्यमान और लोप दोनों प्रकार की हदों से पृथक् है, इस कारण ब्रह्म के लिये यह शब्द, वह शब्द का प्रयोग नहीं हो सकता।

मन्त्र—यन्मनसा न मनुते मेनाहुर्मनो मतम् ।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेद यदिदमुपासते ॥ ५ ॥

(शब्दार्थ) यत्=जो ब्रह्म। मनसा=मन से। न=नहीं मनुते=विचारा जाता है। येन=जिससे। मन=मन। मतम्=विचारशक्ति को लिए हुए है। तत्=उसे। एव=ही। ब्रह्म=ईश्वर। त्वम्=तू। विद्धि=जान। न=नही। यत्=जो। इदम्=यह। उपासते=उपासना करते है।

(अर्थ) वह परमात्मा मन के विचारों से जानने योग्य नहीं। क्योंकि मन उन वस्तुओं का विचार कर सकता है जिनके गुणों पर वह हो जाता है, परन्तु परमात्मा के गुण अनंत और सीमा से परे है, उन पर मन किसी प्रकार हो ही नही सकता। दूसरे मन उन्ही वस्तुओं पर होता है जो किसी समय इन्द्रियों से अनुभव हो चुकी हो। क्योंकि ब्रह्म का इन्द्रियों से किसी काल में भी प्रत्यक्ष नहीं होता, इस कारण उसके पूरे गुणों से अनभिज्ञ होने से उसका विचार नहीं कर सकता। परन्तु जो कुछ विचार करता है वह उसी ब्रह्म की शक्ति और नियमों की सहायता से करता है। इस कारण यह सुखों की सामग्री जिसकी मनुष्य उपासना करते है ब्रह्म नही। परन्तु जो इन सब नियमो का रचयिता है, जिसकी सहायता से मन कार्य करता है, तू उसको ब्रह्म जान।

प्रश्न—यदि ब्रह्म तीन काल में इन्द्रियों से प्रत्यक्ष नही होता, तो उसके होने का क्या प्रमाण है ?

उत्तर—उसके होने का प्रमाण मन इन्द्रिय इत्यादि के नियमों का होना है। क्योंकि हमारे शरीर मे आत्मा के होने का प्रमाण यही है कि शरीर का चलना नियम के साथ होता है। और इंजन इत्यादि जड़ पदार्थों का चलना भी ड्राइवर की उपस्थिति मे नियम के साथ होता है, यदि ड्राइवर न हो तो बिना नियम का हो जाता है। ड्राइवर इंजन का चलानेवाला है, बनानेवाला नहीं। ड्राइवर को नियम से इंजन चलाते हुए देखकर, इंजन की बनावट में नियमो की विद्यमानता होना प्रतीत होता है। और नियमो की विद्यमानता उसके बनाने-वाले को प्रकट करती है।

प्रश्न—इस प्रकार का अनुमान और विचार तो मन ही

से होगा। जब मन उसको जान नहीं सकता, तो इस विचार का ठीक होना किस प्रकार प्रमाणित होगा?

उत्तर — मन उसके पूरे गुणों पर अधिकारी नहीं हो सकता, परन्तु उसके एक दो गुणों से उसकी सत्ता को अनुभव कर सकता है। जैसे परमात्मा के आनन्द गुण के अनुभव करने से समाधि अवस्था में मानसिक प्रत्यक्ष होता है।

श्रुतिः—यच्चक्षुषा न पश्यति येन चक्षूंषि पश्यति।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥६॥

(शब्दार्थ) यत् = जो। चक्षुषा = आँखों से। न = नहीं। पश्यति = देखता है। येन = जिससे। चक्षूंषि = आँखें। पश्यति = देखती है। तत् = उसे। एव = ही। ब्रह्म = ईश्वर। त्वम् = तू। विद्धि = जान। न = नहीं। यत् = जो। इदम् = यह। उपासते = उपासना करते हैं।

(अर्थ) जो ब्रह्म आँखों से नहीं देखता और न देखा जाता है, परन्तु जिसके नियमों से शक्ति पाकर आँख देखती है और उसकी सहायता से सब जीव वस्तुओं का ज्ञान ज्ञान-इन्द्रियों द्वारा प्राप्त करते हैं, तो उसी आँख को आँख को देखने की शक्ति देनेवाले को ब्रह्म जान। और जिन आँखों से देखने योग्य वस्तुओं की मनुष्य उपासना करते हैं, वह ब्रह्म नहीं।

मंत्र—यच्छ्रोत्रेण न शृणोति येन श्रोत्रमिदं श्रुतम्।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥ ७ ॥

(शब्दार्थ) यत् = जो। श्रोत्रेण = कान से। न = नहीं। शृणोति = सुनता है। येन = जिससे। श्रोत्रम् = कान। इदम् =

यह। श्रुतम्=सुनता है। तत्=उसे । एव=ही । ब्रह्म=ईश्वर। त्वम्=तू। विद्धि=जान। न=नहीं । यत्=जो। इदम्=यह। उपासते=उपासना करते है।

(अर्थ) वह ब्रह्म कानो से नही सुना जाता, परन्तु कान जिसकी सहायता से सुनते हैं तुम उसी को ब्रह्म जानो। जिस शब्द इत्यादि विषय की जगत् के मनुष्य उपासना करते हैं यह ब्रह्म नहीं है। इसका तात्पर्य यह है कि कान इत्यादि इन्द्रियो की आवश्यकता ब्रह्म को अपने कार्यों के लिए नही। परन्तु कान इत्यादि ब्रह्म के बनाए हुए नियमो से सुनते हैं और कोई इन्द्रिय ब्रह्म की सहायता के विना कुछ काम नही कर सकती।

श्रुतिः—यत्प्राणेन प्राणिति येन प्राणः प्रणीयते।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेद यदिदमुपासते॥ ८॥

(शब्दार्थ) यत्=जो। प्राणेन=प्राणों से। न=नही। प्राणिति=अनुमान किया जाता है। येन=जिससे। प्राणः=प्राण प्रणीयत=श्वॉस लेत है। तत्=उस। एव=ही। ब्रह्म=ईश्वर। त्वम्=तू। विद्धि=जान। न=नहीं। यत्=जो। इदम्=यह। उपासते=उपासना करते है।

(अर्थ) वह ब्रह्म प्राणों की गति से श्वॉस नहीं लेता परन्तु प्राण जिसकी सहायता से अपने कार्य करते हैं तू उसी को ब्रह्म जान। क्योंकि परमात्मा की सहायता के विना प्राण भी कुछ नहीं कर सकता। इस कारण हे जीव! तू उसी को जो प्राणों को सहायता देता है ब्रह्म जान, जिसकी मनुष्य उपासना करते हैं। अर्थात् इन प्राणों को जो जीवन मरण का कारण हैं ब्रह्म मत समझ, मूर्ख मनुष्य ही इनकी उपासना करते है। यह केन अर्थात् तलवकार उपनिषद् का प्रथम खण्ड समाप्त हुआ। इस खण्ड

में व्याप्य व्यापक सम्बन्ध से सब इन्द्रियों का परमात्मा की सहायता से कार्य करना और परमात्मा को अपने कार्यों के लिये इन्द्रियों की आवश्यकता न होना बताया गया है। क्योंकि इस संसार में पृथक् ब्रह्म का ज्ञान होना विद्वान मनुष्यों के लिये बहुत ही कठिन है। जिह्वा, मन, आँख, कान और प्राण केवल मुख्य समझकर कहे गए हैं, जिससे सब इन्द्रियों से तात्पर्य है। क्योंकि ज्ञान इंद्रियों में आँख, कान सब से उत्तम हैं और मन दोनों प्रकार की इंद्रिय और सब इंद्रियों का स्वामी है। और प्राण भी प्रत्येक प्रकार की वायु से उत्तम है। तात्पर्य यह है कि जिसका प्रधान उत्तम नहीं कर सकता, उसको तुच्छ किस प्रकार कर सकेंगे? यहाँ प्रथम खण्ड समाप्त करके दूसरा खण्ड आरम्भ करते हैं।

द्वितीय खण्ड

इस उपनिषद में गुरु और शिष्य के प्रश्नोत्तर से शास्त्रार्थ आरम्भ किया गया है, जिससे समझनेवाले उचित प्रकार से तात्पर्य समझलें। प्रथम श्रुति में विद्यार्थी ने प्रश्न किया था उसका उत्तर आठ श्रुतियों में गुरु ने दिया और अब दूसरे प्रकार से समझाने के लिए गुरु उपदेश करता है।

मंत्र--यदि मन्यसे सुवेदेति दभ्रमेवापि नूनं त्वं वेत्थ ब्रह्मणोरूपम्। यदस्य त्वं यदस्यदेवेष्वथनु मीमांस्यमेव ते मन्ये विदितम् ॥ १ । ९ ॥

(शब्दार्थ) यदि=जो। मन्यसे=तू मानता है। सुवेद=भली प्रकार जानता हूँ। इति=यह। दभ्रम्=सूक्ष्म। एव=ही। अपि=भी। नूनम्=निश्चय। त्वम्=तू। वेत्थ=जानता है। ब्रह्मणः=

ईश्वर का । रूपम्=रूप। यत्=जो। अस्य=इसका। देवेषु= विद्वानों में। अथ=फिर। नु=निश्चय। मीमांस्यम्=प्रमाणों से विचारणीय। एव=ही। ते=तेरा। मन्ये=मानता हूँ। विदितम= जाना हुआ है।

(अर्थ) गुरु शिष्य से कहता है कि हे शिष्य ! यदि तुझको विचार है कि मैं ब्रह्म को ठीक प्रकार से जानता हूँ तो इस बात को मैं नहीं मानता। क्योंकि जो ब्रह्म के जानने की प्रतिज्ञा करता है, वह ब्रह्म को नहीं जानता। क्योंकि ब्रह्म का स्वरूप ऐसा सूक्ष्म है कि उसके जानने की प्रतिज्ञा करना मेरे विचार में उचित नहीं। इसलिए शास्त्रीय और बुद्धिज प्रमाणों से प्रत्येक समय ब्रह्म का विचार करना, उसको मैं अच्छा जानता हूँ। तात्पर्य यह है कि जो मनुष्य इस बात की प्रतिज्ञा करता है कि मैंने उचित प्रकार से ब्रह्म का स्वरूप जान लिया वह नितान्त नहीं जानता। क्योंकि सामान्य वस्तुओं के ज्ञान की भी मनुष्य प्रतिज्ञा नहीं कर सकता, तो ब्रह्म के जानने की प्रतिज्ञा किस प्रकार ठीक हो सकती है। क्योंकि मनुष्य अल्पज्ञ है इस कारण किसी वस्तु की अन्तर्दशा को जानकर भी अहंकार नहीं करना चाहिये। इस कारण जिनके हृदय में ठीक प्रकार से ब्रह्म जानने का अभिमान हो, उन्हें छोड़ देना चाहिए। क्योंकि अभिमान होने पर उन्नति बन्द हो जाती है। और प्रत्येक मनुष्य को ठीक प्रकार से ब्रह्म का विचार करना चाहिए। इसके लिए शास्त्रीय और बुद्धि सम्बन्धी प्रमाणों से कार्य लेना और ब्रह्म के विचार में रहना ही बुद्धिमान होने का चिह्न है।

मन्त्र--नाहं मन्ये सुवेदेति नो न वेदेति वेद च।

यो नस्तद्वेद तद्वेद नो न वेदेति वेद च॥ २ । १० ॥

(शब्दार्थ) न=नहीं। अहम्=मैं। मन्ये=मानता हूँ। सुवेद=भली भाँति जानता हूँ। नो=नहीं। नवेद=नहीं जानता हूँ। इति=यह। वद=जानता हूँ। यः=जो। तत्=उसे। नः=हमारे लिये। विदितात्=जानता है। ना=नहीं। नवेद=नहीं जानता हूँ। इति=यह। वेद=जानता हूँ।

(अर्थ) मैं ब्रह्म को ठीक प्रकार से जानता हूँ, मैं ऐसा नहीं मानता। और नितान्त नहीं जानता, ऐसा भी नहीं मानता। परन्तु यह जानता हूँ कि ब्रह्म है। और हम में से जो कोई मेरी इस बात को जानता है वह उस ब्रह्म को जानता है। वह बात क्या है कि न तो ऐसा विचार करे कि मैं ब्रह्म को ठीक प्रकार से जानता हूँ और न यह विचार करे कि मैं उसको कुछ भी नहीं जानता। जो ऐसा ठीक मानता है वह वास्तव में ब्रह्म को जानता । क्योंकि यह विचार होने पर कि मैं ब्रह्म को वास्तविक नहीं जानता, किसी दशा में ब्रह्म के जानने का अभिमान हो ही नहीं सकता। और जो अभिमान से ऐसा कहता है कि मैं ब्रह्म को जानता हूँ, वह वास्तव में ब्रह्म को नहीं जानता। क्योंकि अहंकार अविद्यादि क्लेशों में से एक क्लेश है। ज्ञान प्राप्त होने का सच्चा प्रमाण यही है कि उसको (ज्ञाता) को अहङ्कार तथा अविद्या न हो और अपने आत्मस्वरूप में शांति से परमात्मा का ध्यान करे।

प्रश्न—जो मनुष्य नहीं जानता, उसे भी ऐसा ही निश्चय होता है कि मैं नहीं जानता, तो इसके कहने से जानना कैसे सिद्ध होगा ?

उत्तर—सुनो ! वह यह भी मानता है कि मैं नहीं जानता।

ऐसा भी नहीं मानता, नही जानता। ऐसे न मानने से प्रकट होता है और ठीक नही जानता, ऐसा कहने से अभिमान दूर होता है। अतएव ईश्वर के जाननेवाले दोनों बाते नहीं कह सकते कि मैं ठीक जानता हूँ या नही जानता। क्योंकि ब्रह्म का ज्ञान केवल अनुभव से होता है, कोई इन्द्रिय उसे प्रत्यक्ष नहीं कर सकती।

जिसको ब्रह्मज्ञान के नियमो में संदेह न हो वह यह नहीं कह सकता कि मैं नही जानता। जिस प्रकार मिश्री खाने से उसका स्वाद ज्ञात होता है, यदि कोई प्रश्न करे कि मिश्री कैसी होती है? तो उत्तर होगा कि मीठी। अब पुनः प्रश्न करे कि मीठापन क्या है? तो इसका उत्तर देकर वह इसी प्रकार निश्चय करा सकता है कि खाकर मालूम कर लीजिये। इसके अतिरिक्त निश्चय कराने का और कोई साधन नहीं हो सकता। क्योंकि इन्द्रियों से प्रत्यक्ष होनेवाली वस्तु का ज्ञान इन्द्रियों द्वारा ही प्रत्यक्ष हो सकता है, अन्य प्रकार से नही। जिस इन्द्रिय का जो विषय है वही इन्द्रिय उसको प्रत्यक्ष कर सकती है। अतः ब्रह्मज्ञान भी मन के पूर्ण शुद्ध होने पर होता है, इसी कारण उसको वाणी नहीं कह सकता।

प्रश्न—जब तुम यह कहते हो कि मन और बुद्धि से ब्रह्म को नहीं जान सकते, तो उसके जानने का क्या कारण होगा?

उत्तर—ब्रह्मज्ञान शुद्ध बुद्धि तथा शुद्ध मन से होता है, विषयों में घूमनेवाला ब्रह्मज्ञान की शक्ति नहीं रखता।

मन्त्र--यस्याऽमतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः।
अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानताम् ३।११॥

(शब्दार्थ) यस्य = जिसका अर्थात् जिस ब्रह्म के जानने-

वाले विद्वान् का। अमतं = मन से उसे नहीं जान सकते। तस्य ॥ उसका। मतं = अर्थात् ज्ञान सत्य है क्योंकि उसने ब्रह्म को जान लिया है। मत = जो मन से जानने के योग्य समझता है। यस्य = जिसका। न = नहीं। वेद = जानता। सः = वह। अविज्ञातम् = ज्ञान नहीं होता। विजानताम् = ब्रह्मज्ञान के अभिमानियों का। विज्ञातम् = ज्ञान होता है। अविजानतां = ब्रह्मज्ञान का अभिमान रखनेवालों को।

(अर्थ) जो पुरुष यह विचार करता है कि ब्रह्म मन से नहीं जाना जाता, वह वास्तव में ब्रह्म को जानता है। और जो यह विचार रखता है कि ब्रह्म का इद्रियों द्वारा अथवा स्थूल पदार्थों से जान सकते हैं, वह कदापि ब्रह्म को नहीं जानता। जिनको ब्रह्म के जानने का अभिमान है उनको ब्रह्म का ज्ञान कुछ भी नहीं। और जो ब्रह्म का जानते है वह किसी दशा में भी ब्रह्म को जानने का अभिमान नहीं करते और न कर सकते हैं।

इस श्रुति ने झूठे योगी और ब्रह्मज्ञानियों से सर्व साधारण को बचाने के लिये स्पष्ट बता दिया है कि जो मनुष्य योग के जानने का मान करते है, वह कदापि ब्रह्म को नहीं जानते और न वह योग के तत्त्व को जानते है। और लौकिक व्यवहार में भी देखा जाता है कि जिनके पास रत्न है वह उनको संदूकों में छिपा कर रखते हैं और जिनके पास कौड़ियाँ है वह पैठादि में पुकार-पुकार बेचते है। अतएव प्रत्येक मोक्ष के इच्छुक को चाहिये कि इस श्रुति के विषय को विचार करके कलियुग के मिथ्या वादी ब्रह्मज्ञानियों के धोके से बचकर आत्मिक शांति को प्राप्त करे और अपने अज्ञानता ऐसे लोगों को जो योग और ब्रह्मज्ञान से पूर्ण अनभिज्ञ है योगी तथा ब्रह्मज्ञानी समझकर और उनसे अपनी आशा को पूरा होते न देखकर ब्रह्मज्ञान से

घृणा न करे और प्रत्येक आदमी को इस बात का विचार रखना चाहिये कि जो मनुष्य संसार पूजक हैं उनसे ब्रह्मज्ञान का कोई सम्बन्ध नहीं और जो मनुष्य ब्रह्मज्ञान रखते है वह संसार में लिप्त पुरुषो से घृणा करते है। क्योंकि उनके मिलने से ब्रह्म की उपासना में विघ्न उपस्थित होता है। ईश्वर-भक्त ही ब्रह्मज्ञान को जान सक्ते है और ब्रह्मज्ञान ईश्वर भक्तोंसे मिलना स्वीकार करता है। क्योंकि संसारिक पुरुषों से उसे कुछ लाभ नहीं होता।

मंत्र--प्रतिबोध विदित मतममृतत्वं हि विन्दते आत्मना विंदते वीर्य्यं विद्यया विंदतेऽमृतम् ४।१२॥

(शब्दार्थ) प्रतिबोधविदितं=इंद्रियों के विषयों को जान कर वेग का वृद्धि हो जाने को प्रतिबोध कहत है, उसे रोक कर ईश्वर मे लगाने को प्रतिबाध कहते है, उसी से जानने का नाम प्रतिबोध विदित है। ब्रह्म जाना जाता है अर्थात् उस ज्ञान से ब्रह्म जाना है। अमृतत्व=जिसकी ही निश्चय विन्दते=जीवन्मुक्ति को प्राप्त करता है। आत्मा=अपने स्वरूप से। विंदत=प्राप्त होता है। वीर्य्यम्=बल और शक्ति। विद्यया=विद्या अथवा ज्ञान से। विन्दत=प्राप्त होता है। अमृतम्= अर्थात् मुक्ति।

(अर्थ) जब मनुष्य अपनी इन्द्रियों के वेग को रोककर अपने आधीन कर लेता है। और इन्द्रियो के विषयों से हटाकर मन को समाधि में लगाकर जब मानसिक प्रत्यक्ष करता है, तो उससे जीवनमुक्ति के आनन्द को उपलब्ध करता है। और आत्मा के ज्ञान के प्राप्त होने से ही मनुष्य को आत्मिक बल प्राप्त होता है। जो मनुष्य आत्मिक शक्ति से हीन हैं और

किसी धर्म सम्बन्धी काम को यथार्थ नहीं कर सकने, उनकी आत्मिक निर्वलता के दूर होने का कारण आत्मज्ञान है। क्योंकि आत्मिक ज्ञान होने के साथ ही आत्मा की शक्ति का ज्ञान होता है। जब आत्मज्ञान में लगकर मनुष्य योग बल को प्राप्त करता है, तो उसे सत् विद्या प्राप्त होती है और सत् विद्या प्राप्त होने से मनुष्य मोक्ष प्राप्त करता है।

जो मनुष्य केवल प्राकृत विज्ञान जानकर दुखो से बचने की आशा रखते हैं, वह बहुत भूल करते हैं। क्योंकि प्राकृत विज्ञान से प्रकृति के साथ सम्बन्ध बढ़ जाता है, जिससे दुख की अधिकता होती है न कि दुःखों से बचाव। और यह बात प्रमाणों से सिद्ध हो चुकी है कि आत्मिक बल के न होने की दशा में मनुष्य ईश्वर को नहीं जान सकता। इस कारण सब से पहले कर्म उपासना और ज्ञान के द्वारा परमात्मा को जानना चाहिये, पुनः मुक्ति प्राप्त होगी। विना मल विक्षेप और आवरण दोष के दूर हुए आत्मिक बल और मुक्ति प्राप्त नहीं हो सकती।

मंत्र--इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः। भूतेषु भूतेषु विचिन्त्य धीराः प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति ॥ ५ । १३ ॥

(शब्दार्थ) इह=इस जन्म संसार में। चेत्=अगर। अवेदीत्=आत्मा को जान जावे। अथ=उस दशा में। सत्यम्=जीवनोद्देश्य सत्य हो। अस्ति=है। चेत्=यदि। न=नहीं। इह=इस जन्म में। अवेदीत्=आत्मज्ञान को प्राप्त

किया अथवा आत्मा को जाना। महती=बहुत है या बड़ी। विनष्टिः=हानि हो.। भूतेषु भूतेषु=नीच भूतों में। विचिन्त्य=विचार की दृष्टि से देखकर। धीराः=धैर्ययुक्त धर्मात्मा अगले जन्म म। प्रेत्य=मरकर। अस्मात्=इस। लोकात्=जन्म से। अमृता=अक्षय सुख या मुक्ति को। भवन्ति=प्राप्त होते है।

(अर्थ) यदि इस वर्तमान जन्म में मनुष्य अपने उद्देश्य मार्ग की ओर ठीक-ठीक इच्छुक होगया, तो उसने अपने जन्म को सफल कर लिया। क्योंकि यदि मनुष्य चोला में जो कर्तव्य भोक्तव्य दोनों के साथ सम्बन्ध रखता है, मनुष्य परमेश्वर को जानले, तो मोक्ष प्राप्त हो सकती है। यदि इस शरीर को केवल भोगों के ध्यान में व्यय करे और निशि दिन परमात्मा को जानने के स्थान में केवल शरीर की पुष्टि में प्रयत्न करे, तो इस दशा में बड़ी हानि होती है। क्योंकि इस शरीर के छूटते ही स्वतंत्रता अर्थात् कर्तव्य की शक्ति समाप्त हो जाती है। फिर जन्मों तक भोग योनि अर्थात् ज्ञान से शून्य शरीर में नष्ट होना पड़ता है और फिर मनुष्य-जन्म प्राप्त होता है। इस कारण धर्मात्मा लोग प्रत्येक स्थावर और जङ्गम पदार्थ कर्मों के फल और सर्व नियामक परमात्मा को ध्यान की दृष्टि से देखते हैं। और कर्म करने में स्वतंत्रता को प्रयोग में लाते हैं, तो इस शरीर को छोड़कर मुक्ति को प्राप्त करते हैं। इस वाक्य का स्पष्ट आशय यह है कि जो मनुष्य उस समय में धर्म के विचार में लीन होकर परमात्मा को जानने का प्रयत्न करता है वही फलीभूत होता है। और जो इस जन्म में सांसारिक कामों में फंसा रहता है वह अपनी बहुत हानि करता है। यहाँ पर इस उपनिषद् का दूसरा खण्ड समाप्त हुआ।

पहले भाग में ब्रह्म को जानने में इन्द्रिय आदि को अयोग्य बताया और दूसरे भाग में ब्रह्मज्ञान के विधान और इसके अद्भुत होने को बतलाकर अब ब्रह्म को एक अलंकार स्वरूप में वर्णन करते है। इस भाग के आशय पर ध्यान से विचार करना उचित है। शब्दों पर ध्यान नहीं करना चाहिये क्योंकि यह अलंकार है।

तृतीय खण्ड

मंत्र—ब्रह्म ह देवेभ्यो विजिग्ये तस्याह ब्रह्मणो विजये देवा अमहीयन्त। त ऐक्षन्तास्माक मेवायं विजयोऽस्माकमेवायं महिमेति॥१।१४॥

(शब्दार्थ) ब्रह्म=सब से बड़े परमात्मा ने। ह=निश्चय। देवेभ्यो=पाँचभूत और इन्द्रियों से। विजिग्ये=जय प्राप्त की। तस्य=इस ब्रह्म को। ह=निश्चय। ब्रह्मणः=ब्रह्म की। विजये=विजय को। देवा=देवताओं अर्थात् पाँचभूतों और इन्द्रियों ने। अमहीयन्त=महत्ता को प्राप्त करके। त=वह। देवाः=पंचभूत और इन्द्रियाँ। ऐक्षन्त=विचार करने लगे। अस्माकम्=हमारे। एव=ही। अयं=यह। विजये=जीत में है। अस्माकम=हमारी। एव=ही। अय=यह। महिमा=महत्ता है। इति=यह स्वीकार किया।

(अर्थ) ब्रह्म परमात्मा की शक्ति से यह पाँचभूत अर्थात् अग्नि, वायु, जल, पृथ्वी, आकाश आदि और ज्ञान इन्द्रियाँ अर्थात् नाक, कान, चक्षु, रसना, त्वचा आदि और पाँचों कर्म-इन्द्रियाँ अर्थात् हाथ, पाँव, जिह्वा, गुदा तथा उपस्थ इन्द्रिय अपने-अपने कामों में विजय प्राप्त करती हैं। बिना ब्रह्म

की सहायता के कोई इंद्रिय भी अपने काम में पूर्णता प्राप्त नहीं कर सकती। और न यह तत्त्व कुछ कर सकते हैं। अज्ञानता से इन्द्रियों ने यह विचार कर लिया कि जिस कदर हमें कामों पर विजय प्राप्त होती है वह हमारी शक्ति से प्राप्त होती है, इसमें कोई और बल सहायक नहीं है। इसी कारण जितनी प्रतिष्ठा और बड़ाई काम करने से प्राप्त होती है, वह सब हमारे ही लिये है। आशय यह है कि इस जगह पर दिखलाया है कि प्रकृति में परमात्मा के व्यापक होने से संसार के सब कार्य पूर्ण होते हैं। जिस प्रकार शरीर के भीतर जीव के होने से शरीर के सब काम होते हैं, सर्व इन्द्रियाँ काम करती हैं, किन्तु विना जीवात्मा के इंद्रियाँ तथा शरीर कुछ भी नहीं कर सकता। ऐसे ही चन्द्र, सूर्य, तारागण, विद्यादी प्रत्येक वस्तु परमात्मा में होने से सब कार्य करते हैं और जब परमात्मा रोक देते हैं तो कोई भी काम नहीं कर सकते। आत्मा सीमित होने के कारण शरीर से निकलता और प्रवेश करता है, इसलिये शरीर का काम करना और काम की शक्ति न रखना मालूम होता है। इसी कारण संसार के मूर्ख मनुष्य यह ख्याल करते हैं कि यह सब काम प्रकृति अपनी शक्ति से करती है, प्रकृति के अतिरिक्त कोई दूसरी शक्ति काम करनेवाली नहीं। उनकी अज्ञानता को दूर करने के लिये यह दिखलाया गया है कि विना ब्रह्म की सहायता के भूतों में कुछ भी काम करने की शक्ति नहीं। और आगे अलंकार को दिखलाते हैं कि इंद्रियाँ और भूतों के मान को दूर करने के लिये परमात्मा ने क्या किया।

मंत्र—तद्धैषां विजज्ञौ, तेभ्यो ह प्रादुर्बभूव।
तन्न व्यजानन्त, किमिदं यक्षमिति ॥२।१५॥

(शब्दार्थ) तत्=उस ब्रह्म ने। एषाम्=इन देवताओं के विचार को। विजज्ञौ=जान कर विद्वान् अर्थात् पूर्ण होने से मालूम करके। ते=उन पर। ह=निश्चय। प्रादुर्बभूव=विदित हुआ। तत्=उसको। न=नहीं। वि=मुख्यतया। अजानन्त=मालूम किया अथवा जाना। किम्=क्या। इदम्=यह। यक्षम्=पूजा करने के योग्य वस्तु आती है।

(अर्थ) वह परमात्मा इन भूतों और इंद्रियों के विचार को खास तौर पर जानकर कि इन भूतो और सूर्य्यादि को मनुष्य शक्तिवाला प्रकाशमान देखकर उनको मिथ्या ज्ञान न हो जावे अर्थात् वह इसे अपने स्वार्थ प्राप्त करने के वास्ते पूजा के योग्य पूज्य न समझने लग जावे। वह भूतों के भीतर प्रकाशित हुआ और भूतो ने इस शक्ति को जो उनकी रोशनी और शक्ति को विजय करनेवाली थी कुछ भी, न जाना कि यह क्या वस्तु है। सारांश यह है कि जिस समय तमाम इंद्रियाँ सुख के वास्ते प्रयत्न करती हैं कि और मनुष्य यह समझते है चक्षु आदि इन्द्रियों से सुख होता है। उस समय सुषुप्ति की दशा में परमात्मा जीवों पर प्रकट होते हैं, जिससे वह सम्पूर्ण सुख जो इन्द्रियों के द्वारा प्राप्त होते थे दब जाते हैं। तब परमात्मा के उस आनन्द स्वरूप को जो सुषुप्ति की दशा में होता है इन्द्रियाँ नहीं जान सकती। तब वह एक दूसरे को पूछती हैं।

मंत्र--तेऽग्निमब्रवन्, जातवेद ! एतद्विजानीहि, किमेतद्यक्षमिति तथेति ॥ ३ । १६ ॥

(शब्दार्थ) ते=चक्षु आदि इंद्रियाँ। अग्नि=अर्थात् अग्नि की इंद्रियाँ चक्षु को। अब्रुवन्=कहने लगीं। जातवेद=स्थिर को जाननेवाली। एतत्=यह। विजानीहि=तू जानती है।

किम्=कौन या क्या। एतत्=यह। यक्षम्=अनोखी वस्तु है। इति=है। तथा=ऐसा है। इति=है।

(अर्थ) सम्पूर्ण इन्द्रियों ने आश्चर्य में होकर आँख से कहा कि हे प्रत्येक वर्त्तमान वस्तु के स्वरूप को मालूम करनेवाली अग्नि अर्थात् चक्षु, तू जानती है कि यह क्या वस्तु है और उसके गुण क्या हैं और उसकी शक्ति क्या है।

आशय यह है कि जिस समय सुषुप्ति की दशा में जीव ब्रह्म के सम्बन्ध से आनन्द प्राप्त करता है, जो आनन्द इन्द्रियों के द्वारा संसार की किसी वस्तु से प्राप्त नहीं हो सकता। तब आँख से पूछते हैं कि तू बतला सकती है कि जिससे यह आनन्द प्राप्त होता है वह क्या वस्तु है।

प्रश्न– श्रुति में तो शब्द अग्नि है उसके अर्थ आँख किस प्रकार हुए ?

उत्तर—कार्य कारण गुणो से एक होते है। जैसे सोना और उसके बने हुए आभूषण में सोने के गुण मौजूद होने से उसे सोने ही के भाव में मोल लेते हैं। ऐसे ही अग्नि और आँख में कार्य और कारण का सम्बन्ध है, अतएव दोनों एक ही हैं। अगली श्रुतियों में भी जहाँ वायु आदि का वर्णन किया है, ऐसा ही विचार कर लेना चाहिये।

मंत्र—तदऽभ्यद्रवत्त मभ्यवदत् कोऽसीति। अग्निर्वा अहमस्मीत्यब्रवीज्जातवेदा वा अह-मस्मीति ॥ ४। १७ ॥

(शब्दार्थ) तत्=वह अर्थात् अग्नि। अभ्यद्रवत्=प्रकट हुआ अर्थात् सामने हुआ। तम्=उसको अर्थात् अग्नि को अभ्यवदत्=ब्रह्म ने कहा। कः=कौन। असि=है। इति=यह

अग्नि । वा=निश्चय पूर्वक । अहम्=मैं । अस्मि=हूँ। इति=यह। अब्रुवीत=कहा । जातवेदा=प्रत्येक रूप वाली वस्तु की कारणता या दिखानेवाली । वा=निश्चय पूर्वक अहम्=मैं । अस्मि=हूँ ।

(अर्थ) जब ब्रह्म को देखने के वास्ते सूक्ष्म अग्नि स्थूल अर्थात् आँख की आकृति होकर देखने के लिये गई, तब ब्रह्म ने उससे पूछा कि तू कौन है। आँख ने कहा मैं अग्नि हूँ और जितनी संसार में वस्तु हैं उन सब की जाननेवाली हूँ या हर प्रकार के धन अर्थात् चमकदार वस्तु की पैदा करनेवाली प्रकृति स्वरूप का कारण हूँ।

प्रश्न—जबकि ब्रह्म निराकार है तो अग्नि से प्रश्न करना किस प्रकार सम्भव हो सकता है और जड़ अर्थात् ज्ञान रहित अग्नि उसका उत्तर किस प्रकार दे सकती है ?

उत्तर—यह अलंकार है, जिसमें यह दिखाना है कि बिना ब्रह्म की सहायता के अग्नि आदि में कुछ भी शक्ति नहीं। जिस प्रकार चुम्बक पत्थर के निकट होने से लोहा चलता है, इसी प्रकार ब्रह्म की शक्ति है। सब भूत और इंद्रियाँ जो कार्य करती हैं, बिना ब्रह्म के कुछ भी नहीं कर सकती। यह प्रश्नोत्तर केवल आशय समझाने के लिये है, वास्तविक नहीं। इनका आशय वास्तविक है, शब्द वास्तविक नहीं। यह पहले कहा गया है कि इसका वास्तविक आशय समाधि दशा में जब इन्द्रियों की सहायता के बिना ब्रह्म को अनुभव करता है उस समय की प्रत्यक्ष बात चीत करता है।

मंत्र—तस्मिंस्त्वयि किं वीर्यमित्यपीदꣳ सर्वं दहेयं। यदिदं पृथिव्यामिति ॥ ५ । १८ ॥

(शब्दार्थ) तास्मिन्=उस । त्वयि=तुझ में । किम्= क्या । वीर्य्यम्=शक्ति । इति=यह कहा विचार किया और इदम्=यह । सर्वम्=सब अर्थात् सम्पूर्ण संसार की वस्तुएँ । देहयं=जला सकती हूं । यत्=जो । इदं=यह । पृथिव्याम्= पृथिवी में अर्थात् सम्पूर्ण संसार में, यहाँ पृथिवी का अर्थ सम्पूर्ण संसार है ।

(अर्थ) ब्रह्म ने अग्नि से प्रश्न किया कि तेरी क्या शक्ति है ? अग्नि ने उत्तर दिया इस संसार अर्थात् संसार के प्रत्येक भाग में जो कुछ दृष्टि आता है, चाहे वह किसी भाग में हो मैं सब को जला सकती हूँ । ऐसी कोई वस्तु नही जो मेरी शक्ति से परे हो ।

इसका आशय यह है कि अगर अग्नि की कुल शक्ति एकत्र होकर प्रयत्न करे तो यह सम्भव है कि संसार की प्रत्येक वस्तु को जलादे । यद्यपि इस समय बहुत सी वस्तुएँ ऐसी है जो वर्तमान अग्नि से नहीं जल सकतीं, परन्तु सम्पूर्ण अग्नि की शक्ति के सामने कोई ऐसी वस्तु नहीं जो न जल सके । किन्तु अग्नि का एकत्र होना अग्नि के परमाणुओं के कारण से नहीं, वरन् परमात्मा की शक्ति से है । यदि परमात्मा अग्नि के परमाणुओं का संयोग न करे, तो कुछ भी न जल सके । इसके सम्बन्ध में आगे कहते हैं ।

मंत्र--तस्मै तृणं निदधावे तद्दहेति । तदुदप्रेयाय सर्वंजवेन तन्न शशाकदग्धुं स ततएव निववृते नैत दशकं विज्ञातु यदेतद्यक्षमिति ॥६ । १६ ॥

(शब्दार्थ) तस्मै=उस अग्नि में । तृण=एक तिनका । विदधै=उसके सामने रख दिया । १तत्=इसको । देह=

(अर्थ) जब अग्नि ब्रह्म को न जान सकी अर्थात् आँख से ब्रह्म का ज्ञान न हुआ, तो देवतों अर्थात् इन्द्रियों से वायु की इन्द्रिय अर्थात् त्वचा से कहा कि तुम जानती हो पूजने योग्य क्या वस्तु है। क्योंकि जहाँ आँख से किसी शरीर को नहीं देखते तो वहाँ उसको स्पर्श करके देखते है। यद्यपि अल्पज्ञानी लोग इन्द्रियों को देखने आदि कामों में स्वतंत्र समझते हैं, परन्तु यह बात सत्य नहीं, किन्तु इंद्रियाँ देखने में स्वतंत्र नहीं। क्योंकि प्रत्येक इन्द्रिय सहायता को चलती है।

मंत्र--तदभ्यद्रवत्तमभ्यवदत् कोऽसीति। वायुर्वा अहमस्मीत्यब्रवान्मातरिश्वा वा अहमस्मीति ॥ ८ । २१ ॥

(शब्दार्थ) तत्=वह वायु ब्रह्म की। अभ्यद्रवत्=सामने आई। तम्=उसको। अभ्यवदत्=ब्रह्म ने कहा। कः= कौन। असि=है। इति=यह कहा। वायु =वायु। वा=निश्चय करके। अहम्=मैं। अस्मि=हूँ। इति=यह। अब्रवीत्=कहा। मातरिश्वा=आकाश में चलने वाली वायु। वा=निश्चय करके। अहम्=मैं। अस्मि=हूँ। इति=यह।

(अर्थ) जब वायु ब्रह्म के सामने उसकी वास्तविक दशा ज्ञात करने को उपस्थित हुई, तब ब्रह्म ने उससे पूछा कि तू कौन है? उसने कहा मैं वायु हूं जो सम्पूर्ण आकाश में घूमनेवाली मातरिश्वा है, वह मैं हूँ। यहाँ वायु से आशय हवा की इन्द्रिय खाल से है। क्योंकि खाल वायु के द्वारा गर्मी सर्दी को अनुभव करती है, विना वायु के खाल को शीतोष्ण का ज्ञान नहीं होता। इसलिये त्वचा हवा की इन्द्रिय है, वही वायु से यहाँ अर्थ लिया गया है।

मंत्र--तस्मिनस्त्वयि किं वीर्य्यमित्यपीदꣳ सर्व माददीयं यदिदं पृथिव्यामिति ॥ ६ । २२ ॥

(शब्दार्थ) तस्मिन्=उस । त्वयि=तुझ में । कि=क्या । वीर्य्यम्=शक्ति । इति=यह कहा । अपि=विचार करो । इदम्=उस । सर्वम्=सम्पूर्ण वस्तुओं को । आददीयं= उठा ले जाऊँ अर्थात् उड़ा दू । यत्=जो । इदम्=यह । पृथिव्याम्=पृथिवी में देख पड़ती है ।

(अर्थ) जब ब्रह्म ने वायु से पूछा तुझ में क्या शक्ति है ? तब वायु ने उत्तर दिया कि जो कुछ इस संसार में वस्तुएँ हैं उन सब को उड़ा सकती हूँ, अर्थात् जितनी छोटी बड़ी वस्तुएँ संसार में दृष्टि पड़ती हैं उन सब को उठा सकती हूं, कोई ऐसी वस्तु नहीं जो मेरी उठाने की शक्ति से परे हो ।

मंत्र--तस्मैतृणं मिदधावेतदादत्स्वेति । तदुप प्रेयाय सर्वजवेन तन्न शशाकाऽदातु स तत एव निववृते नैतदशकं विज्ञातुं यदेतद्यक्ष- मिति ॥ १० । २३ ॥

(शब्दार्थ) तस्मै=वायु मे । तृणं=एक तिनके को । निदधौ=छोड़ दिया । एतत्=उसको । आदत्स्व=उठा ले जाना अर्थात् उड़ा दे । इनि=यह सुनकर । तत्=वह वायु । उपप्रेयाय=निकट गई । सर्वजवेन=सम्पूर्ण शक्ति से । तत्=वह । न=नहीं । शशाक=सकी । आदातुम्=उसको उठाना । स=वह । ततः=उससे । एव=है । निववृते= पृथक् होकर । न=नहीं । एतत्=उसको । अशकं=सकी ।

विज्ञातुम्=जान। यत्=जो। एतत्=यह। यक्षम्=पूजा के योग्य है। इति=यह।

(अर्थ) वायु की इस प्रतिज्ञा को सुनकर वह प्रत्येक वस्तु को जो संसार में है उड़ा सकती है, ब्रह्म ने एक तिनका वायु के सन्मुख रखकर कहा इसको उड़ाओ अथवा उठाओ। वायु सम्पूर्ण शक्ति से उसको उठाने के लिये उस तृण के पास गई परन्तु शक्ति व्यय करने पर भी उसे न उठा सकी। यह देख कर वायु उसी समय तिनके के पास से हट गई और कहा मैं नहीं जान सकती, यह क्या वस्तु है। आशय यह है कि स्पर्श इन्द्रिय अर्थात् त्वचा सम्पूर्ण शक्ति व्यय करने पर भी ब्रह्म को नही जान सकती। जब कि यह दो बलवान इन्द्रियाँ ब्रह्म के जानने में निष्फल हुई, और कोई भौतिक वस्तु ब्रह्म के जानने के योग्य न मालूम हुई तब सब इन्द्रियो ने मिल कर इनका राजा इन्द्र अर्थात् जीवात्मा है, उससे जाकर कहा कि हम तो इस पूजने योग्य तेज स्वरूप को नहीं जान सकते।

मंत्र—अथेन्द्रमब्रवन् मघवन्नेतद्विजानीहि किमेतद्यक्षमिति। तथेति तदभ्यद्रवत्तस्मात्तिरोदधे॥ ११। २४॥

(शब्दार्थ) अथ=पश्चात् अर्थात् अग्नि और वायु की शक्ति मालूम होने के पश्चात्। इंद्रं=इंद्रियों के राजा जीवात्मा को। अब्रुवन्=कहा। मघवन्=हे ऐश्वर्य्य के स्वामी। एतत्=इसको। विजानीहि=जानता है। किम्=क्या। एतत्=यह। यक्षम्=तेज स्वरूप पूजने योग्य है। इति=यह। तथा=ऐसा। इति, तत्=वह जीव अभी। अभ्यद्रवत्=ब्रह्म के सन्मुख गया। तस्मात्=उस जीवात्मा स। तिरः=ओट मे। दध=होगया।

(अर्थ) जब चक्षु और त्वचा की शक्ति विदित होने के पश्चात् इन्द्रियों ने जीवात्मा से कहा कि हम तो उसे नहीं जान सकते तू उसको मालूम कर। तब जीवात्मा इन्द्रियों से पृथक् होकर ब्रह्म को देखने गया, परन्तु वह यक्ष अर्थात् पूजने के योग्य तेज:स्वरूप इस जीवात्मा से अति निकट होने से छिप गया। जैसे आँख प्रत्येक वस्तु को देखती है, परन्तु उसके पास रहनेवाला सुरमा उससे छिपा रहता है अर्थात् आँख उसे नहीं देख सकती। ऐसे ही सुषुप्ति की दशा में सब इन्द्रियों को छोड़ कर भी जीवात्मा ब्रह्म के जानने में असमर्थ रहा।

मंत्र--स तस्मिन्नेवाकाशे स्त्रियमाजगाम बहु-शोभमानामुमां हैमवतीं ताᳬं होवाच किमेत-द्यक्षमिति ॥ १२ । २५ ॥

(शब्दार्थ) सः=वह जीवात्मा। तस्मिन्=उसी। एव=ही। आकाश=आकाश में जहाँ ब्रह्म छिप गया था। स्त्रियम्=एक स्त्री। आजगाम्=आ गई। बहु शोभमानां=अति शोभायुक्त। उमाम्=बुद्धि। हैमवती=सोने के भूषणों से शोभायमान्। ताम्=उसको। ह=जीव ने। उवाच=कहा। किम्=क्या। एतत्=यह। यक्षम्=पूजने के योग्य। इति=है।

(अर्थ) जब सुषुप्ति अवस्था के अनुकूल इन्द्रियों से पृथक् जीवात्मा ब्रह्म की खोज करने लगा, तब समाधि की दशा में सबको बतलानेवाली बुद्धि उसे दृष्टि आई। जो ब्रह्म-विद्या अर्थात् परमात्मा के भूषणों से शोभायमान होने के कारण बहुत ही शोभा प्राप्त कर चुकी थी। और प्रत्येक भाँति की

सिद्धियों के सुवर्ण भूषण उस बुद्धि को मिल चुके थे। जब जीवात्मा ने उस बुद्धि को देखा तो उससे पूछा कि यह पूजा करने योग्य तेज स्वरूप वस्तु थी जिसके जानने में प्रत्येक इंद्रिय अर्थात् देवता सम्पूर्ण अपनी-अपनी शक्ति व्यय करने पर भी व्यर्थ रहे, जिसको मैं भी न जान सका।

सारांश यह है कि न इन्द्रियों से परमात्मा का ज्ञान हो सकता है और न जीवात्मा ही उनके द्वारा परमात्मा को जान सकता है, केवल सूक्ष्म बुद्धि जो समाधि की दशा में या पूर्ण वैराग्य होने पर पैदा होती है, उसी से ब्रह्म का ठीक ज्ञान हो सकता है। जिसका ज्ञान अगले खंडों में आवेगा।

यह केनोपनिषद् का तीसरा खंड पूरा हुआ। अब बुद्धि ने जैसा ब्रह्म को बताया, उसका उपदेश करते हैं।

चतुर्थ खण्ड

मंत्र-सा ब्रह्मेति होवाच ब्रह्मणो वा एतद्विजये महीयध्वमिति। ततो विदांचकार ब्रह्मेति १।२६॥

(शब्दार्थ) सः=बुद्धि। ब्रह्म=परमात्मा। इति=है। ह=निश्चय पूर्वक। उवाच=बोली। ब्राह्मण=ब्रह्म की निश्चय पूर्वक। एतत्=यह। विजये=जीत। महीयध्वम्=महानता को प्राप्त करती है। इति=अंत में। तत्=उससे। ह=निश्चय। विदाञ्चकार=जीवात्मा ने मालूम किया। ब्रह्मेति=कि यह पूजा करने योग्य है।

(अर्थ) ब्रह्म-विद्या जो शुद्ध बुद्धि है उसने जीवात्मा को बताया कि सब देवता अर्थात् इन्द्रियों की सफलता है, वह ब्रह्म की सफलता है। और ब्रह्म के कारण से ही सब इन्द्रियों

को यह महिमा मिली है। क्योंकि इन्द्रियाँ जड़ अर्थात् ज्ञान से शून्य हैं और बिना ज्ञान के किसी को सफलता हो ही नहीं सकती। इस कारण जब तक ब्रह्म उनकी सहायता न करे तब तक ज्ञान किसी को हो नहीं सकता। और ब्रह्म जब सहायता करते हैं तो जीव को मेधा नामी बुद्धि देते है, जिससे जीव अपने स्वरूप और ब्रह्म को जानकर मोक्ष प्राप्त करता है। और जब तक मेधा बुद्धि प्राप्त न हो तब तक किसी दूसरी शक्ति से हम ब्रह्म को नहीं जान सकते। इस लिये जहाँ तक हम परिश्रम कर सकते हैं, हमें वेदों के अभ्यास अर्थात् बार-बार विचारने और परमात्मा की उपासना से वह बुद्धि प्राप्त करनी चाहिये।

मंत्र--तस्माद्वा एते देवा अतितरामिवान्यान्देवान् यदग्निर्वायुरिन्द्रस्ते। ह्येनन्नेदिष्ठं पस्पर्शुस्ते ह्येनत् प्रथमो विदांचकार ब्रह्मेति॥ २।२७॥

(शब्दार्थ) तस्मात्=उस कारण स। वा=निश्चय। एते देवाः=अग्नि वायु आदि। अतितराम=प्रतिष्ठा को प्राप्त करते हैं अब इसी भांति। अन्यान्=अन्य। देवान्=देवतों को। यत्=जो। अग्नि=तेज अर्थात् चक्षु। वायु=वायु अर्थात् त्वचा। इन्द्रः=जीवात्मा। ते=वह देवता। हि=निश्चय पूर्वक। एतत्=यह। यत्त=पूजा योग्य ब्रह्म को। नेदिष्ठम्=अति निकट होकर। पस्पर्शुः=उसको स्पर्श करके विदित किया। ते=वह देवता। ही=निश्चय करके। एतत्=उस ब्रह्म को। प्रथमः=पहले। विदाञ्चकार=मालूम करते या जानते हैं। ब्रह्म=परमात्मा। इति=यह है।

(अर्थ) जीवात्मा आँख और खाल सब से पहले उस ब्रह्म को अति निकट स्पर्श करने अर्थात् उसके गुणों को मालूम करते हैं। और इनके कारण से अन्य इन्द्रियाँ भी ब्रह्म के गुणों से ज्ञानी हो जाती हैं। नेत्र और त्वचा को अन्य इन्द्रियों पर इसी कारण प्रभुत्व है कि वह और इन्द्रियों से पहले सृष्टि में से ईश्वर के गुणों को जानती हैं। इन्द्रियाँ स्वयम् ब्रह्म को जानने योग्य नहीं और न जीवात्मा ही स्वयं अकेला ब्रह्म को जान सकता है, किन्तु शुद्ध बुद्धि से जोकि मन के मैल अर्थात् ग्लानि, विक्षेप अर्थात् चंचलता, आवरण इन तीनों दोषों से पृथक् होने की दशा में जो समाधि की दशा है उसी समय ब्रह्म का ज्ञान हो सकता है, अन्य अवस्था मे ब्रह्म का ज्ञान नहीं हो सकता।

मंत्र--तस्माद्वा इन्द्रो अतिबरा मिवान्यान्देवान् स ह्येनन्नेदिष्ठं पस्पर्श स ह्येनत्प्रथमा विदाञ्चकार ब्रह्मेति ॥ ३ । २८ ॥

(शब्दार्थ) तस्मात्=जिस कारण। वा=निश्चय। इन्द्रः=जीवात्मा। अतितराम्=अब अग्रगण्य बनता है। अन्यान्=अन्यों। देवान्=देवतों पर। सः=वह ही जीवात्मा। एतत्=इस बस को। नेदिष्ठं=अति समीप से। पस्पर्श=अनुभव किया। सः=वह। एतत्=उसको। प्रथमः=प्रथम। विदाञ्चकार=जानता है। ब्रह्म=परमात्मा। इति=यह।

(अर्थ) इन्द्रियाँ विना जीवात्मा के ब्रह्म को अनुभव नहीं कर सकतीं। केवल जीवात्मा ही बुद्धि की सहायता से परमात्मा को जानता है। और उसी की सहायता से इन्द्रियाँ

परमात्मा की बनाई हुई चीजों को ज्ञात करके उससे लाभ उठाती हैं। अतएव जीवात्मा सम्पूर्ण इन्द्रियों से बढ़कर है। एक-एक इन्द्रिय के पृथक् हो जाने से यह शरीर नितान्त बेकार नहीं हो जाता। अन्धा आदि कहलाने पर भी अपने कार्य को करता चला जाता है। परन्तु जीवात्मा के अलग हो जाने पर सम्पूर्ण इन्द्रिया की स्थिति में भी कोई कार्य नहीं हो सकता। कतिपय पुरुषों को यह संदेह होगा कि इन्द्रियो के विना जीवात्मा क्या काम कर सकता है। परंतु विचारशील मनुष्य भली प्रकार से जानते हैं कि जो काम जीवात्मा का है वह विना इन्द्रियों के भी पूरा हो सकता है। और शेष काम शरीर के है, उनके पूरा करने को इन्द्रियो की आवश्यकता है, अर्थात् जीवात्मा अपने कार्य में किसी अन्य के अधीन नही है।

प्रश्न—जीवात्मा का कौन सा काम है जो विना इंद्रियो के पूरा हो सकता है। हम तो कोई काम भी इन्द्रियों के विना होता नही देखते?

उत्तर—जीवात्मा का काम आनन्द भोगना है। सो वह उसी दशा में हो सकता है, जब इन्द्रियों से जीव का सम्बन्ध न हो। इस वास्ते समाधि, सुषुप्ति और मुक्ति दशाओं में जब कि जीवात्मा परमात्मा के संयोग से आनन्द भोगता है, इन्द्रियों से उसका सम्बन्ध नहीं रहता, और जिस अवस्था में जीवात्मा इन्द्रियों के साथ सम्बन्ध रखता है, उस दशा में उसे ब्रह्मानन्द प्राप्त ही नहीं होना।

प्रश्न—क्या कारण है कि जीव को इन्द्रियों की स्थिति में आनन्द नहीं मिलता?

उत्तर—इन्द्रियों के द्वारा बाह्य पदार्थों का ज्ञान होता है। और बाह्य पदार्थ सब प्राकृतिक हैं और प्रकृति में आनन्द

गुण मौजूद नहीं है। इसी कारण इन्द्रियों द्वारा आनन्द प्राप्त नहीं हो सकता।

प्रश्न—जब कि इन्द्रियों के विषयों के सम्बन्ध से जीव को आनन्द नहीं मिलता, तो क्यों इन्द्रियाँ जीव को विषयों में लगाती हैं?

उत्तर इन्द्रियाँ प्राकृतिक वस्तुएँ हैं, इसी कारण वह अपनी जाति प्रकृति से ही सम्बन्ध करती हैं। और प्रत्येक दलाल खरीदार को झूठी दूकान पर ही ले जाता है, क्योंकि वहाँ उसे दलाली मिलती है।

मंत्र--तस्यैष आदेशो यदेतद्विद्युतो व्यद्युतदा ३ इतीतिन्यमीमिषदा ३ इत्यधिदैवतम् ॥४।२६॥

(शब्दार्थ) तस्य=उस ब्रह्म का। एष=यह। आदेश=उपदेश है। यत्=जो। एतत्=यह। विद्युतः=बिजली। व्यद्युतत्=चमकती और छिप जाती है। आ=इस भाँति। इति=ऐसा। नामीमिषत=आँख बंद होती और खुलती है। आ=उसी प्रकार। इति=इस प्रकार। अधिदैवतम्=ब्रह्म भी प्रकट होता और छिप जाता है।

(अर्थ) उपरोक्त विषय को सिद्ध करने के वास्ते कहते हैं, वह परमात्मा जो ज्ञानी तथा कर्मकांडी मनुष्यों की दृष्टि में सर्वत्र प्रत्यक्ष दृष्टि आता है और अज्ञानी मनुष्य उसे मालूम नहीं कर सकते, इसी कारण उनसे छिपा है। और उस ब्रह्म का वैसा ही उपदेश है जिस प्रकार विद्युत् चमक कर छिप जाती है, जिस प्रकार आँख बन्द होती देखती है, इसी भाँति ब्रह्म के प्रत्यक्ष होने और छिप जाने को अलंकार के रूप में वर्णन किया है।

सारांश यह है कि न तो ब्रह्म को अज्ञानी मनुष्य ही समझ सकते हैं, क्योंकि वह इन्द्रियों से देखना चाहते हैं और न कर्म-हीन ज्ञानी पुरुष ही उस ब्रह्म को अनुभव करते हैं, केवल कर्म कांडी ज्ञानी मनुष्य ही जान सकते हैं। संसार में ब्रह्म की शक्ति विद्युत की भाँति प्रकाश होकर छिप जाती है। अर्थात् जिस समय मनुष्य एक विषय को छोड़कर दूसरे विषय मे लगता है तो दोनो विषयो के मध्य के समय में उसका ब्रह्म के साथ में सम्बन्ध होता है।

मंत्र—अथाध्यात्मं यदेतद्गच्छतीव च मनोऽनेन चैतदुपस्मरत्य भीक्ष्णा संकल्पः ॥ ५ । ३० ॥

(शब्दार्थ) अथ=इसके बाद। अध्यात्मम्=आत्मा के विषयक। यत्=जो। एतत्=यह। गच्छति=चलता है। इव=ऐसे। च=और। मानः=मन का। अनेन=इससे। एनत्=यह। उपस्मराति=समीप होकर याद करे। अभीक्ष्णम्=बारंबार। संकल्पः=मानसिक विचार।

(अर्थ) इन्द्रिय और इनके सहायक देवताओं के जानने के पश्चात् मनुष्य को आत्मिक कामो के पूर्ण करन के वास्ते परमात्मा अर्थात् सबसे बलवान् संसार की ओर मन की चंच-लता को चलाने का विचार करना चाहिये और मन को प्रत्येक सेकंड में परमेश्वर की उपासना में लगावे और उसकी उप-स्मृत करके आनन्द को प्राप्त करे। सारांश यह है कि बाह्य सम्ब-न्ध जो कि इन्द्रियों के द्वारा होते हैं उनको पृथक् करके मन के भीतर जो सर्वव्यापक परमात्मा है उसके ध्यान में लवलीन हो जावे और मल, विक्षेप और आवरणों का परदा जो जीव और ब्रह्म के मध्य है उसको कर्म उपासना और ज्ञान के सम्ब-

न्ध से दूर करके आत्मा को आत्मिक सन्मार्ग पर पहुँचावे अर्थात् मनुष्य को यह विचार दृढ़ता पूर्वक कर लेना चाहिये कि मेरा मन सर्वदा ब्रह्म की ही ओर ध्यावे। और ब्रह्म को छोड़ कर सांसारिक वासनाओं में जो मनुष्यों को सन्मार्ग से पृथक् ले जानेवाली हैं, न जावे, किन्तु हर समय ब्रह्म ही के ध्यान में बीते।

मंत्र—तद्ध तद्वनं नाम तद्वनमित्युपासितव्यं स य एतदेवं। वेदाऽभि हैनं सर्वाणि भूतानि संवाञ्छन्ति ॥ ६ । ३१ ॥

(शब्दार्थ) तत्=वह। ह=प्रसिद्ध। तद्वनं=दुःख से बचन के वास्ते रहने योग्य। नाम=प्रसिद्ध। तद्वनं=दुख से बचने के कारण परमात्मा का नाम। तद्वन इति=इस प्रकार। उपासितव्यं=उपासना करनी चाहिये। सः=वह। यः=जो। एतत्=इस ब्रह्म को। एवम्=इस प्रकार। वेद=जानता है। अभि=नितान्त। ह=निश्चय। ऐनं=उसको। सर्वाणि=संम्पूर्ण। भूतानि=जीव या भूत। संवांछन्ति=इच्छा करते हैं।

(अर्थ) उपरोक्त गुणों से गुणी जो ब्रह्म है जिसका कथन इस उपनिषद् में आया है, वही ब्रह्म दुःख से पृथक् रहने की इच्छा रखनेवालों को उपासना करने योग्य और प्रसिद्ध है। क्योंकि प्रकृति सत् है, जीवात्मा सच्चित है, केवल ब्रह्म ही सच्चिदानन्द है। जिसको आनन्द की इच्छा हो उसका उद्देश ब्रह्म की उपासना ही से पूर्ण हो सकता है। ब्रह्म के अतिरिक्त जीव और प्रकृति की उपासना करने से मनुष्य दुःखों से बिलकुल नहीं छूट सकता। मनुष्य यथार्थ ब्रह्म की उपासना

करना जानता है अर्थात् ब्रह्म का सच्चा विधान जो योग है उसको नियम पूर्वक करके ब्रह्म की उपासना करता है। संसार के समस्त विद्वान ऐसे मनुष्य की मन से भक्ति करते हैं, जिस प्रकार प्रकृति संसार में धन की इच्छा रखनेवाले धनी के पास जाते है। ऐसे ही ईश्वर-भक्ति के इच्छुक नियम पूर्वक योग करनेवाले के पास जाते है। अब चेला अर्थात् शिष्य पुनः गुरु से प्रश्न करता है। यहाँ तक गुरु का उपदेश है, अब गुरु और चेले दोनों के प्रश्नोत्तर हैं।

मंत्र—उपनिषदं भो ब्रूहीत्युक्ता त उपनिषद् ब्राह्मीं वाव त उपनिषदमब्रूमेति ॥ ७। ३२ ॥

(शब्दार्थ) उपनिषद्=गुप्त भेद अर्थात् ब्रह्म-विद्या। भो= हे गुरु। ब्रूहि=वर्णन कर। इति=यह। उक्ता=जो कहा है। ते=तुझ का। उपनिषद्=गुप्तभेद। ब्राह्मी=परमात्मा के सम्बंध वाव=निश्चय। ते=तुझ को। उपनिषदं=ब्रह्म-विद्या। अब्रूम्= कह चुका। इति=समाप्ति तक।

(अर्थ) शिष्य ने गुरु से कहा-हे गुरु! अब तुम मुझ को ब्रह्म-विद्या का भेद बता दो। तब गुरु ने कहा कि जो कुछ ब्रह्म-विद्या के सम्बन्ध से मनुष्य को ज्ञान हो सकता है, वह मैं तुमको बता चुका। तब शिष्य ने कहा जो कुछ आपने बताया है, इसमें जो कुछ शेष रह गया हो, उसको आप बतावें। गुरु ने कहा मैं ब्रह्म का उपदेश तुझको कर चुका, अब कुछ बताना शेष नही। निश्चय जिस कदर ब्रह्म विद्या संसार में है उसको मैं तुझ को बतला चुका हूँ। अब इसमें कुछ बतलाना बाकी नहीं है।

प्रश्न—जब कि गुरु ने चेले को सम्पूर्ण ब्रह्म-विद्या का उपदेश कराया था, तो शिष्य को ब्रह्म के सम्बन्ध मे संदेह क्यों रहा? जिससे उसने यह कहा कि और जो बाकी है उपदेश करिये।

उत्तर—ब्रह्म-विद्या श्रवण अर्थात् गुरु से उपदेश सुनने, उसको युक्ति से रात दिन विचारने, निध्यासन उस पर नियम पूर्वक कर्म करने से होता है। और गुरु उपदेश केवल श्रवण है। मनन और निध्यासन की कमी थी इसलिए चेले को ब्रह्म-विद्या का स्पष्ट ज्ञान नहीं हुआ, अतएव उसने गुरु से प्रश्न किया।

मंत्र—तस्यै तपो दमः कर्मेति प्रतिष्ठा। वेदाः सर्वाङ्गानि सत्यमायतनम् ॥ ८। ३३ ॥

(शब्दार्थ) तस्यै=उसमें प्रवेश करने को। तपः=तप करना अर्थात् क्षुधा, तृषा, शीतोष्ण का सहन करना। दम = मन को वश में रखना। कर्म=वेदानुकूल कर्मों का करना। इति=यह। प्रतिष्ठा=प्रतिष्ठा वेदाः=ऋग यजुर साम, अथर्व चारों वेद। सर्वांगानि=वेद के छः अङ्ग और छः उपाङ्ग अर्थात् शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द ज्योतिष यह वेद के अङ्ग। न्याय-दर्शन, वैशेषिक-दर्शन, सांख्य दर्शन, योग, मीमांसा, वेदान्त दर्शन यह छै वेद के उपाङ्ग है। सत्यम्=सत्य बोलना उसके अनुकूल कर्म करना और सत्य स्वरूप परमात्मा के सहारे रहना। आयतनम्=रहने का स्थान है।

(अर्थ) ब्रह्म का पूर्ण उपदेश करके उसके प्राप्त होने के आवश्यकीय सामिग्री का उपदेश करते हैं अर्थात् ब्रह्म को जानने

के वास्ते, मल दोष को दूर करने के वास्ते, तप और कर्म की जरूरत है। अर्थात् जब तक तप न हो, वह इन्द्रियों की इच्छा को दबा नहीं सकता और जब तक वेदानुकूल कर्म नहीं करता तब तक मन को बुरे कर्मों की इच्छाओं से रोक नहीं सकता। अतः प्रथम साधन तप और कर्म है। उसके पश्चात् विक्षेप दोष को दूर करने के वास्ते मन को रोकने की आवश्यकता है। जिससे वह चंचल न रह कर एक स्थान पर स्थिर हो जावे। उसके वास्ते ईश्वर उपासना के नियम योग को काम में लाने की ज़रूरत है। पुनः आवरण दोष को दूर करने के वास्ते वेदों की शिक्षा की आवश्यकता है और वेदों के ठीक ठीक आशय को समझने के वास्ते ६ अङ्ग और ६ उपाङ्ग के जानने की आवश्यकता है।

जब तक मनुष्य वेदों के अंग और उपांग को नही जानता तब तक वह वेद को ठीक तौर पर नहीं जान सकता। और जब तक वेदों को यथावत् न समझ ले तब तक उसे ब्रह्मज्ञान नहीं हो सकता। परन्तु यह सब ज्ञान भी सत्य के साथ रहने से काम आता है, क्योंकि सत्य ही इन सबके रहने का स्थान है। जब तक सत्य न हो, तब तक कर्म, दम और वेदों का ज्ञान यथार्थ हो नहीं सकता। अतः सत्य सब साधनों मे एक उत्तम साधन है।

मंत्र—योवा एतामेवं वेदाऽपहत्य पाप्मानमन्ते।
स्वर्गे लोके ज्येष्ठे प्रतितिष्ठति प्रतितिष्ठति ६।३४॥

(शब्दार्थ) य=जो आदमी। वै=निश्चय। एताम्=इस ब्रह्म-विद्या को। एवम्=इस नियम से। वेद=जानता है। अपहत्य=नाश करके। पाप्मानम्=अनन्त जन्मों के महा पापों

को अर्थात् अनन्त पापयुक्त स्वभाव को। अनन्ते=अनन्त। स्वर्गे=सुख के कोष। ज्येष्ठे= सबसे उत्तम परमात्मा में। प्रतितिष्ठति=अवश्य स्थिर होता है अर्थात् अन्य वासनाओं से बचकर केवल परमात्मा में लग जाता है। प्रतितिष्ठति= अवश्य स्थिर होता है। यहाँ दो बार आने का मतलब समाप्ति और विशेष ध्यान से है।

(अर्थ) जो आदमी उक्त श्रुतियों से बताई हुई ब्रह्म विद्या को यथार्थ जानता है अर्थात् पूर्ण विश्वास के सीमा तक पहुँचा देता है, वह मनुष्य बहुत समय से एकत्रित पापो के स्वभावों से बचकर अन्त का सर्व सुखसागर परमात्मा में स्थिर होकर आनन्द भोगता है और जब तक मनुष्य ब्रह्मज्ञान को अनियम जानने का परिश्रम करता है, तब तक उसे ब्रह्म का ज्ञान ही नहीं होता। जब तक ब्रह्म का ज्ञान न हो, तब तक सुख प्राप्त नहीं होता।

हिन्दी अनुवाद केनोपनिषद् का समाप्त हुआ।

ओ३म्

शान्तिः शान्तिः शान्तिः।



* ओ३म् *

कठोपनिषद्

का

हिन्दी अनुवाद



मंत्र–उशन् ह वै वाजश्रवसः सर्ववेदस ददौ ।
तस्य ह नचिकेता नाम पुत्र आस ॥ १ ॥

(शब्दार्थ) उशन्=मुक्ति की इच्छा रखनेवाला। ह वै= भूत काल की घटनाओं को स्मरण दिलाने के वास्ते इन शब्दों का प्रयोग होता है । वाजश्रवसः=वाजश्रवस नामी विद्वान् । सर्ववेदसम्=जो उसके पास बाह्य धन था । ददौ= वह उसने दानकर दिया । तस्य=उस विद्वान् का । ह= प्रसिद्ध । नचिकेता=यह नाम है । नाम=उक्त नामवाला । पुत्रः=पुत्र । आस=हुआ था ।

(अर्थ) वाजश्रवस नामी ऋषि ने मोक्ष की अभिलाषा से अपना सम्पूर्ण धन, गौ आदि पशु जो कुछ था (इस विचार से कि जब तक सम्पूर्ण पदार्थों को न छोड़ दे मोक्ष प्राप्त नहीं हो सकती) दान कर दिया । उस ऋषि का एक पुत्र नचिकेता

नामी था। इस प्राचीन गाथा को लोगों को मुक्ति के साधनों का उपदेश करने के लिये वर्णन करते है।

मंत्र—तꣳ ह कुमारꣳ संतं दक्षिणासु। नीयमानासु श्रद्धाऽऽविवेश सोऽमन्यतं ॥ २ ॥

(शब्दार्थ) तम्=उस नचिकेता। ह कुमारम्=कुमार बालक को। सत्तम्=उपस्थित मे। दक्षिणासु=दक्षिणाओं के नीयमानासु=नियम बद्ध दिये जाते हुए। श्रद्धा=धर्म का विचार। आविवेश=पैदा हो गया कि यह क्या काम मेरा पिता करने लगा है। स.=उस नचिकेता ने। अमन्यत=निज मन मे ऐसा विचार किया।

(अर्थ) कुमारावस्था होने पर भी उस नचिकेता के मन में धर्म की श्रद्धा उत्पन्न हो गई। उसने विचार किया कि मेरा पिता यह धर्म के स्थान में क्या अधर्म करने लगा है क्योंकि यज्ञ की दक्षिणा में जो गौवे थीं वह बूढ़ी थी और बूढ़ी गौओ के दान से धर्म के स्थान में अधर्म होता है। दान इस कारण दिया जाता है कि औरों को लाभ पहुँचे। जिस दान से लाभ के स्थान में हानि पहुँचे और देनेवाले को विदित हो कि इस दान से लेनेवाले का कोई लाभ नहीं होगा किंतु हानि पहुँचेगी, तो वह दान पाप है, जैसा कि आगे प्रकट होगा।

मंत्र--पीतोदका जग्ध तृणा दुग्धदोहा निरिंद्रियाः। अनन्दा नाम ते लोकास्तां स गच्छति ता ददत् ॥ ३ ॥

(शब्दार्थ) पीतोदकाः=युवावस्था में जिनका दुग्ध पिया

जा चुका हो। जग्धतृणाः=घास जिन्होंने खाया हो। दुग्धदोहाः=जिनका दूध दुहा जा चुका हो। निरिन्द्रियाः=जब संतान उत्पन्न करने से जो बहुत वृद्ध हो गई हों। आनन्दाः=सुख और आनन्द से रहित जिसमें उन्नाते न हो। ते=वह। लोका=शरीर जन्म। तान्=उन जन्मों को। गच्छति=जाता है अर्थात् इस प्रकार के जन्म में सुख का नाम भी नहीं उस आदमी को मिलता है। तादद्त्=जो इस भाँति की वृद्धा गौ दान करता है।

(अर्थ) युवावस्था की दशा में जब गौ दूध देने योग्य नहीं और जंगल से घास चरकर नि:शुल्क दूध पिलाती हैं तब तो इनका दूध पीते रहे, जब वह बहुत बूढ़ी होने के कारण दूध देने के योग्य न रहे तब उनको किसी पुरोहित अथवा पंडा को दान कर दिया। इस प्रकार का दान करनेवाले मनुष्य उन योनियों अर्थात् जन्मों को प्राप्त करते हैं कि जिन योनियों में आनन्द का नाम भी नहीं सुनाई देता, आनन्द मिलना तो दूर रहा।

प्रश्न—क्या दान करने से भी नर्क मिलता है? हम गौ-दान करने का बड़ा महात्म्य प्रायः सुनते है।

उत्तर—यह कृतघ्नता है। गौ-दान करनेवाले की या 'गोदान' क्योंकि जब तक उससे लाभ मिला उसको प्राप्त किया। अब जब कि लाभ मिलने की आशा न रही, तब दूसरे के गले मढ़ दिया। यह बहुत बड़ा पाप है। कृतघ्नता से बढ़कर कोई पाप नहीं।

प्रश्न—कृतघ्नता को इतना बड़ा पाप क्यों माना?

उत्तर—क्योंकि इस पाप से मूर्खों के मन में नेकी से घृणा उत्पन्न होती है। वह जानते हैं कि अमुक मनुष्य ने उपकार किया था उसको यह फल मिला। अगर हम उपकार करेंगे

तो हमारी भी वही दशा होगी। सुतराम वह शुभ कामों से पृथक् रहते हैं। जिससे संसार में नेकी को बहुत हानि पहुँचती है। अतः संसार से भलाई दूर करना महा पाप है।

मंत्र--स होवाच पितरं तत कस्मै मां दास्यसीति, द्वितीयं तृतीयम तथंहोवाच मृत्यवे त्वा ददामीति ॥ ४ ॥

(शब्दार्थ) सः=उस नचिकेता ने। उवाच=कहा। पितरम्=अपने पिता को। तत=प्रिय। कस्मै=किसका। मां=मुझ को। दास्यसीति=दोगे। द्वितीयम्=अन्य को। तृतीयम्=तीसरे को। ह उवाच=उस बालक से पिता ने कहा। मृत्यवे=मौत को। त्वा=तुझ को। ददामि=देता हूँ। इति=यह।

(अर्थ) इस विचार से नचिकेता ने अपने पिता से कहा कि तुम मुझको किसको दोगे। तब उसके पिता ने उत्तर दिया कि तुझको मृत्यु अर्थात् मौत को दूँगा। इसके दो अर्थ हो सकते हैं कि तूने उद्दंडता की है, इस कारण तुझको जान से मार डालूँगा, या मृत्यु नाम किसी ऋषि का होगा, उसको दूँगा। यदि प्रथम का अर्थ लिया जावे तो ठीक नहीं मालूम होता, क्योंकि उस नचिकेता ने ऐसा अपराध नहीं किया था जो मौत के योग्य होता। प्रथम तो नचिकेता ने इसका फल विचारा था कि पिता जिस भूल को करने लगा है, इसका फल पिता को दुःख होगा। इस कारण इसने कहा था कि मुझको किसको दोगे। क्योंकि पुत्र से अधिक मूल्य की वस्तु दूसरी हो नहीं सकती। पुत्र उसको दक्षिणा में देने से

बुरा गौदान देने का पाप न होगा। क्योंकि अच्छा बुरा जो पास था सब ही दे दिया, यदि अच्छा न दिया केवल बुरा ही बुरा दिया, तो पाप लगेगा। जबकि नचिकेता सच्चे मन से कह रहा था तो उसके गले पाप किस प्रकार लग सकता है। जब इसका दोष नहीं, तो साधारण मनुष्य भी इस कठोर दंड को नियत नहीं कर सकता, तो ऋषि क्यो करने लगा था। अतः पहला अर्थ ठीक नहीं मालूम होता। दूसरी बात यह भी है कि मृत्यु को दूँगा ऐसा किस प्रकार कहते है, क्योंकि मौत के अर्थ शरीर और जीव का वियोग है, शरीर तो यही आग में जला दिया जाता है, यदि गया, तो जीव गया। जीव का नाम नचिकेता नहीं और न जीव के देने का ही उसको अधिकार है, अतः ऋषि क कहने से और आगे के विषय से प्रत्यक्ष प्रकट होता है कि ऋषि ने ऐसा शब्द कहा कि जिससे नचिकेता को दंड भी हो जावे अर्थात् वह डर भी जावे और ऋषि का कथन भी पूर्ण हो सके।

मंत्र–बहूनामेमि प्रथमो बहूनामेमि मध्यमः।
किंस्विद्यमस्य कर्त्तव्यं यन्मयाऽद्य करिष्यति५

(शब्दार्थ) बहूनाम्=बहुत से शिष्यों में। एमि=प्राप्त करूँगा। प्रथमः=प्रथम नम्बर। बहूनाम्=बहुत से लड़कों मे। एमि=प्राप्त करूँगा। मध्यमः=मध्यम संख्या किसी से बुरा नहीं। किम्=कौन सा। स्वित्=अधिकार। यमस्य=मौत का ही। कर्त्तव्यं=काम है। यत्=जो। मया=मेरे द्वारा। अद्य=आज। करिष्यति=करेगा।

(अर्थ) पिता की इस बात को सुनकर नचिकेता सोचने लगा कि पिता ने यह आज्ञा क्यों दी। बहुत से लड़कों में जो

मेरे साथ पढ़ते है मैं प्रथम हूँ और बहुत से लड़को मे मध्यम हूँ, मैं बुरा किसी दशा में नहीं। फिर मौत का कौनसा काम है जो मेरे द्वारा प्राप्त होगा। जिसके वास्ते मुझे पिता ने यह आज्ञा दी। क्योंकि ऐसी कठोर सजा का उसका देना इस खराबी से लोग बच जाये जैसा मै खराब हूँ। या इस कारण से कि उसकी मौत से दूसरे का उपकार हो, सो मौत का कौनसा काम है जो आज मेरे मरने से पूर्ण होगा। इस कारण से नचिकेता डर गया और पिता को क्रोध मे देखकर बोला—

मंत्र—अनुपश्य यथा पूर्वे प्रतिपश्य तथा परे।
सस्यमिव मर्त्यः पच्यते सस्यमिवा जायते पुनः ६॥

(शब्दार्थ अनुपश्य=मन मे विचार कर देखो। यथा= जैसे थे। पूर्वे=पहले धीमान् लोग अथवा विचार कर देखो जैसे पितादि। प्रतिपश्य=सब चल दिये तथा=ऐसे। परे= जिस प्रकार वह अपनी बात को मानते है अर्थात् जो कुछ दिया उस पर अमल करते हैं। सस्यमिव=ऐसे ही। मनः= हाल के विद्वान् भी बात पर अमल करते है, तुम अपने इस प्रण पर किसको दोगे अमल करो क्योंकि। पच्यत=यवादि के खेत की भाँति कटनेवाला यह शरीर पककर नाश हो जाता है। सस्यमिव=और उसी खेत की भाँति। जायते= उत्पन्न होता है। पुनः=दो बार।

(अर्थ) पिता को क्रोध की दशा में देखकर नचिकेता को विचार उत्पन्न हुआ कि क्रोध की दशा में मुझे मौत के देने को कह तो चुका है, परन्तु अब उससे हिचकिचाता है। तब नचिकेता ने कहा—हे पिता! तुम अपने बाप दादादि बड़ों की ओर देखो कि उन्होंने अपनी प्रतिज्ञा को नहीं छोड़ा और अपने धर्म के

वर्तमान काल के विद्वानों की ओर देखो, वह भी प्रतिज्ञा भंग नहीं करते, जो कह देते हैं उसको पूरा करते है। अतः तुम मुझ को बिना किसी चिन्ता के मौत का देदो, क्योंकि इस प्रण को पूरा न करना आपके वास्ते अच्छा नही है। जिस प्रकार खेत उत्पन्न होता है तब हरा भरा मालूम होता है, ऐसे ही समय पर पककर शुष्क हो जाता है, फिर दोबारा नाश होकर उत्पन्न हो जाता है। यही दशा इस शरीर की है। इसमे उत्पन्न और नाश दोनो ही होते हैं, कोई वस्तु ऐसी नही जो पैदा हो और नाशवान् न हो। इस कारण मेरी मौत की चिता न करो। क्योंकि यह शरीर अनित्य है सदा रहनेवाला नहीं। धनादि भी नही रहते और मौत एक दिन अवश्य आनी है। इस कारण धर्म को संग्रह करने का उद्योग करो। ऐसी बात का पूरा न करना ठीक नही, तुम मुझको मौत को देदो। नचिकेता की इस दृढ़ता को देखकर पुराने ब्रह्मचारियों की दशा का पता चलता है।

मंत्र—वैश्वानरः प्रविशत्यतिथिर्ब्राह्मणोगृहान्। तस्यैताꣳशान्ति कुर्वान्ति हर वैवस्वतोदकम् ॥७॥

(शब्दार्थ) वैश्वानरः=अग्नि की भाँति जिस ब्रह्मचारी का मस्तक चमकता हो। प्रविशति=प्रवेश किया है। अतिथि= नेक सदाचारी विद्वान् जिसके आने की कोई तिथि नियत नहीं। ब्राह्मणः=ब्राह्मण कुल में उत्पन्न हुआ या ब्राह्मण के गुण कर्म स्वभाव वाला। गृहान्=घरों में। तस्य=इसकी। एताम्= धर्मात्मा लोग प्रतिष्ठा करते है। शांतिम्=शांति। कुर्वान्ति= करते है। हर=प्राप्त करो। वैवस्वत=सूर्य के समान तेजस्वी नचिकेता के लिये। उदकम्=जल।

(अर्थ) नचिकेता के इन शब्दों को (जो उपरोक्त वर्णन किये गये हैं) सुनकर उसके पिता ने मृत्यु नाम आचार्य के पास भेज दिया। और जब नचिकेता जा ब्रह्मचर्य्य के ठीक पालन करने के कारण अग्नि की भाँति तेज रखता था। जिसने ब्रह्मचर्य्य तेज को प्राप्त किया था। जिस समय मृत्यु नामी आचार्य के भवन में प्रवेश किया, यद्यपि नचिकेता के मृत्यु आचार्य या यमाचार्य के भवन पर जाने की कोई तिथि नियत नहीं थी, इस कारण इस अतिथि को घर में प्रवेश होते देखकर मृत्यु नामी आचार्य की स्त्री ने जलादि देकर नचिकेता को शांति करना चाहा। परन्तु नचिकेता ने इस विचार से कि पिता ने मृत्यु के पास भेजा है और मृत्यु यहाँ पर नहीं, मृत्यु के मिले विना अन्य कोई काम करने से पिता की आज्ञा पूर्ण नहीं होगी। अतः तीन दिन तक जब तक आचार्य नहीं आये विना अन्न-जल के उनके मकान पर निवास किया। सब के कहने पर भी पिता की आज्ञा के विरुद्ध करना उचित नहीं समझा।

प्रश्न—बहुत से मनुष्य यहाँ मृत्यु का अर्थ मौत लेते हैं।

उत्तर—जिसके पिता का दसवाँ या जिसको दसवाँ कहते थे वह मौत का चिह्न कैसे हो सकता है। क्योंकि मौत कोई द्रव्य नहीं, किन्तु शरीर और आत्मा के वियोग का नाम है। और आगे जो इतिहास आता है वह स्पष्ट शब्दों में प्रकट करता है। भला मृत्यु का कौन सा घर है जहाँ जावे, उसकी स्त्री आदि कौन सी है। इसलिये यहाँ मृत्यु नाम एक आचार्य का है।

मन्त्र–आशाप्रतीक्षे सङ्गतꣳ सूनृतञ्चेष्टापूर्ते पुत्र पशूꣳश्च सर्वान् । एतद् वृङ्क्ते पुरुषस्याल्पमेधसो यस्यानश्नन् वसति ब्राह्मणो गृहे ॥ ८ ॥

(शब्दार्थ) आशा=जो वस्तु लाभदायक हो उसकी इच्छा से माँगने का नाम आशा है। प्रतीक्षे=जिस वस्तु का स्वरूप ठीक प्रकार नहीं जाना इसके प्राप्त करने के इन्तिजार का नाम प्रतीक्षा है। सङ्गतम्=सत्संग से जो फल प्राप्त होता है। सूनृताम्=दया से जो कहा जाता है। इष्टा पूर्ते=यज्ञादि कर्म का फल तथा बावली, कुवाँ तालाब वाटिका, उपवन लगाना आदि जो धर्म के काम है इसका फल। पुत्र=बेटे और शिष्य। पशून्=गाय, भैंस, बैल, घोड़े, आदि पशु। सर्वाणि=सबको। एतद्=सबके फल को। वृङ्क्ते=नाश कर देता है वा भगाता है। पुरुषस्य=पुरुष के। अल्पमेधसे=जिसकी बुद्धि बहुत थोड़ी हो। यस्य=जिसके। अनश्नन्=विना खाये पिये। वसति=रहता है। ब्राह्मणः=परमात्मा अथवा वेद के जाननेवाला या ब्राह्मण कुल मे उत्पन्न हुआ। गृहे=घर मे।

(अर्थ) जितनी लाभदायक वस्तु की अभिलाषा की है, प्रार्थना की है, जितनी अनजानी वस्तुओं की बाट देखनी है, जितना सत्संग करके फल प्राप्त किया है, जिस कद्र अग्निहोत्रादि यज्ञ किये है, जितनी बावली बनवाईं, कुवें खुदवाये, तालाब, बनवाये, बाग लगवाये और जो शुभ काम किए है अनाथालय बनवाये और अश्वादि जितने घर में पशु हैं इन सबको हानि पहुँचती है, जिस अल्पबुद्धि के मकान पर आया हुआ वेद का जाननेवाला अतिथि विना अन्न जल पाये (भूखा प्यासा) लौट जावे। आशय यह कि जिस मूर्ख के घर में विद्वान् अतिथि विना खाये पीये रात्रि को रहे, उसको महा पाप होता है। जिस प्रकार की आज्ञा अतिथि की सेवा की वेद ने प्रदान की है यदि इसी प्रकार मनुष्य उसका पालन करे

तो संसार में से सब दोष दूर हो जावें और कोई देश भी अज्ञान से भरा हुआ दृष्टि न पड़े।

प्रश्न—क्या कारण है कि ब्राह्मण को भूखा रखने से इतनी हानि बताई?

उत्तर—चूंकि ब्राह्मणों का जीवन विद्या और परोपकार के लिये है, इस हेतु जब तक विद्वानों और परोपकारों का संस्कार होता है तब तक वह विना किसी सामान के उपदेश करते हैं और जहाँ उनकी प्रतिष्ठा में कमी हुई वहाँ उपदेश के काम में विघ्न उत्पन्न हुआ। और उपदेश का काम बिगड़ने से दोष फैल जाते हैं। संसार के सदाचार को नियम में रखनेवाले ब्राह्मण ही हैं।

प्रश्न—आज कल तो अधिक तर ब्राह्मण निकृष्ट काम करते हैं।

उत्तर—ब्राह्मणादि गुण कर्म से होते हैं, जिनमे ब्राह्मणों का गुण कर्म स्वभाव नही वह ब्राह्मण नही कहला सकते।

प्रश्न—तुमने ब्राह्मण की संतान को ब्राह्मण बताया है।

उत्तर—जहाँ ब्रह्मचर्य आश्रम के अन्दर किसी ब्रह्मचारी को ब्राह्मण कहा जावेगा वह मा बाप के कारण से होगा और दूसरे आश्रमों में गुण कर्म से।

मन्त्र—तिस्रो रात्रार्यदवात्सीर्गृहे मेऽनश्नन् ब्रह्मन्नतिथिर्नमस्यः। नमस्तेऽस्तु ब्रह्मन्! स्वस्ति मेऽस्तु तस्मात्प्रति त्रीन् वरान् वृणीष्व॥ ९॥

(शब्दार्थ) तिस्रः=तीन। रात्रीः=रात तक है। यत् अवात्सी=जो उपवास किया है। गृहे=घर में। मे=मेरे।

अनश्नन्=विना खाये पिये। ब्राह्मणः=हे ब्राह्मण। अतिथिः= पूजा के योग्य जिसके आने का दिन नियत न हो। नमस्ते-ऽस्त=मै तुम्हारा मान और सत्कार करता हूँ इसे स्वीकार करो। नमस्य =नमस्कार के योग्य। ब्रह्मन्=ब्राह्मण के धर्म से युक्त। स्वस्ति=कल्याण। मे=मेरा। अस्तु=हो। तस्मात्=इस कारण से एक दिन के बदले। प्रति=एक पहर। त्रीन्=तीन। वरान्=ख्वाहिशो को। वृणीष्व= माँग ले।

(अर्थ) ज़ब यमाचार्य ने घर पर एक ब्राह्मण को तीन दिन तक उपवास करने का हाल सुना, तब उससे कहा—हे ब्राह्मण! तू जो तीन दिन तक मेरे घर मे विना खाये पिये रहा है और अतिथि का भूखा रहना गृहस्थ के वास्ते बड़ा पाप है। इस हेतु इस (अतिथि) पूजा क योग्य मै तुम्हारी प्रतिष्ठा करता हूं, मैं तुझ को नमस्ते करता हूँ। तुम इस पाप से मुझे बचाने के लिये तीन वर माँगो, जिससे मेरा कल्याण हो। क्योंकि अज्ञात पाप का प्रायश्चित्त होता है। मेरी अनुपस्थिति में जो तुमको कष्ट हुआ है, इस पाप से विना प्रायश्चित्त के मेरा कल्याण नही हो सकता। अतः तुम मुझ से तीन वह माँगो। जिससे तुम्हारे मन को जा दुःख हुआ है वह दूर हो जावे और मेरा पाप दूर हो जावे। जब तक तुम प्रसन्न होकर मेरा अप-राध क्षमा नही करते, तब तक गृहस्थ धर्मानुकूल मेरा कल्याण कठिन है। एक एक रात्रि के दुःख के बदले एक-एक वर माँग लो।

मृत्यु के इस वाक्य को सुनकर नचिकेता तीन वर माँगने के वास्ते उद्यत हुआ, प्रथम वर यह माँगा।

मन्त्र--शान्तसंकल्पः सुमना यथा स्याद्वीतमन्यु-गौतमो माभि मृत्यो। त्वत्प्रसृष्टं माभिवदेत् प्रतीत एतत् त्रयाणां प्रथमं वरं वृणे ॥ १० ॥

(शब्दार्थ) शांतसंकल्पः=जिसके मन की चंचलता शांत हो गई हो। सुमनाः=मन प्रसन्न हो गया। यथा=जिस प्रकार। वीतमन्यु=क्रोध नष्ट हो गया हो। गौतम=गौतम के कुल में उत्पन्न हुआ मेरा पिता। यामभि=तुझको। मृत्यो=मृत्यु नाम वाले आचार्य। त्वत्प्रसृष्टम्=तेरे भेजे हुए। मां=मुझको। अभि=सम्बोधित। वदेत्=करके। प्रतीत=प्रसन्न होने का हाल पूछ चुप न रहे। एतत्=यह जानकर वही नचिकेता है जिसको मृत्यु के पास भेजा था। त्रियाणां=तीन वरों में से। प्रथमम्=प्रथम। वरम्=आवश्यकीय वस्तु है। वृणे=माँगता हूँ।

(अर्थ) नचिकेता ने यमाचार्य से कहा कि—हे गुरु! जिस प्रकार गौतम के कुल में उत्पन्न हुआ मेरा पिता मन के विकारों से मुक्त हो जावे, इसके चित्त में जो चिन्तादि हैं वह सब नष्ट हो जावे और ऊपर से प्रसन्न दृष्टि पड़े। और जब तुम्हारे भेजने से मैं जाऊँ तो मुझ से कुशल क्षेम पूछे। क्रोधादि के कारण चुप न रहे और मुझे जान करके कि यह वही नचिकेता है जिसको मृत्यु के पास भेजा था सम्मुख होकर बोले। सबसे प्रथम वर इन तीनों में से मुझे यह है। चूंकि नचिकेता के मन में आरम्भ से पिता की मंगल कामना थी। उसने जो कुछ कहा था अपने स्वार्थ से नहीं किंतु पिता की मंगल कामना से। अतएव वरों में भी प्रथम उसने वही वर माँगा जिससे उसका पिता क्रोध से बच जावे। जिस क्रोध से पिता ने पुत्र को मृत्यु

को देने का प्रण कर लिया था। दूसरे पिता की शांति से मन को शांति का वर माँगा। क्योंकि जिस शांति के वास्ते पिता ने इतना पुरुषार्थ किया था और सब कुछ दान किया था उसी शांति की पुत्र ने इच्छा की और जाना कि मुझ से वह अप्रसन्न न रहे। भारत की पुत्र-भक्ति तो दुनिया में अनुपम है। कोई अयोग्य पुत्र भारत में कम मिलेगा जो पिता को दुःख देना चाहता हो, जिसके मनमें उसको सुख पहुँचाने का विचार न हो।

नचिकेता के इस वर माँगने पर मृत्यु आचार्य यह कहते हैं।

मंत्र—यथा पुरस्ताद्भविता प्रतीत औद्दालकि रारुणिर्मत्प्रसृष्टः। सुखꣳरात्रीः शयिता वीत-मन्युस्त्वां ददृशिवानमृत्युमुखात् प्रमुक्तम् ॥ ११ ॥

(शब्दार्थ) यथा=जैसे प्रेम से युक्त। पुरस्तात्=जैसे पहले था। भविता=हो जायगा। प्रतीत=यह जानकर कि वही नचिकेता है। औद्दालकिः=और एक। आरुणिः= अरुण की संतान वाजश्रवस तेरा पिता। मत्प्रसृष्टः=मेरे बताने से या सूचना पहुँचाने से। सुखम्=सुख से मन प्रसन्न हुआ। रात्रीः=रात को। शयिता=सोनेवाला होगा। वीतमन्युः=क्रोध से रहित होकर। त्वाम्=तुझ नचिकेता अपने पुत्र को। ददृशिवान्=देखेगा। मृत्युमुखात्=मृत्यु के मुख से। प्रमुक्तम्=छूटा हुआ।

(अर्थ) नचिकेता को मृत्यु आचार्य ने वर दिया कि जिस प्रकार तेरा पिता पहले प्रसन्न था ऐसे ही तुझको पहिचान कर कि यह वही नचिकेता है प्रसन्न होगा। और रात को पहले की भाँति सुख से सोवेगा और उसका (तेरे पिता का) सब क्रोध

दूर होगा। जितनी बातें नचिकेता ने माँगी थीं उतनी ही यमाचार्य ने उसको देदीं। अब दूसरा वर नचिकेता ने माँगा।

मंत्र--स्वर्ग लोके न भयं किञ्चनास्ति न तत्र त्वं न जरया बिभेति। उभे तीर्त्वाऽशनाया-पिपासे शोकातिगोमोदते स्वर्गलोके ॥ १२॥

(शब्दार्थ) स्वर्ग=सब से अधिक सुख जिस स्थान पर मिले उसे स्वर्ग कहते है। लोके=जो यज्ञादि कर्म के फल से देखने योग्य जन्म या विशेष स्थान सुख का हो। न=नहीं। भयम्=भय। किंचन=किसी प्रकार का। न=नहीं। अस्ति=बुढ़ापे का। न=नहीं। तत्र=स्वर्ग में। त्वम्=तुम बताओ। न=नहीं। जरया=बुढ़ापे से। बिभेति=भय पाता है। उभे=दोनो को। तीर्त्वा=तर के। अशनाया=भूक। पिपासे=प्यास से। शोकातिगोमोदते=शोक से रहित होकर आनन्द भोगता है। स्वर्गलोके=स्वर्ग लोक में।

(अर्थ) स्वर्ग लोक में किसी प्रकार का भय नहीं है क्योंकि न तो वहाँ मौत है और न बुढ़ापा है। जहाँ सुख तो हो और दुःख का कोई सामान न हो और भय का कारण मौत है अगर मौत न हुई तो भय किस बात का। जहाँ बुढ़ापे का चिन्ह ही नहीं। क्योंकि बुढ़ापे को देखकर भय उत्पन्न होता है कि मैं मरूँगा, परन्तु बुढ़ापा नहीं। और भूख प्यास से दुःख होता है और दुःख से भय होता है। परन्तु स्वर्ग में न भूख है, न प्यास, शीत है, न ऊष्णता, न मान है, न अपमान। सारांश यह कि किसी प्रकार की सामिग्री नहीं जिससे कोई भय हो। अतएव शोक से रहित आनन्द और प्रसन्नता पूर्वक स्वर्ग

लोक में रहते हैं। अब इस स्वर्ग लोक की दशा यह है। परन्तु स्वर्ग का सुख मुक्ति से फिर भी कम है, ऐसा विद्वानों ने सुना है। एवम् आप बतावें कि स्वर्ग और मुक्ति की वास्तविक दशा क्या है। जब कि स्वर्ग में कोई दुःख ही नहीं और प्रत्येक भाँति का सुख सम्पादित है। तो मुक्ति में इससे क्या विशेष बात है जिससे शास्त्रकार मुक्ति सब सुखों से उत्तम सुख मानते हैं। आप इसकी वास्तविक दशा (मूल तत्त्व) को जाननेवाले हैं, इस कारण जो मूल बात हो मुझसे कहें।

मंत्र—स त्वमग्निꣳ स्वर्ग्यमध्येषि मृत्यो! प्रब्रूहि तꣳ श्रद्दधानाय मह्यम्। स्वर्गलोका अमृतत्वं भजन्त एतद् द्वितीयेन वृणे वरेण ॥ १३ ॥

(शब्दार्थ) सत्वं=वह तू। अग्निम्=अग्नि को। स्वर्ग्यम् = जो स्वर्ग के प्राप्त करने का कारण है। अध्येषि = जानता है। मृत्यो = हे मृत्यु नामी आचार्य। प्रब्रूहि = बतला जिससे। तम् = उस स्वर्ग के कारण अग्निहोत्रादि यज्ञ का। श्रद्धानाय = श्रद्धा रखनेवाले। मह्यम् = मुझ को। स्वर्गलोकाः = जिन यज्ञ करनेवालों को स्वर्ग का दर्शन हुआ है या स्वर्ग लोक मे गये हैं। अमृतत्वं = मौत से रहित जो लोग शरीर के अभिमान से रहित हैं, वह कभी मरते ही नहीं, क्योंकि मौत शरीर और जीव की वियोगता का नाम है। उन्होंने ज्ञान जीव और शरीर को प्रथम से पृथक् जाना है। भजन्ते = भोग करते हुए। एतत् = यह। द्वितीयेन = दूसरे के कारण से। वृणे = माँगता हूँ। वरेण = वर के कारण से।

(अर्थ) नचिकेता ने फिर कहा कि हे यमाचार्य ! जिस अग्निहोत्रादि यज्ञो से स्वर्ग प्राप्त होता है, आप उसको जानते हैं, क्योंकि यज्ञों में प्रधान वस्तु जो अग्नि है, उसको (जो मेरे लिये श्रद्धा रखता हुआ) आप से पूछता हूँ वर्णन कीजिये। और जो कर्मों के फल से स्वर्ग लोक में जाते है उनको अधिक काल तक सुख से जीवन मिलता है और वह सब प्रकार आनन्द भोगते है। क्योंकि थोड़े जीवन के सम्बन्ध से बहुत दिन का जीवन अमृत कहलाता है। यथा देर तक रहनेवाली वस्तु को दृढ़ कहते हैं। यद्यपि कोई भी उत्पन्न हुई वस्तु नित्य नही, अतएव दूसरे वर से अग्निहोत्रादि स्वर्ग के कारण यज्ञो की साधक अग्नि को जानना चाहता हूं। पहले वर से तो नचिकेता ने पिता के सुख की इच्छा की, जो धर्म का सब से बड़ा अङ्ग है, क्योंकि देव कार्यों में माता पिता और आचार्य को देवता माना है।

दूसरे वर में अग्निहोत्रादि स्वर्ग के साधनों को जानने की इच्छा की इस श्रेणीबद्ध प्रश्न करने से नचिकेता की बुद्धि का पता लगता है कि वह कैसा उत्तम ब्रह्मचारी था। ज्ञान का प्रमाण श्रेणी का ठीक प्रकार नियत करना ही है। वैसे तो प्रत्येक मनुष्य ही क्या बल्कि पशु भी कह सुन सकता है। नचिकेता के इस प्रश्न का उत्तर यमाचार्य देते हैं।

मंत्र--प्रते ब्रवीमि तदु मे निबोध स्वर्ग्यमग्नि नचिकेतः प्रजानन् । अनन्तलोकाप्तिमथो प्रतिष्ठां विद्धि त्वमेतन्निहितं गुहायाम् ॥१४॥

(शब्दार्थ) प्रते=विशेष रूप से तेरे लिये। ब्रवीमि=कहता हूँ। तदु=उसको। मे=मुझसे। निबोध=ठीक प्रकार समझ।

स्वर्ग्यम्=स्वर्ग के प्राप्त करने का कारण। अग्निम्=अग्नि को। प्रजानन्=जानता हुआ। नचिकेत=हे नचिकेता। अनन्त लोकाः=अनन्त जीवन। यहाँ अनन्त शब्द अधिक अर्थ मे प्रयोग हुआ है। प्रतिष्ठाम्=सम्पूर्ण संसार के स्थिर होने का जो कारण है अर्थात् सूर्य की आकर्षण शक्ति से जगत् स्थिर है। सब के स्थान का कारण अग्नि। त्वमविद्धि=जान तू। एतम्=इस प्रत्यक्ष अग्नि को। निहितम्=नियत हो कर। गुहायाम्=बुद्धि मे।

(अर्थ) यमाचार्य कहते है हे नचिकेता! मै जो कुछ स्वर्ग के साधन अग्नि के विषय मे जानता हूं जो अग्नि अनन्त अर्थात् बहुकाल जीवन का कारण है, क्योंकि प्राणों का नाम है जो अग्नि से काम करते है और सम्पूर्ण संसार के नियत रहने का कारण यही अग्नि है। सम्पूर्ण गोले जिस केन्द्र की परिक्रमा कर रहे है वह सूर्य है, यदि सूर्य न हो, तो सम्पूर्ण सूर्य सम्बन्ध बिगड़ जावे। हे नचिकेता! तू इस मेरे बताए हुए विषय को बुद्धि को स्थिर करके समझ। क्योंकि कठिन विषय चचल मन की दशा में समझ में नही आते

प्रश्न—आचार्य ने जो कहा कि मै जानता हूँ, तो इनको सुन कर बुद्धि को स्थिर करके समझ गया। आचार्य को अभिमान था जो ऐसा कहा।

उत्तर—आचार्य को अभिमान नहीं था, किन्तु शिशु-श्रद्धा को उस विद्या मे स्थिर करने के वास्ते ऐसा कहा।

मंत्र—लोकादिमग्निं तमुवाच तस्मै या इष्टका यावतीर्वा यथा वा। स चापि तत्प्रत्यवदद्यथोक्त मथास्य मृत्युःपुनरेवाह तुष्टः ॥ १५ ॥

(शब्दार्थ) लोकादिम्=लोकार्थ में दोष का कारण कौन है। अग्नि=अग्नि विना दोष के कोई वस्तु दृष्टि नहीं पड़ती। तम्=उस नचिकेता को। उवाच=बहु प्रकार की युक्ति और उदाहरणों से समझाया। या=जिस कदर। वा=जितनी गिनती चार। यथा=जिस प्रकार। इष्टकाः=ईंट चुनकर अग्निहोत्र के लिये या दूसरे यज्ञों के अर्थ वेदी अर्थात् हवन-कुण्ड बनवाना चाहिये। स=वह यम्। च=और। अपि=भी। प्रत्यवदत्=नचिकेता ने उसका अनुवाद कर दिया अर्थात् दोहरा दिया जैसा कि मृत्यु आचार्य ने बतलाया था जो शब्द जिस स्थान पर मृत्यु आचार्य ने कहा था वैसा ही नचिकेता ने अनुवाद कर दिया। यथोक्तम्=कथनानुकूल सुन कर। अथ=इसके पश्चात्। अस्य=इसको। मृत्युः=आचार्य ने। पुनः=फिर। एव=भी। आह=कहा। तुष्ट=प्रसन्न होकर।

(अर्थ) सम्पूर्ण लोक का कारण अग्नि है। जिस प्रकार प्रकाश समस्त पदार्थों को प्रकाशित करता है और विना प्रकाश अर्थात् अग्नि के किसी वस्तु का लोक नाम ही नहीं हो सकता। पृथ्वी लोक है, कब जब कि तेज से उसमें रूप प्रवेश हो गया है। यदि पृथ्वी में अग्नि न हो तो कभी पृथ्वी दृष्टि ही नहीं आ सकती। सूर्य, चन्द्र, तारागण जितने पदार्थ संसार में दृष्टिगोचर होते है, उन सब मे अग्नि है। इस कारण लोक का कारण अग्नि है। यमाचार्य ने अग्नि के भेद और उसके काम बता दिये। और जितनी ईंटों का और जितना बड़ा और जिस भाँति का अग्निहोत्र का कुण्ड बनाना चाहिये सब विधान यज्ञ का बता दिया। इस बात को सिद्ध करने के वास्ते कि नचिकेता इस विद्या के समझने योग्य है। और जो कुछ यमाचार्य ने कहा है इसको नचिकेता ने ठीक प्रकार समझ

लिया है। नचिकेता ने इसको यमाचार्य के सन्मुख द्वितीया वृति में एक-एक शब्द ज्यो का त्यों सुना दिया। जिससे यमाचार्य को नचिकेता के पूर्ण उपकारी होने का पता लग गया। और इसने प्रसन्न होकर फिर कहना आरम्भ किया।

पाठक! इस लेख से पता लगता है कि ब्रह्म-विद्या के परोपकारी ऐसे ही मनुष्य हो सकते है कि जिनकी बुद्धि इतनी शुद्ध हो कि इनको कैसा ही कठिन विषय क्यों न समझाया जावे वह एक ही बार सुनने से समझ सके। नचिकेता ने इस परीक्षा को उत्तीर्ण करके मृत्यु आचार्य को प्रसन्न कर लिया। नचिकेता की बुद्धि का प्रमाण इसके धैर्य की अवस्था और स्मरण शक्ति की योग्यता बताती है कि गुण कर्म स्वभाव से ब्राह्मण ऐसे होते हैं।

मंत्र--तमब्रवीत प्रियमाणो महात्मा वरं तवेहाद्य ददामि भूयः। तवैव मान्ना भविताऽयमग्निः स्ङ्कांचे मामनेकरूपां गृहाण ॥ १६ ॥

(शब्दार्थ) तम् = उस नचिकेता को। अब्रवीत् = कहने लगा। प्रीयमाँणों = प्रसन्न हुआ प्रेम से योग्यता को देख कर। महात्मा = यमाचार्य जिसका आत्मा बड़े उच्च विचार वाला है। वरम् = श्रेष्ठ पदार्थ। त्वाम् = तुझको। इह = उस दूसरे वर के अन्दर। अद्य = आज। ददामि = देता हूँ। भूयः = फिर से। तव = तेरे। एव = ही। नाम्ना = नाम वाली। भविता = होगी अर्थात् तेरे ही नाम पर यह अग्नि विद्या प्रसिद्ध हो जावेगी। अयम् = यह। अग्निम् = आग्न-विद्या। सृङ्काम् = माला को जो प्रतिष्ठा का चिन्ह है, जिसको सभा

में सत्कार करते है, इसके गले में माला डाल देते हैं। इमाम् अनेक रूपाम्=इस बहु रंगो युक्त माला को जो अब तक रंगो से सुन्दर मालूम होती है । गृहाण=ग्रहण कर जिससे बहुत दिन तक जावे।

(अर्थ) इस नचिकेता की स्मरण-शक्ति तथा योग्यता को देखकर यमाचार्य बहुत ही प्रसन्न हुआ और प्रेम से महात्मा यमाचार्य बोला—हे नचिकेता ! आज मैं तुम से बहुत ही प्रसन्न हूँ और बहुत स वर दूँगा। और यह अग्नि विद्या जिससे यज्ञ की विधि और साधनो का कथन है, तेरे ही नाम से प्रसिद्ध होगी। अर्थात् मनुष्य इस विद्या को नाचिकेता अर्थात् नचिकेता से सम्बन्ध रखनेवाली पुकारेंगे। और यह माला जो कार्य-सिद्धि के समय प्रतिष्ठा के वास्ते दी जाती है जिसमें बहुरंग के मनके है जिससे तू सुख को भोगेगा स्वीकार कर।

प्रश्न—महात्मा किसको कहते हैं ? क्योंकि जीवात्मा एक-देशी अर्थात् सीमायुक्त है और एकदेशी के वास्ते यहाँ शब्द (महात्मा) आ नही सकता।

उत्तर—निस्संदेह जीवात्मा एकदेशी है, परन्तु महात्मा शब्द बुद्धि के विचार से होता है, जिसकी बुद्धि प्राकृत पदार्थों के साथ सम्बन्ध रखती है। इसका अपना और पराया दो प्रकार का ज्ञान होने से विचार सीमायुक्त होता है। और जिसकी बुद्धि परमात्मा की ओर लग जाती है उसकी आत्मा सारे संसार में परमात्मा के गुणों को देखने से सब को एकरस देखता है। अत इसका विचार यहाँ होने से वह महात्मा कहलाता है।

प्रश्न—क्या जिनके विचार में अपना पराया मन हो वह महात्मा नहीं कहला सकते ?

उत्तर—गुण कर्म से तो नही कहला सकते परन्तु नाम हो सकता है। जैसे कंगाल का नाम भी धनपति देखने में आता है।

मंत्र--त्रिणाचिकेतस्त्रिभिरेत्य सन्धिं त्रिकर्मकृत्तरति जन्ममृत्यू। ब्रह्मजज्ञं देवमीड्यं विदित्वा निचाय्येमाꣳ शान्तिमत्यन्तमेति ॥ १७ ॥

(शब्दार्थ) त्रिणाचिकेतः=जिस अग्निहोत्रादि का नचिकेता को उपदेश किया है, जिसको इसका तीन बार अर्थात् ब्रह्मचर्य आश्रम, गृहस्थाश्रम, वानप्रस्थाश्रम में जिसने अग्निहोत्र किया हो। त्रिभि.=माता पिता और आचार्य तीन जिसके गुरू हो। एत्य=प्राप्त की हो। सन्धि=जिसने सत्सङ्ग किया हो अथवा संसार मे मिलाप का प्रचार किया हो। त्रिकर्मकृत्=जिसने तीन धर्म के स्कंध अर्थात् यज्ञ, पढ़ना और दान किये हो। तरति=तर जाता है। जन्म मृत्यु=जन्म और मौत की। ब्रह्मजज्ञं=जिससे ब्रह्म अर्थात् वेद उत्पन्न हुए है इसको जिसने जाना है। देवम्=प्रकाश स्वरूप परमात्मा। ईड्यम्=स्तुति करने योग्य। विदित्वा=जानकर। निचाय्य=शास्त्र से निश्चय करके। इमाम्=इस ज्ञान को अत्यन्तम्=अत्यन्त। प्रशान्तिम्=सब दुःखो से रहित दशा को। एति=प्राप्त होता है।

(अर्थ) जिस मनुष्य ने नचिकेता को बतलाई विधि से तीन आश्रम अर्थात् ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ मे अग्निहोत्र किया है, जिसने माता पिता और आचार्य तीन शिक्षा देनेवालों के सत्संग से शिक्षा प्राप्त की हो, जिसने धर्म के तीन

भागों अर्थात् ब्रह्मचर्य आश्रम में पढ़ा हो, गृहस्थाश्रम में और वानप्रस्थ में दान किया हो, वह तर जाता है। अर्थात् जन्म और मौत से छूटकर मोक्ष को प्राप्त कर लेता है। और जो वेद के बतानेवाले को जानता है, सब के स्पर्श के लायक है, जिसने इसको जान लिया, वह इस शास्त्र के अनुकूल कर्म से अत्यन्त शांती को प्राप्त कर लेता है।

प्रश्न—वह नचिकेता को बताई हुई तीन प्रकार की अग्नि कौन सी है?

उत्तर—यहाँ पर यह आश्रम हैं—प्राजापत्य गृहस्थाश्रम में, गार्हपत्य तथा वानप्रस्थाश्रम नामवाली अग्नि का आशय तीन प्रकार की अग्नि से है। प्रत्येक आश्रम मे उसी के अनुकूल अग्निहोत्र करना चाहिए।

मंत्र—त्रिणाचिकेतस्त्रयमेतद्विदित्वा य एवं विद्वा ॐश्चिनुते नाचिकेतम्। स मृत्युपाशान् पुरतः प्रणोद्य शोकातिगो मोदते स्वर्ग लोके ॥ १८ ॥

(शब्दार्थ) त्रिणाचिकेतः=नचिकेता को बताई हुई विधि के अनुसार तीन आश्रमों के लिये तीन बार अग्नि नियत की है। त्रयम=तीन कर्म किये हों। एतद्=उक्त कथन को। विदित्वा=जानकर। यः=जो। एव=इस विधि पर। विद्वान=जानने वाला। चिनुते=संग्रह करता है, नियत करता है। नाचिकेतम्=नाचिकेता नामसे प्रसिद्ध अग्निको। स=वह। मृत्यु पाशान्=मौत की साँकल से। पुरतः=जीव और शरीर के वियाग से पहले ही। प्रणोद्य=शरीर को छोड़ कर मरने के पश्चात्। शोकातिगः=शोक से छूटकर। मोदते=सुख

(अर्थ) यमाचार्य ने नचिकेता से कहा—हे नचिकेता ! यह तेरी अग्नि-विद्या है जिसको तूने स्वर्ग प्राप्त करने के वास्ते साधन समझ कर पूछा था। दूसरे वर के कारण से यह अग्नि तेरे नाम से प्रसिद्ध होगी। क्योंकि जिस वस्तु का जो नाम आरम्भ मे रक्खा जाता है वही नाम उसका संसार मे फैल जाता है। इस कारण इस अग्नि को सर्वसाधारण लोग तेरे ही नाम से पुकारेंगे। अब तू तीसरा वर माँग ले। बहुत से लोग कहेंगे कि क्या यमराज के कहने से वह अग्निहोत्र की शिक्षा नचिकेता के नाम से कैसे हो सकती है। परन्तु जब यमाचार्य ने इसका नाम नचिकेता अर्थात् नचिकेता से सम्बंध वाली रख दिया, अब जो उसे वर्णन करेगा। अब नचिकेता यमाचार्य से तीसरा वर माँगता है।

मंत्र—येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्येऽस्तीत्येके नायमस्तीति चैके। एतद्विद्यामनुशिष्टस्त्वयाहं वराणामेष वरस्तृतीयः ॥ २० ॥

(शब्दार्थ) मनुष्ये=इस शरीर मे रहनेवाले जीवात्मा और मनुष्य की वियुक्त दशा में। प्रेते=मरने के पश्चात्। या इयं चिकित्सा=जो यह सदेह उत्पन्न हो रहा है। अस्ति= जीवात्मा मौत के पश्चात् है। इति=यह पक्ष। एके=एक ओर किया जाता। नायम=नही। अस्ति=यह जीवात्मा। इति=है। एके=एक। एतत्=यह एक ओर वाले मानते है। विद्याम्=इस ज्ञान को निश्चय पूर्वक। अनुशिष्टः=मै जान लूँ। त्वया=तुम्हारे। अहं=मै। वराणां एषः=वरों में से यह वर। तृतीयः=तीसरा है।

(अर्थ) नचिकेता कहता है—हे गुरु महाराज! इस जीवात्मा के सम्बन्ध में मौत के पश्चात् जो संदेह है, बहुत है। मनुष्य कहते हैं कि मौत के पश्चात् जीवात्मा नही रहता है अर्थात् जीव शरीर से पृथक् कोई पदार्थ है। दूसरे पक्षवाले कहते हैं कि मौत के पश्चात् जीवात्मा नही रहता है अर्थात् शरीर से पृथक् जीवात्मा कोई पदार्थ नहीं। यह पक्ष कि शरीर से पृथक् जीवात्मा है या नही, इसको आप मुझे सिखलाएँ कि जिससे आप की शिक्षा से मैं इसको निश्चयात्मक होकर जान सकू। तीन वरो में से मेरा यह तीसरा वर है। नचिकेता का यह वर तीन प्रश्नों को लिये है, या पवित्र जन्म है या नहीं। जीवात्मा शरीर से पृथक् है जो मौत के पश्चात् भी रहता है, या शरीर का ही अंग है जो मौत के साथ ही जीव की भी समाप्ति हो जाती है। शरीर और आत्मा को पृथक् करनेवाला परमात्मा है या नहीं। इस प्रश्न में जो ब्रह्म-विद्या के सम्बन्ध में प्रश्न हुआ, इस पर यमाचार्य कहते है।

मंत्र—देवैरत्रापि विचिकित्सितं पुरानहि सुविज्ञे यमणुरेष धर्मः। अन्यं वरं नचिकेतो वृणीष्व मामो परोत्सी रतिमा सृजैनम् ॥ २१ ॥

(शब्दार्थ) देवैः=बड़ी-बड़ी विद्या के प्रकाश करनेवाले विद्वानों ने। अत्र=इस आत्मज्ञान अर्थात् ब्रह्म-विद्या के सम्बन्ध में। अपि=भी। विचिकित्सितम्=इस पर संदेह करके विचार किया है कि क्या यह आत्मा है या नहीं। यदि है तो क्यों नहीं जाना जाता। यदि नहीं, तो वेदों, शास्त्रों में क्यों लिखा है। इस प्रकार के अनेकों संदेह किये हैं। पुरा=

प्राचीन काल मे । नहि=निश्चय नही । सुविज्ञेयम्=सर-लता से जानने योग्य अथवा प्रत्येक के जानने योग्य । अणु= अति सूक्ष्म जिसको मोटी बुद्धि से नही जान सकते । एव= यह आत्मज्ञान । धर्मः=धर्म । अन्य वरं=दूसरे वर का । नचिकेतः=हे नचिकेता । वृणीष्व=माँगले । मामा= मुझको । अपरोत्सीः=मत दबाओ, जिस प्रकार ऋणी को ऋण-दाता दबाता है । एनम्=इस वर को । अतिसृज= त्याग दे ।

(अर्थ) नचिकेता की आत्म-विद्या के सम्बन्ध में प्रश्न सुनकर अधिकारी की पहचान के लिये यमाचार्य ने कहा—हे नचिकेता ! इस आत्म-विद्या के सम्बन्ध में प्राचीन काल मे बड़े बड़े विद्वानो ने अनेको शंकायें उत्पन्न की हैं । कोई कहता है कि आत्मा है । तो दूसरा कहता है, यदि है तो उसके होने का प्रमाण क्या है ? क्योंकि जो वस्तु होती है उसकी स्थिति के वास्ते प्रमाण होता है । आत्मा के वास्त प्रत्यक्ष प्रमाण तो हो ही नहीं सकता, क्योंकि वह किसी इन्द्रिय का विषय नही । और विना प्रत्यक्ष के अनुमानादि भी हो नहीं सकते । एक ओर उसकी स्थिति जगत्-कर्ता होने से अनुमान की जाती है । दूसरे योगियों का मानसिक प्रत्यक्ष स्वीकार किया जाता है, इसके सम्बन्ध में बहुत वाद हो चुका है । यह आत्म-विद्या बहुत ही सूक्ष्म है । इसको सरलता से कोई प्राप्त नही कर सकता, और न प्रत्येक मनुष्य इसको जान सकता है । इस कारण हे नचिकेता ! तू इस वर को छोड़कर दूसरा वर माँगले और मुझे अधिक कष्ट मत दे । इस पर नचिकेता कहता है ।

मंत्र—देवैरत्रापि विचिकित्सितं किलत्वञ्च मृत्यो

यन्नसुविज्ञेयमात्थ । वक्ता चास्य त्वादृगन्यो न लभ्यो नान्यो वरस्तुल्य एतस्य कश्चित् ॥ २२ ॥

(शब्दार्थ) देवैः=विद्वानों ने । अत्र=इस ब्रह्म-विद्या के सम्बन्ध मे । अपि=भी । विचिकित्सितम्=विचार किया है । अर्थात् विद्वानों ने इस विषय को निर्णय करने मे बहुत उद्योग किया । किलत्वच=और आप ने भी विचार किया है । मृत्यो=हे यमाचार्य । यत्=जो । न=नहीं । सुविज्ञेयम्= अनायास जानने योग्य । आत्थ=कहत हे जिससे अनुमान होता है । वक्ता=बतानेवाला । त्वादृग=तुम्हारे समान । अन्य=दूसरा । न=नहीं । लभ्य =मिल सकता । न अन्य= नही दूसरा । वरः=वर । तुल्य=बराबर । एतस्य कश्चित्= इसके कोई ।

(अर्थ) नचिकेता ने कहा—हे गुरु महाराज ! आप यह कहते हैं कि इस विषय पर विद्वानों ने बहुत कुछ विचार किया है और आप ने भी इसको सोचा है, जिससे स्पष्ट विदित होता है कि यह विषय अति आवश्यकीय है । क्योंकि विद्वान् मनुष्य किसी व्यर्थ बात पर विचार नही करते । वह जानते है कि कौन सा विषय विचार करने योग्य है और कौन सा नहीं । अतः जिस सिद्धांत को उन्होंने अत्यन्त सूक्ष्म दृष्टि से विचारा है वह सिद्धान्त प्रत्येक के जानने योग्य नही । साधारण मनुष्य की बुद्धि इस को समझ नहीं सकती । जब यह सब बाते आप कह रहे हैं तो मुझे अनुमान होता है कि इस विद्या को बतानेवाला आप से योग्य मिलना कठिन है । जब आप से अधिक ब्रह्म-विद्या का जाननेवाला मिल ही नहीं सकता और यह भी अनुमान होगया कि इसके बराबर कोई दूसरा वर नहीं । भला

इन दोनों बातों को जानकर किस प्रकार अन्य वर माँगलूं या मुझे यह निश्चय हो कि ब्रह्म-विद्या उत्तम वस्तु नहीं तो मैं इसको छोड़ सकता हूँ। अथवा यह निश्चय हो कि आप इसको दे नहीं सकते। परन्तु इन बातो का निश्चय होना कठिन है क्योंकि दुनिया में विद्वान् मनुष्य पदार्थों को तीन प्रकार के भेदों से प्रकट करते है। एक वह पदार्थ जो प्राप्त करने योग्य हैं अर्थात् जिनकी अभिलाषा होती है। अथवा जो कमी को पूरा करने और दोष को दूर करने का कारण स्वीकार किये जाते हे। दूसरी वह वस्तु जो नष्ट करने योग्य जो कमी और दोष को उत्पन्न करनेवाली है, जिससे घृणा होती है। तीसरी वह वस्तु जिससे त्रुटि और दोष दूर होते है न बढ़ते है, किंतु वह हमारे लिये लाभदायक व हानिकारक होने से पृथक् है, न हमको उनके प्राप्त करने की आवश्यकता है और न नष्ट करने की, उनकी हमें कोई परवाह नही होती है। केवल उदासीन ही रहते है।

प्रश्न—प्राप्त करने योग्य कौन सी वस्तु है जिससे दोष दूर होते हैं और त्रुटि पूरी होती है?

उत्तर—जीवात्मा में अल्पज्ञान का दोष और आनन्द की कमी है। अतएव सच्चिदानन्द परमात्मा की उपासना से यह त्रुटि और दोष दूर हो जाते हैं। बिना परमात्मा की उपासना के न तो सत्यज्ञान प्राप्त होता है और न आनन्द मिलता है।

प्रश्न—जब कि परमात्मा प्रत्येक जीव के भीतर हर समय व्यापक है, तो उसकी उपासना हर समय हो रही है। फिर इसकी क्या ज़रूरत है?

उत्तर—परमात्मा की उपासना देश काल के सम्बन्ध से मंतव्य नहीं, किन्तु ज्ञान के सम्बन्ध से है। जो परमात्मा को

आनन्द और ज्ञान का भंडार समझ कर भरोसा रखता है वह ईश्वर का उपासक है। और जो प्रकृति का भरोसा रखता है वह प्रकृति का उपासक है।

प्रश्न—कमी और दोष को बढ़ानेवाली कौन सी वस्तु है जिससे घृणा होती है?

उत्तर—प्रकृति से बनी हुई वस्तु ज्ञान की कमी के दोष को बढ़ानेवाली और आनन्द की कमी पदा करनेवाली है यदि प्रकृति उपासक सृष्टि न हो, तो मनुष्य के भीतर शान्ति बनी रहती है। यदि आनंद न हो, प्रकृति की उपासना से अल्पज्ञान और अविद्या अर्थात् मिथ्याज्ञान हो जाता है और आनन्द तो मिलता ही नही, किन्तु अशांति बढ़ जाती है। अतः प्रकृति की उपासना हानिकारक है जिसको दूर करना आवश्यक ह।

प्रश्न—इस समय तो समस्त संसार यह कहता है कि विना प्राकृतिक ज्ञान के धनादि प्राप्त किये सुख नही हो सकता। और तुम उसके विरुद्ध कहते हो।

उत्तर—यदि उस समय की प्रकृति उपासक कौम शांत और सुखी हैं तो उनका पक्ष ठीक है। यदि प्रकृति उपासक कौमे दुःख से युक्त हैं तो उनका पक्ष सरासर असत्य होने मे क्या संदेह है। जहाँ तक पश्चिमी देशों के हालात का पता लगता है उनसे वह अधिक अशांत दृष्टिगत पड़ती है। कोई नृप दो चार कोस भी अकेला नहीं घूम सकता। जहाँ राजा भी अकेले न घूम सके, उनको भी हर समय शत्रुओं का भय लगा हुआ हो, वह शांति का पक्ष ही अविद्या है।

प्रश्न—अशांति तो भारत में भी मौजूद है।

उत्तर—यह भी प्रकृति उपासना की शिक्षा है। भारत में जब तक धार्मिक शिक्षा थी, तब तक अशांति का नाम नही था।

जब से यह शिक्षा चली है तब से यहाँ भी अशांति आगई। जो कुछ अशांति के कारण हैं, सब प्रकृति उपासक मनुष्य की संगति और शिक्षा से आए हैं।

प्रश्न—उदासीन वृत्ति पैदा करनेवाली जिससे न हानि हो न लाभ, कौन सी वस्तु है?

उत्तर—जीवात्मा के वास्ते दूसरे जीव न तो लाभदायक ही हैं न हानिकारक, उनसे विरक्त रहना ही उत्तम है।

प्रश्न—यदि पशु आदि जीव न हों तो मनुष्यों का जीवित रहना ही कठिन हो, आप उनको लाभ हानि से पृथक् करते है।

उत्तर—पशु आदि की आवश्यकता शरीर की सहायता के लिये है न कि जीवात्मा के वास्ते। इस कारण ब्रह्म-विद्या मे विचार जीव को लेकर है।

नचिकेता ने कहा—हे आचार्य! जिस विद्या के सम्बन्ध में विद्वानो ने परमात्मा का पक्ष किया है, उसका लाभदायक होना आवश्यकीय है, जिससे मैं उस वर को अपने हेतु माँगता हूँ। चूंकि आप इस बात को जानते हैं कि यह बहुत ही कठिनता से जानने योग्य है, जिससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि आपने उन कठिनताओं को जाना है जो इस मार्ग मे रोक पैदा करती है। अतः जब कि आप जैसा आचार्य जिसकी उपमा और नहीं मिल सकती, मुझको वर देने का प्रण कर चुका है, तो मैं दूसरा वर क्यों माँगू। नचिकेता की अधिक परीक्षा के लिये यमाचार्य कहते है।

मन्त्र—शतायुषः पुत्रपौत्रान् वृणीष्व बहून् पशून हस्तिहिरण्यमश्वान्। भूमेर्महदायतन वृणीष्व स्वयं च जीव शरदो यावदिच्छसि॥ २३॥

(शब्दार्थ) शतायुष=सौ वर्ष की आयुवाले । पुत्र पौत्रान्=पुत्र और पौत्र अर्थात् बेटो के बेटों को । वृणीष्व=माँग ले । बहून=बहुत से । पशून=पशुओ को । हस्ति=हाथी । हिरण्यमश्वान्=सोने के साज़वाले घोड़े । भूमेः=पृथिवी या कुल संसार की पृथिवी के । महदायतनं=बहुत बड़े भवन । वृणीष्व=माँग ले । स्वय=अपनी । च=और । जीव शरदं=जीना । यावद=जितना तू । इच्छसि=इच्छा करे

(अर्थ) यमाचार्य ने नचिकेता से कहा कि अतिरिक्त ब्रह्म-विद्या के तू यह माँगले कि मेरे बेटे और पोते सौ सौ वर्षवाली आयु के हो और मेरे घर में बहुत से पशू गाय, बैल, भैंस और हाथी हों और घोड़े हो जिनका सम्पूर्ण साज सामान सोने का बना हुआ हो और भूमि जितनी चाहे माँगले और बड़े-बड़े भवन, किला, गढ़, बँगला और कोठियाँ जितनी चाहे माँगले और अपनी आयु की वृद्धि अर्थात् जितने वर्षों तक जीने की इच्छा हो जीवन सुख से व्यतीत कर सके यह माँगले । यमाचार्य के कहने से मालूम होता है कि वह उन इच्छाओं को बतलाया चाहते है जो ब्रह्म-विद्या के मार्ग में रुकावट हैं । क्योंकि परीक्षा के स्थान पर वही प्रश्न किये जाते हैं जिनसे उनके पास होने मे रुकावट समझी जाती है । संसार की वस्तुओं की आवश्यकता जितनी है वह भोग के अनुकूल परमात्मा विना किसी इच्छा के देते है और इनकी इच्छा करना आत्मिक मार्ग में बहुत रुकावट डालना है । क्योंकि जिस मन में सरदी की इच्छा है उसमें उसी समय गर्मी की इच्छा नही हो सकती, क्योंकि यह दोनों इच्छाएँ आपस में विरोधी हैं अत विरोध-संग्रह कठिन है । जिस मन मे सांसारिक धन की इच्छा है उसमें परमात्मा की इच्छा नही हो सकती और जिस मन

में परमात्मा की उपासना का ध्यान है, इसमें संसार के धन की इच्छा नहीं हो सकती। यह तो सम्भव है कि धनवान् भी हो, परन्तु यह सम्भव नहीं कि धन की इच्छा भी हो और ईश्वर की इच्छा भी हो। क्योंकि धनवत्ता के साथ ईश्वर की इच्छा का विरोध नहीं किंतु धन की इच्छा के साथ ईश्वर की इच्छा का विरोध है। ईश्वर के इच्छुक को भी पूर्व कर्म के अनुकूल धन प्राप्त होता है और धन की इच्छावाले को भी उतनी ही दौलत मिलती है जितनी उसके भोग में है। इस कारण ईश्वर की इच्छावाले को न उसके आने में प्रसन्नता होती है न जाने में दुःख होता है। परन्तु धन के इच्छुक को धन के आने में प्रसन्नता और जाने में दुःख होता है यही उनकी पहिचान है। जनक और रामचन्द्र धनवान् और राजे थे परन्तु उनके मन में धन की अभिलाषा नहीं थी अतः जब रामचन्द्र को यह कहा गया कि कल तुमको राज मिलेगा तो वह प्रसन्न नहीं हुए, जब कहा गया कि बन को जाओ तो वह अप्रसन्न नहीं हुए। क्योंकि वह इस बात को जानते थे कि होना वही है जो भोग है, फिर दुःख सुख किस बात का? जनक की कथा प्रसिद्ध है कि यदि उनके शरीर में इतर होतो तो वह प्रसन्न नहीं होते थे।

प्रश्न—क्या कारण है कि जनक को शरीर के जलने में कष्ट नहीं होता था। हम तो ऐसा होना सम्भव नहीं समझते।

उत्तर—मूर्खों के विचार में यह बात असम्भव है क्योंकि वह शरीर और जीव के सम्बन्ध से अज्ञात हैं। कोई तो यहाँ तक बढ़ गए हैं कि कार्यों में शरीर को जीव का साझी समझते हैं और दंड भोगने के समय शरीर के साथ होने को आवश्यकीय ख्याल करते हैं और इसी युक्ति के भरोसा पर पुनर्जन्म से इनकार करते हैं। परन्तु जो लोग जानते हैं कि जीव के वास्ते

शरीर किराया गाड़ी है जिसकी उस समय तक आवश्यकता है जब तक मार्ग पर नहीं पहुँचते। या जो यह समझते कि शरीर एक कारागार है जो कर्मों के कारण से मिलता है, वह इस बात की तनिक भी चिन्ता नहीं करते, क्योंकि किराया की गाड़ी नियत मार्ग पर छाड़नी ही पड़ती है। और आत्मिक नियत मार्ग यहीं तक है कि हम प्रकृति के सम्बन्ध से पृथक् होकर और शरीर के अहंकार को त्याग करके परमात्मा की उपासना में लग जावे। इसलिये परमात्मा के ज्ञान मे लग जाने की अवस्था में फिर शरीर की आवश्यकता ही क्या है, जिसके जाने से भय हो।

मंत्र--एतत्तुल्यं यदि मन्यसे वरं वृणीष्व वित्तं चिरजीविकां च। महाभूमौ नचिकेतस्त्वमेधि कामानां त्वा कामभाज करोमि ॥ २४ ॥

(शब्दार्थ) एतत्तुल्य = उपरोक्त भोगानुकूल। मन्यसे = जो तेरी इच्छा हो। वरम् = वर को। वृणीष्व = माँगले। वित्तं = धन को। चिरजीविकाम् = नियत होनेवाली आयु। महाभूमौ = पृथिवी के राजा होने को। नचिकेतः = हे नचिकेता। एधि = प्राप्त कर। कामनाम् = कामनाओं से। त्वा = तुझको। कामभाजम् = इच्छानुकूल प्राप्त होनवाली अवस्था को। करोमि = करता हूँ अर्थात् सम्पूर्ण संसार के ऐश्वर्य को तुझको देता हूँ।

(अर्थ) आचार्य ने कहा—हे नचिकेता! इसके बराबर सांसारिक सुख के प्राप्त होने योग्य जो कुछ तू चाहता है माँग ले, जिस कदर तुझे धन की इच्छा हो माँग। मैं तुझको दे सकता

हूँ। यदि तू नियत आय चाहे अर्थात् मासिक या वार्षिक या जिस क़दर तुझको आवश्यकता हो माँग ले। यदि तू भूमि का बड़ा भाग राज्य का चाहे तो मिल सकता है। हे नचिकेता! जो तेरी अभिलाषा हो वह तू बता दे, मैं तुझको इस योग्य कर दूंगा कि जो तेरी इच्छा हो वही पूरी होजावे। तू ब्रह्म-विद्या के विचार को त्याग कर, तू सांसारिक सुख माँग। तेरी कोई आवश्यकता न होगी जो पूर्ण न हो। इतना लोभ एक युवा ब्रह्मचारी को अपने मार्ग से पतित करने के वास्ते पर्याप्त से अधिक है। परन्तु यमाचार्य नचिकेता का दृढ़ विश्वास देख कर और भी लोभ देता है।

मंत्र--ये ये कामा दुर्लभा मर्त्यलोके सर्वान् कामांश्छन्दतः प्रार्थयस्व। इमाः रामाः सरथाः सतूर्या नहीदृशा लम्भनीया मनुष्यैः। अभिर्मत्प्रत्ताभिः परिचारयस्व नचिकेता! मरणं मानुप्राक्षी ॥ २५ ॥

(शब्दार्थ) ये ये कामा=जो जो कामनाएँ। दुर्लभ= अत्यन्त दुर्लभ हैं। मर्त्यलोके=इस संसार में जिसमें मरने वाले मनुष्य रहते हैं। सर्वान्=सब को। कामान्=जो तुझ को कामनाएं हों। छन्दत=अपने लाभार्थ जानकर इच्छानुकूल। प्रार्थयस्व=माँगले। इमाः=यह। रामाः=स्त्रियाँ। सरथा=रथारूढ़। सतूर्या=जिनके साथ गाने बजाने के सामान मौजूद हों, बाजे बज रहे हैं। न=नहीं। हि=निश्चय करके। इदृशा=इस प्रकार की। लम्भनीयाः=प्राप्त हो सकती हैं। मनुष्ये=मनुष्यों को। आभिः=इन पतिव्रताओं के साथ।

मत्प्रत्ताभिः=जो मेरी दी हुई है। रमयस्य=सुख को भोग। मरणं=मौत के सम्बन्ध मे आत्मज्ञान। मा=मत। अनुप्राक्षीः=पूछ।

(अर्थ) यमाचार्य कहते हैं—हे नचिकेता! जो-जो पदार्थ इस भूमि पर है अत्यन्त ही अलभ्य हैं, जिनके सम्पूर्ण मनुष्य अभिलाषी हैं। उन सब पदार्थों को निज इच्छानुकूल माँग ले। यह मत विचार कर कि मेरे पास कोई वस्तु नही। यह स्त्रियाँ जो अत्यन्त सुंदर और रथों पर आरूढ़ है, जिनके साथ बाजे और गाने की समस्त सामिग्री मौजूद है, जो समान मनुष्यो को किसी प्रकार भी नहीं प्राप्त हो सकती। सम्पूर्ण मनुष्य जिनकी अभिलाषा करते है। और वह उनको नही मिलती। और तू इन मेरी दी हुई पतिव्रता और सुन्दर स्त्रिया के साथ संसार के सुखो को भोग। परन्तु मौत के पश्चात् आत्मा की जो दशा होती है उसके सम्बन्ध मे मत प्रश्न कर। इसके उत्तर में नचिकेता जिसकी ब्रह्मचर्य आश्रम के संस्कारो ने बलवान् बना दिया था, जिसके मन में इस प्रकार की इच्छाओ का उत्पन्न होना अत्यन्त कठिन था, जो संसार के सुखो की वास्तविक दशा को भले प्रकार से जानता था और जिसको विदित था कि मुक्ति मार्ग में यही रुकावटें हैं। उत्तर देता है।

मंत्र--श्वोभावा मर्त्यस्य यदन्तकैतत्सर्वेन्द्रियाणां जरयंति तेजः। अपि सर्वं जीवितमल्पमेव तवैव वाहास्तव नृत्यगीते ॥ २६ ॥

(शब्दार्थ) श्वोभावाः=अनित्य है। मर्त्यस्य=मृत्यु धर्म वाले मनुष्यों के। यत्=जो। अन्तक=दुष्टों को दडवत् कर

पापों का अन्त करनेवाला। एतत्=यह सर्व विषय। सर्वेन्द्रियाणा=सम्पूर्ण इन्द्रियो के। जरयंति=नष्ट कर देते हैं। तेजः=तेज अर्थात् शक्ति का। अपि=और। सर्व=सब। जीवतम्=जीवन। अल्पमएव=थोड़ा ही है। तवएव=आप की ही रही। वाहाः=रथादि सवारियो सहित स्त्रियाँ। तव= आपका ही हो। नृत्य गीते=नृत्य और गाना।

(अर्थ) यमराज की बात को सुनकर नचिकेता ने उत्तर दिया कि महाराज, जितने संसार के विषय हैं सब ठहरने- वाले नहीं और मरनेवाले मनुष्य के तेज यमराज के नियम के अनुकूल यह विषय नाश करते रहते हैं, सर्व इन्द्रियाँ जिससे कमजोर हो जाती हैं। यदि आप कहे कि यह सम्पूर्ण जीवन भर, तो यह जीवन बहुत ही थोड़ा है। यदि इसको बढ़ा भी लिया जावे और यह जब तक सृष्टि रहे तब तक भी बना रहे तो भी मुक्ती के दस हज़ार भाग मे होने बहुत ही थोड़ा रहेगा। इस कारण रथादि सवारियों मे बैठनेवाली स्त्रियाँ आपको ही फलीभूत हो, वह आपकी ही बनी रहे। मुझे इनकी नितान्त आवश्यकता नहीं और न मैं नाचने और गाने को उत्तम समझता हूँ। इनको आप अपने पास ही रक्खें। मुझे तो अतिरिक्त ब्रह्म विद्या अर्थात् मौत के पश्चात् जो आत्मा की गति होती है उसके जानने के और किसी वस्तु की ज़रूरत नहीं। नचिकेता ने कहा।

मंत्र--न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यो लप्स्यामहे वित्तम द्राक्ष्म चेत्त्वा। जीविष्यामो यावदीशि- ष्यसि त्वं वरस्तु मे वरणीयः स एव ॥ २७ ॥

(शब्दार्थ) न=नहीं। वित्तेन=धन से। तर्पणीयः=तृप्त

होता मनुष्यः = मनुष्य । लप्स्यामहे = प्राप्त हो जावेंगे । वित्तम् = धन को आपकी कृपा से । अद्राक्ष्म = दर्शन करके । चेत् = यदि । त्वा = आपकी दया होगी । जीविष्यामः = जीवित रहूँगा । यावत् – जब तक । ईशिष्यसि = परमात्मा की इच्छा होगी अर्थात् जितनी आयु परमात्मा ने दी है जीवित रहूँगा । त्वम् = आप से । वरस्तु = वही एक वर वरणीय = प्राप्त करना है । स एव = वही ।

(अर्थ) नचिकेता ने कहा–महाराजा, कोई मनुष्य चाहे कितना ही धन प्राप्त करले कभी उस धन से तृप्त नही होता अर्थात् धन की इच्छा कभी पूर्ण नही होती। जिस प्रकार भोजनादि से पेट भर जाता है फिर खाने की इच्छा बनी रहती है, इसी प्रकार धन से इच्छा पूर्ण नही होती। जितना धन मिलता जावे उतनी इच्छा बढती जाती है। सौ वाला हजार में सुख समझकर इच्छा करता है तो सहस्राधीश लक्ष की इच्छा रखता है और लक्षपति करोड़-पति होने की इच्छा रखता है। चूंकि धन मानुषी आवश्यकता नहीं किन्तु तृष्णा है इस कारण इसकी कभी समाप्ति नही होती। यदि मनुष्य धन को देखकर प्राप्त कर लेता है तो सुख नही होता। इसलिये जितना धन भोग मे है वही मिल जावेगा और जितना जीवन कर्मानुकूल परमात्मा ने दिया है उस समय तक मैं जीवित रहूंगा। मुझे इससे अधिक जीने की इच्छा नही। अब आप न तो मुझे धन दें, क्योकि उससे तृष्णा बढ़कर दुख होता है, सुख नहीं हो सकता। और न आयु दें, क्योंकि जितना जीवन परमात्मा ने दिया है मेरे लिये वही पर्याप्त है। आप से तो मुझे केवल वही वर अर्थात् मौत के पश्चात् आत्मा की क्या गति होती है, जीव और ब्रह्म का ज्ञान जिसका नाम ब्रह्म-विद्या है, वही लेना है। अतः आप मुझको इसे दीजिये।

मंत्र--अजीर्यताममृतानामुपेत्य जीर्यन्मर्त्यः क्वधःस्थ प्रजानन् । अभिध्यायन् वर्णरतिप्रमोदानतिदीर्घे जीविते को रमेत ॥ २८ ॥

(शब्दार्थ) अजीर्यताम्=जिसमें व्यय और हानि नहीं होती अमृतानां=जो मौत और नाश से रहित है अर्थात् न तो घटती और बढ़ती है। उपेत्य=प्राप्त कर के। जीर्यन्=शरीरादि की बुढ़ापे को प्राप्त कर के। मर्त्यः=मौत जिसका धर्म है। क्वधःस्थः =जो पृथिवी पर पंचगति में कायम होता है। प्रजानन्=सत् असत् के ज्ञानवाला मनुष्य। अभिध्यायन= वास्तव में दुःख का कारण जाननेवाला। वर्णरति प्रमोदान= सुन्दर स्त्रियों के सम्बन्ध से प्राप्त होनेवाले सुखों को। अतिदीर्घे=बहु काल तक रहनेवाले। जीविते=जीवन में। कः=कौन। रमेत=प्रसन्न होवे।

(अर्थ) नचिकेता ने कहा—हे महाराज! त्रुटि और नाश से रहित और पदार्थों को जिनके बिगड़ने का कभी सन्देह ही न हो, प्राप्त करने और नाश होनेवाली भूमि पर मोक्ष सुख के सामने बहुत ही बुरी दशा में नियत है। ज्ञान युक्त मनुष्य जिसको यह संसारिक सुख विचारने से दुःख रूप ही मालूम होते है, जो यह जानता है कि इन से सिवाय हानि के कोई लाभ नहीं, वह इन में किस प्रकार फँस सकता है। जिनमें थोड़ी देर तक रहना भी बुद्धिमान् को स्वीकार न हो, तो बहुत जीवन केवल विषयों के भोगने के वास्ते माँगना किस बुद्धिमान् को स्वीकार हो।

प्रश्न—क्या विषय दुःख रूप हैं? सम्पूर्ण संसार के मनुष्य तो इन्हें सुख मानते हैं।

उत्तर—जो आदमी दुख और सुख की वास्तविक दशा से

अज्ञान है वही विषयों को सुख मानते हैं और जो मनुष्य इनकी वास्तविक दशा से जानकार है वह इन को सुख मानने के बजाय पूर्ण दुख मानते हैं क्योंकि यह परमानन्द की प्राप्ति के मार्ग मे बहुत बड़ी रुकावटें है।

प्रश्न—तुलसीदास जैसे भक्त ने भी कहा है कि इस संसार मे ऐसा कोई मनुष्य उत्पन्न नही हुआ जो सोने और स्त्री की इच्छा न रखता हो।

उत्तर—तुलसीदासजी ने आप को यह ऐसा नही बताया किन्तु यह दिखलाया है कि यह दो चीजे ऐसी बलवान हैं कि इनमें बड़े-बड़े ज्ञानी धोका खा जाते है। अतएव यमाचार्य ने नचिकेता के परीक्षा के वास्ते सम्पूर्ण सांसारिक पदार्थ सन्मुख रक्खे, परन्तु नचिकेता बुद्धिमान् था। वह इन वस्तुओं के लोभ में फँसकर अपने उद्देश्य से नही गिरा। अब नचिकेता कहता है।

मंत्र--यस्मिन्निदं विचिकित्सन्ति मृत्यो यत्साम्प-राये महति ब्रूहिनस्तत्। योऽयं वरो गूढमनु-प्रविष्टो नान्यं तस्मान्नचिकेता वृणीते ॥ २६ ॥

(शब्दार्थ) अस्मिन्=जिस आत्मज्ञान मे। इदम्=यह प्रश्न कि वह है या नही। विचिकित्सन्ति=शका की जाती है कि वह है तो कहाँ है, क्यो है। मृत्यो=हे यमाचार्य। यत्= जो। सम्परायें=मोक्ष की गति के सम्बन्ध में विचार है कि मोक्ष में जीव के साथ कौन से पदार्थ रहते है। महति=महा शंका है। ब्रूहि=कहो। न=मुझको। तत्= उसके उत्तर को। यः=जो। अयम्=आत्म-विषय का। वरं=

वर। गूढ़म्=गूढ़। अनुप्रविष्टोः=आत्मज्ञान के अनुकूल है अर्थात् जिसके जानने की आत्मा को ज़रूरत है। न=नही। अन्यम्=दूसरा। तस्मात्=उससे पृथक्। नचिकेता=नचिकेता। वृणीते=माँगता है।

(अर्थ) नचिकेता ने कहा—हे यमाचार्य! जिसमें इस प्रकार के शंका समाधान होते हैं कि परमात्मा है या नही, है तो कहाँ है, किस प्रमाण से जाना जाता है। नही है, तो क्यो सम्पूर्ण संसार इसको मानता है। यदि है, तो वह कैसा है मिला हुआ है अथवा पृथक् है, घिरा हुआ है अथवा खाली है, कर्ता है अथवा कर्तृत्वशून्य है, एक देशी है या सर्व व्यापक। अतिरिक्त इसके जो मुक्ति के सम्बन्ध में बहुत बड़ी बड़ी शंका हैं, कोई कहता है मुक्ति होती है, कोई कहता है नही होती, कोई कहता है मुक्ति नित्य है, कोई कहता है अनित्य है। कोई कहता है कि मुक्ति मे सूक्ष्म शरीर रहता है, कोई कहता है नहीं रहता। आप इन सब के उत्तर को मुझे उपदेश करें। जो यह वर अत्यन्त कठिन है जिसमें बुद्धि का प्रवेश करना महा दुस्तर है, आप इसका विचार पूर्वक प्रबन्ध करे कि मुझे यह शंका न रहे। और इससे पृथक् कोई वर अन्य नचिकेता नहीं माँग सकता। यद्यपि यह अन्तिम मार्ग का प्रश्न है, परन्तु मेरा वर भी अन्तिम यही है। यदि इस समय अन्य वर माँगलूं तो इसको किससे मालूम करूं। इस कारण नचिकेता अन्य वर नहीं माँग सकता, इसी को समझाइये।

इति प्रथमा वल्ली।

अथ द्वितीय वल्ली

मंत्र—अन्यच्छ्रेयोऽन्यदुतैव प्रेयस्ते उभे ना-

नार्थे पुरुषथ्ंं सिनीतः । तयोः श्रेयआददानस्य साधु भवति हीयतेऽर्थाद्य उ प्रेयोवृणीते १।३०।

(शब्दार्थ) अन्यत्=अन्य है । श्रेयः=मोक्ष के प्राप्त करने का साधन जो कल्याणकारी कर्म है । अन्यत्=उससे पृथक् अन्य है । उतप्रेयः=जो अत्यन्त प्रिय मालूम होता है अर्थात् स्त्री धनादि सांसारिक सुखों का कारण । उभे=यह दोनों कर्म । नानार्थे=नाना प्रकार के फलोंवाले कर्म । पुरुषम्=जीवात्मा को । सिनीतः=इच्छा की डोर में बाँधते हैं । तयोः=उनमें से । श्रेय आददानस्य=मोक्ष के साधन करने से । साधु=मोक्ष प्राप्त होता है । य उ=और जो । प्रेय=प्रेय को स्वीकार करता है । अर्थात्=बहुत सुख से । हीयते=खाली रह जाता है ।

(अर्थ) जगत् में दो प्रकार के कर्म हैं । एक वह जिनके आरम्भ में कोई कष्ट मालूम नहीं होता, किंतु बहुत ही मनोहर मालूम होते हैं । परिणाम जिसका ठीक नहीं इसको परिमार्ग अर्थात् सांसारिक सुखों का मार्ग कहा जाता है, जिस पर आजकल पश्चिमी जगत् चल रहा है ।

दूसरा वह मार्ग जिसके आरम्भ में और कोई सुख नहीं मिलता किन्तु विशेष दुःख भोगना पड़ता है, परन्तु अन्त में महासुख प्राप्त होता है जिसको मोक्ष कहते हैं प्राप्त होता है । इसी का नाम श्रेय मार्ग है । जिस पर चलनेवाले श्रेष्ठ कहलाते हैं । इन दोनों प्रकार के कर्मों की इच्छा जीवात्मा को वासना की डोर में बाँध लेती है ।

इनमें से जो श्रेय मार्ग है उसका साधन करता है वह तो अपने कार्य में सफल होता है अर्थात् दुखों से छूटकर नित्य

अर्थात् महाकल्प तक रहनेवाले सुख को प्राप्त करता है। और जो परिमार्ग को स्वीकार करना है वह इस मार्ग में नाकामयाब रहता है। जिस प्रकार जगत् में बोना और खाना दो प्रकार के कर्म हैं। जिस प्रकार गिरना और चढ़ना दो प्रकार की गति है। अब जो गिरता है उसको आरम्भ में कोई कष्ट नहीं मालूम होता परंतु जिस समय गिरने के स्थान भूमि पर पहुँच जाता है तब कठिन चोट आती है और किसी-किसी समय तो मृत्यु तक हो जाती है।

दूसरे जो चढ़ता है उसको आरम्भ मे कष्ट होना है, क्योंकि पृथ्वी की आकर्षण शक्ति का सामना करना पड़ता है, बहुत ही बल लगता है जिसमें थकावट पैदा होती है, परंतु नियत मार्ग पर पहुँच कर बहुत ही आराम मिलता है। खानेवाला उपस्थित को नष्ट करता है और बोनेवाला उसके सैकड़ो गुणा अधिक बना लेता है। एक का आरम्भ अच्छा और अन्त बुरा है, दूसरे का आरम्भ वैसा बुरा नही मालूम होता परन्तु परिणाम बहुत ही शुभ है। इन दोनों मार्गों में अपने साहस और पुरुषार्थानुकूल चलते हैं। जो आत्मिक बलहीन मनुष्य हैं वह प्रथम सुख को पसंद करते हैं जिससे वह सुख के मार्ग को प्राप्त करने से गिर जाते है। और जो अन्तिम है और जिनका आत्मिक बल बलवान् है वह आरम्भ के कष्टों की चिन्ता न करके उस मार्ग पर चलते है जिसका परिणाम बहुत उत्तम होता है। जिसमें बहुत ही सुख प्राप्त होता है।

मंत्र—श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेतस्तौ सम्परीत्य विविनक्ति धीरः। श्रेयोहि धीरोऽभिप्रेयसो वृणीते प्रेयो मन्दो योगक्षेमाद् वृणीते ॥२।२१॥

(शब्दार्थ) श्रेयश्च=कल्याण और। प्रेयश्च=जगत् सुख। मनुष्यम्=विचार करने योग्य मनुष्य को। एतः=प्राप्त होते अर्थात् जगत् मे इनसे सम्बन्ध करना पड़ता है। तो=इनमें से। संपरीत्य=इसको अधिक ध्यान की दृष्टि से अन्वेषण करके। विविनक्ति=इनकी हालतो की तुलना की जाती है जिसमें। धीराः=बुद्धिमान् मनुष्य। श्रेयो=शुभ मार्ग। हि= निश्चय करके। धीराः=विद्वान् धीर पुरुष। प्रेयसः=मनोहर से अन्त में सुख देनेवाले मार्ग को। अभिवृणीते=स्वीकार करता है। प्रेयः=सांसारिक मार्ग को। मन्दः=कम बुद्धि मनुष्य। योगक्षमाद्=निर्धनादि के भय से बचने और सांसारिक सुख का कारण समझकर। वृणीते=स्वीकार करता है।

(अर्थ) उपर्युक्त दो प्रकार के मार्गों से मनुष्यों का सम्बन्ध होता है। इनमें से जो बुद्धिमान् मनुष्य हैं जिनको सत्यासत्य का ज्ञान है, जो गूढ़ विचार युक्त, निरालसी, पुरुषार्थी और परिश्रमी हैं और जो दूरदर्शी है वह तो पितृमार्ग को (जिसमें यद्यपि इस समय सुख है परन्तु भविष्य में सुख के स्थान में दुःख की आशा है) छोड़कर श्रेय मार्ग को प्राप्त करते हैं। परन्तु जो लोग कम बुद्धि और बुद्धिहीन हैं, जिनको इतना ज्ञान और साहस नहीं कि वह धैर्य से इस मार्ग पर चल सकें। जिसका फल देर में मिलता है, वह वाह्य कष्टों के बचने के विचार और शारीरिक सुख का कारण जान कर सांसारिक सुख अर्थात् धन दौलत और राज पाट और स्वराज्य की इच्छा में जा गिरते हैं।

प्रश्न— क्या धन दौलत, स्वराज्य की इच्छा करना मूर्खों, आत्मिक बलहीनों का काम है? हम तो बड़े-बड़े योग्य मनुष्यों को इसमें लिप्त पाते हैं, जिनकी विद्या की संसार में धूम है।

उत्तर—निस्सन्देह जो लोग अपनी सत्ता से अनभिज्ञ है जिनको मैं कौन हूँ और मेरा क्या है, इस बात का भी सत्य-ज्ञान नहीं। जो यह भी नही जानते कि मेरे लिये लाभदायक क्या है और हानिकारक क्या है। उनको कोई चाहे कितना ही महायोग्य कहे, परन्तु वास्तव में वह अज्ञानी है। क्योंकि सांसारिक धन दौलत और स्वराज्य शरीर के लिये लाभ-दायक हैं न कि आत्मा के लिये? इनके सम्बन्ध से आत्मा को हानि पहुंचती है। अतः इनको बुद्धिमान् और योग्य कहना ऐसा ही है जैसा कि नाई का नाम * राजा रख दिया है।

मंत्र—सत्वं प्रियान् प्रियरूपांश्च कामानभिध्या यन्नचिकेतोऽत्यस्राक्षीः। नैताꣳसृङ्कां वित्तमयी-मवाप्तो यस्यां मज्जन्ति बहवोमनुष्याः ॥३।३२॥

(शब्दार्थ) सत्वं=वह तूने मेरे बहुत लोभ दिखाने पर भी। प्रियान्=प्रिय बेटे और पोतों के। प्रियरूपां=सुन्दर रूपयुक्त स्त्रियों का। च=और। कामान्=वासनाओं को। अभिध्यायन=सब प्रकार के दुःख रूप विचार करके। नचि-केताः=हे नचिकेता। अत्य स्राक्षी =त्याग कर दिया है। न= नहीं। एतान्=इस। सृङ्काम्=माला को। वित्तमयीम्=भोगने योग्य धन से युक्त है। न=नहीं। अवाप्तः=प्राप्त किया है। यस्याम्=जिसमें। मज्जन्ति=लिप्त हो जाते हैं। बहवो=बहुत से। मनुष्यः=मनुष्य।

(अर्थ) यमाचार्य ने कहा—हे नचिकेता! मैंने तुमको संतान अर्थात् बेटे पोतों का लोभ दिया और प्रिय आकृति-

* पञ्जाब में नाई को राजा कह कर पुकारते है।

वाली सुन्दर स्त्रियों का लोभ दिया और समस्त जगत् के सुखों का प्रलोभन दिया। परन्तु तूने इनको दुःखरूप विचार करके स्वीकार नहीं किया और मैंने तुझे इस सांसारिक धन के क्रम का जिसमे प्राय मनुष्य लिप्त हैं, उसका भी लोभ दिया। परन्तु इनमें से तूने किसी वस्तु को प्राप्त करना स्वीकार नहीं किया। और भी जितनी एषण अर्थात् राज्य और प्रभुत्व की इच्छा है उसका लोभ दिया। परन्तु तूने उसे भी स्वीकार नहीं किया। सारांश यह कि जितनी बाधाएँ आत्मज्ञान के मार्ग में है उन सब को पेश किया। परन्तु तू किसी बाधा से नहीं रुका और न किसी वासना में लिप्त हुआ, अतः तेरी पूर्ण बुद्धि प्रशंसा योग्य है।

मंत्र—दूरमेते विपरीते विषूची अविद्या या च विद्येति ज्ञाता। विद्याऽभीप्सिनं नचिकेतसं मन्ये न त्वा कामा बहवोऽलोलुपन्तः॥४।२३॥

(शब्दार्थ) दूरम्=दूर है। एते=यह। विपरीते=एक दूसरे के विरुद्ध। विषूची=दो विपरीत वस्तुओं को प्रकट करनेवाली। अविद्या=पापिमार्ग जिसका आरम्भ सुखमय और परिणाम निकृष्ट। या च=और जो। विद्या=श्रेय मार्ग जिसका आरम्भ शुष्क परिणाम और अन्ततःकल्याणकारक। ज्ञाता=मालूम किया है। अस्मिन्=यह। विद्या=श्रेय मार्ग को। नचिकेतः=नचिकेता को। मन्ये=जाननेवाला। न=नहीं। त्वा=तुझको। कामा=वासनाएँ या लाभदायक पदार्थ। बहवोः=बहुत सी। अलोलुपन्तः=अपने जाल मे नहीं फँसाते।

(अर्थ) हे नचिकेता! यह मैंने भली प्रकार जान लिया है कि यह विपरीत गुण अर्थात् अविद्या और विद्या इन दोनों में से

जो एक दूसरे के विरुद्ध है। दूसरी अविद्या को छोड़कर विद्या (अर्थात् जो वस्तु जैसी है उसको वैसा ही जानना रूप जो सत्यज्ञान है) तू उसी को जानता है। हे नचिकेता! तुझको संसार के धनादि पदार्थ तथा विषय भोग अपने जाल में फँसा नहीं सकते। वास्तव में तू अविद्या की शक्ति से दूर निकल गया है, अब तू अविद्या में फँस नहीं सकता। क्योंकि तूने इनका ज्ञान प्राप्त कर लिया है। और जिसको ज्ञान होजाता है वह उत्तम को छोड़कर अनुत्तम को प्राप्त नहीं कर सकता।

मंत्र—अविद्यायामन्तरे वर्त्तमानाः स्वयं धीराः पण्डितम् मन्यमानाः। दन्द्रम्यमाणाः परियन्ति मूढा अन्धेनैव नीयमाना यथाऽन्धाः ॥ ५ । ३४ ॥

(शब्दार्थ) अविद्यायाम्=अविद्या अर्थात् मिथ्या ज्ञान। परिमार्ग अंतरे=उसके अंतर। वर्त्तमानाः=लिप्त होने की दशा में। वयम्=अपने को। धीराः=ज्ञानवाला। पंडितम्=सत् असत् का विचार करनेवाला। मन्यमानाः=मानते हुए। दन्द्रम्यमाणाः=कुटिल मार्ग पर अर्थात् धोके से काम लेते हुए। परियन्ति=नीच गति को प्राप्त होते हैं। अन्धेन=अन्ध के। एव=है। नीयमाना=पीछे लगा हुआ। यथा=जैसे। अन्धाः=अन्धा।

(अर्थ) अविद्या अर्थात् मिथ्या ज्ञान के प्राप्त करने में लगे हुए अपने आपको धैर्यवान् और ज्ञानी कहनेवाले नीचगति को पहुँच जाते हैं। यथा किसी अन्धे के पीछे लगकर अन्धा कुवें में जा गिरता है। क्या ही उपदेश है कि जो परिमार्ग

अर्थात् सांसारिक विषयों में फँसे हुए अपनी आत्मिक दशा को बिगाड़ रहे हैं अर्थात् किसी समय भी इन बातों को नहीं विचारते कि मैं क्या हूँ, मेरे को क्या लाभदायक है और हानिकारक है। किन्तु ऐसा विचारनेवालों को अज्ञ और मूर्ख मनुष्य कहकर इनके ज्ञान को जो सत्य और सुख का कारण है तमोमय कहकर अर्थात् भ्रम बताकर अपने मिथ्या ज्ञान को सत्य बताते हैं। उनकी वही अवस्था है जैसे एक अन्धे के पीछे लगकर दूसरा अन्धा कुवे मे जा गिरता है। ऐसे सौन्दर्य प्रकृति पूजकों का अनुसरण करते हुए मनुष्य बहुत ही नीच गति को पहुँच गये हैं। जिनको अपनी सत्ता का तो ज्ञान नहीं परन्तु प्रतिज्ञा संसार के विज्ञान जानने को करते हैं। यह लोग स्वयम् भी कष्ट पाते है और अपने अनुयायी सहस्रों को वैदिक धर्म के स्थान मे विषयों में फँसाकर पाप कराते है। क्योंकि संसार की जितनी ऐहिक प्रत्यक्ष सुखद वस्तु हैं, इन सबका संबन्ध शरीर से है, जो पैदा हुआ वह नाश होने वाला है। अतः जो शरीर सहस्रों प्रकार का परिश्रम करने पर जीवित नहीं रहता तथा जो आत्मा कभी नही मरता। तो आत्मा को छोड़कर शरीर का दास बनना मूर्खता नही तो क्या है? ऐसी कोई सांसारिक वस्तु नही जो आत्मा के लिये लाभदायक हो। नित्य आत्मा के लिये अनित्य वैषयिक पदार्थ किस प्रकार लाभदायक हो सकते हैं। नित्य के वास्ते अनित्य किसी दशा में लाभदायक नही हो सकता। आत्मा के वास्ते विद्या और तप दो ही कल्याणकारक वस्तुएँ है।

विद्या, परमात्मा की पवित्र सत्ता से कभी विकार को नहीं प्राप्त होती। अर्थात् सर्वदा एक सी रहती है। कोई परिमार्ग का मनुष्य उस विद्या को नहीं जान सकता जिससे श्रेयमार्ग

की ओर पहुँचता है। श्रेयमार्ग पर वही मनुष्य जाते है और अविद्या की जंजीरो को काट कर विद्या के अमृत का स्वाद लेते हैं। जिनको चारों ओर अमृत ही अमृत मालूम होता है। वह किसी एक ओर बँधे हुए नहीं होते। कि संसार के उपकार को ही अपना उद्देश जानते हैं।

मंत्र—न साम्परायः प्रतिभाति बालं प्रमाद्यन्तं पित्तमोहेन मूढम्। अयं लोको नास्ति पर इति मानी पुनः पुनर्वशमापद्यते मे ॥ ६ । ३५ ॥

(शब्दार्थ) न=नही। साम्परायः=मुक्ति के साधन। प्रतिभाति=मन मे स्थिर नही होते अर्थात् इनमें मन नही लगता। बालम्=अज्ञानी मनुष्यो का। प्रमाद्यन्तम्=मुक्ति से निश्चिन्त होते हैं। वित्तमोहेन=जिनकी विद्या सांसारिक पदार्थों के प्रेम में लिप्त होने के कारण। मूढ़म्=नितान्त अन्धकार मय हो गया है। अयम् लोकः=यह जो प्रत्यक्ष दृष्टि आरहा है यही संसार या शरीर है अर्थात् यह जो सांसारिक विषय है यही है। नास्ति=नहीं है। परः=अब दूसरा जन्म या परमार्थ। इति=यह। मानी=माननेवाले। पुनः पुनः=बार बार। वशम्=वश में आते है। आपद्यते=प्राप्त होते हैं। मे=मेरे अर्थात् मेरे नामावाली मौत के।

(अर्थ) यमाचार्य ने कहा—हे नचिकेता! जो अज्ञानी पुरुष जिनको अपने स्वरूप का ज्ञान नही। जो यह नही जानते कि हम क्या हैं। इनको धन का स्नेह अन्धा होने के कारण मुक्ति के जो साधन हैं वह मन में स्थिर नहीं होते। यद्यपि वह अन्य दूसरों को मरता हुआ देखते हैं, अमीरों के धन को नाश

होता हुआ देखते है। राजाओ की संतान को मरता हुआ और राजाओ को कष्ट और आपत्ति में लिप्त देखते हैं। बड़े बड़े वीरों को हमारे से निर्बल होता हुआ देखते है। इन सब बातों को देखने और बुद्धि पर परदा पड़ने के कारण उनको मुक्ति के साधनो की ओर प्रेम नही होता। क्योंकि जिस वस्तु का निश्चय पूर्वक ज्ञान होता है उसका कर्म संसार मे देखा जा सकता है। परन्तु जहाँ पर निश्चयात्मक ज्ञान न हो, वहाँ कर्म नही हो सकता। अत निश्चयात्मक ज्ञान मेधावी बुद्धि से होता है। जैसे रूप का ज्ञान आँख से होता है। जब तक आँख ठीक होती है तब तक तो उसको सत्य ज्ञान होता है। जहाँ आँख में कमल वायु की बीमारी का दोष आया तो पदार्थों के असली रूप के देखने के अतिरिक्त समस्त पदार्थों को वह पीला ही पीला देखते है। ऐसे ही जिसको मेधाबुद्धि होती है उस को तो यह सांसारिक पदार्थ आत्मा के वास्ते नियत मार्ग में बाधा मालूम होते है। जिससे वह वैराग्य प्राप्त करता है। क्योंकि संसार के सर्व पदार्थ शरीर के वास्ते है, कोई भी सांसारिक वस्तु ऐसी नही जिसका सम्बन्ध शरीर को छोड़ कर आत्मा से हो। शरीर के भीतर से जो कुछ निकलता है वह सब अपवित्र है। आँख से कीचड़ निकलता है जो अपवित्र है। कान से मैल निकलता है वह भी नापाक है। नाक से जो निकलता है वह भी मैला ही है। मुह से थूक निकलता है वह अपवित्र है। मल-मूत्र भी अत्यन्त अपवित्र है। स्वेद से भी गन्ध आती है। सारांश, शरीर मे से जो कुछ निकलता है वह सबका सब दुर्गंधयुक्त होता है उसमें से कोई भी पवित्र नहीं। परन्तु जब तक शरीर के भीतर होता है तब तक उससे गंध नही आती, क्योंकि भीतर शुद्ध करनेवाली शक्ति

आत्मा उपस्थित है। जब तक आत्मा है तब तक तो शरीर अपवित्र नहीं, परन्तु जहाँ आत्मा शरीर से पृथक् हुआ तो यह सम्पूर्ण शरीर ऐसा अशुद्ध होता है कि जिस मकान में एक दिवस पड़ा रहे तो आस पास के मकानों की भी वायु को बिगाड़ देता है। कई दिवस तक होम करके वायु को शुद्ध करने की आवश्यकता होती है। ब्राह्मण पातक समझकर उसी मकान में बना हुआ भोजन खाने से इनकार कर देते हैं। जिससे स्पष्ट प्रकट होता है कि वास्तव में शरीर तो अपवित्र है। वह तब ही तक अशुद्ध नहीं मालूम होता, जब तक पवित्र करनेवाला आत्मा उसके भीतर मौजूद है। और आत्मा अवश्य एक दिन इस शरीर को त्याग देता है। चाहे हम कुछ ही खायें, केसर और कस्तूरी ही हमारे भोजन में शामिल हो, तो भी मृतक शरीर दुर्गन्ध के अतिरिक्त सुगंध नहीं फैला सकता। हम जो कुछ भोजन करते हैं वह सब शुद्ध होता है, परन्तु शरीर के संग से वह सब मैला होता है। अतः जो मेधा बुद्धि रखते है, वह तो इस अपवित्र शरीर की अपेक्षा शुद्ध आत्मा से अधिक प्रेम करते है। परन्तु जिनकी बुद्धि पर अविद्या का परदा पड़ा हुआ है, वह आत्मा को न जानते हुए यह मानते हुए दृष्टि पड़ते हैं कि प्रत्यक्ष जगत् तो है, परन्तु आगे दूसरा जन्म नहीं। यद्यपि मौत का भय उनको निशि दिन स्मरण कराता है कि उन्होंने मौत देखी है। क्योंकि जिस वस्तु को देखा नहीं अर्थात् किसी इंद्रिय से प्रतीत न किया हो उसमें राग द्वेष दोनों का प्रकट होना असम्भव है। और मौत से घृणा करते हुए भी इस बात को नहीं मानते कि मौत पहले देखी हुई है। निदान इसे लोग जो अविद्या के कारण प्रत्यक्ष पदार्थों पर ही आसक्त हैं। जिनको आत्मिक विद्या से कोई प्रेम नहीं वह

क्रमसे बन्धन में पड़ते है। अर्थात् जन्म लेते हैं और मरते रहते हैं। वास्तव में उस आदमी से कोई महा अभागी नहीं हो सकता जिसको अपनी सत्ता का ज्ञान न हो। परन्तु अविद्या भी एक विचित्र वस्तु है, लाखो मनुष्य हैं जो अपनी सत्ता और गुणों से अनभिज्ञ होते हुए भी यह समझते हैं कि हमारी समता कोई भी नही रखता। जिस प्रकार अन्धा सूर्य की सत्ता को नही देख सकता। यदि वह यह प्रश्न करे कि सूर्य नहीं है, तो उसका यह प्रश्न सिवाय उसके अन्धेपन का प्रमाण होने का और क्या हो सकता है। ऐसे ही जो मनुष्य पवित्र जन्म और ईश्वर को अपनी अल्पविद्या और अनभिज्ञता के कारण न जानते हुए मोक्ष के साधनो से वञ्चित रह कर और संसार के प्रेम में फँस कर दूसरों के जीवन को व्यर्थ नष्ट कर रहे हैं उनके सम्बन्ध में यही कहा जा सकता है कि वह स्वयं तो डूब रहे है और दूसरों को भी डुबाते हैं।

मत्र—श्रवणायापि बहुभिर्यो न लभ्यः शृण्वन्तोऽपिबहवो यं न विद्युः। आश्चर्योऽस्य वक्ता कुशलोऽस्य लब्धाऽऽश्चर्यो ज्ञाता कुशलानुशिष्ठः॥ ७। ३६॥

(शब्दार्थ) श्रवणाय=सुनने के लिये। अपि=भी। बहुभिः=बहुत से मनुष्यो को। यः=जो परमात्मा। न=नही लभ्यः=मिलता। शृण्वन्तः=सुनते हुए। अपि=भी। बहवः= बहुत से मनुष्य। यत्=जिसको। न=नहीं। विद्युः=जान सकते। आश्चर्य=आश्चर्य युक्त। अस्य=उस परमात्मा का। वक्ता=उपदेश करनेवाला अर्थात ब्रह्म विद्या को बताने

वाला बहुत कठिनता से मिलता है और उसका मिलना आश्चर्य युक्त है। कुशल=अत्यन्त सावधानी से। अस्य=इस ब्रह्म विद्या का। लब्धा=प्राप्त करनेवाला अर्थात् मेधा बुद्धि वाला इस विद्या को प्राप्त कर सकता है। आश्चर्य=अत्यन्त अलभ्य है। अस्य=इस ब्रह्म-विद्या का। ज्ञाता=जाननेवाला। कुशलानुशिष्टः=बहुत ही योग्य आचार्य की शिक्षा से इसका ज्ञान प्राप्त करनेवाला।

(अर्थ) यमाचार्य बताते हैं कि जिस ब्रह्म-विद्या को श्रवण के वास्ते भी बहुत से मनुष्यों को अवसर नहीं मिलता। अर्थात् न तो योग्याचार्य मिलता है और न प्रबल इच्छा ही उसके जानने की होती है। प्राय मनुष्य इस ब्रह्म-विद्या को पढ़ते और सुनते हैं तो भी इसकी वास्तविक दशा को भले प्रकार नहीं जान सकते। क्योंकि जगत् में नियम ही यह है कि प्रथम तो रत्नों की दुकाने ही बहुत कम होती हैं, दूसरे इसके ग्राहक भी अति कम होते हैं, इस कारण लाखो करोड़ो दीनों को तो रत्नों के नाम तक भी नहीं मालूम और बहुत से मोल लेने की भी शक्ति नहीं रखते हैं। और रत्न-परीक्षकों की दुकानें भी मिल जाती हैं तो वह पहिचान नही सकते। ऐसे ही बहुत से लोग ब्रह्म-विद्या की इच्छा भी रखते हैं, ब्रह्म-विद्या के पास जा कर भी अल्पविद्या के कारण से ब्रह्म विद्या की पहिचान नहीं कर सकते। वास्तव मे ब्रह्म-विद्या के जाननेवाले आचार्य जो इसका उपदेश करें बहुत थोड़े मिलते हैं।

पूर्ण विद्वान् मनुष्य इस विद्या को प्राप्त कर सकता है, इस विद्या को जानना सरल नही है। क्योंकि जब तक ब्रह्म श्रोत्रिय अर्थात् ब्रह्म विद्या को जाननेवाला और ब्रह्मनिष्ठ अर्थात् परमात्मा का पूर्ण विश्वासी आचार्य उपदेश करनेवाला न

मिले, तो इसको कोई जान ही नहीं सकता। और आचार्य की खोज महा कठिन है। क्योंकि जो ब्रह्म-विद्या का जानते हैं वह कहते नहीं और जो कहते हैं वह जानते नहीं। अतएव इसका पता लगना कठिन है। क्योंकि जो कहे कि मैं ब्रह्मविद्या को जानता हूं, वह वास्तव में जानता नहीं, इसलिये इससे शिक्षा पाना व्यर्थ है। और जो जानने का प्रण न करे, हम किस प्रकार समझ सकते है कि यह जानता है, इससे शिक्षा लेनी चाहिये। क्योंकि ब्रह्म-विद्या के पढ़ने और पढ़ानेवाले दोनो ही कठिनता से दृष्टि पड़ते हैं।

यमाचार्य ने इस कथन से यह प्रकट किया है कि नचिकेता तू बड़ा ही बुद्धिमान् है, जो ब्रह्म-विद्या को सीखना चाहता है।

मंत्र—न नरेणावरेण प्रोक्त एष सुविज्ञेयो बहुधा चिन्त्यमानः। अनन्यप्रोक्तेगतिरत्र नास्त्यणीयान् ह्यतर्क्यमणुप्रमाणात् ॥ ८ । ३७ ॥

(शब्दार्थ) न=नहीं। नरेण=मनुष्य द्वारा। अवरेण= जो उस मार्ग तक न पहुँचा हो। प्रोक्तः=बताते है। एषः= यह ब्रह्म-विद्या। सुविज्ञेयः=सरलता से जाना जा सकता है। ब ुधा= बहु प्रकार के मनुष्य। चित्यमानः=विचारने से। अनन्य प्रोक्ते=अन्य के बताने विना अर्थात् जो आचार्य अपनी उपमा न रखता हो उसके उपदेश के विना। गति= जान लेना। अत्र=इस आत्मा के अन्दर या ब्रह्म-विद्या में। नास्ति=नहीं है। अणीयान्=क्योंकि वह बहुत ही सूक्ष्म है। हि=निश्चय करके। ह्यतर्क्यम्=जिसमें युक्तियों का पूर्ण

प्रवेत्नशही है । अणु प्रमाणात्=सबसे सूक्ष्म होने के कारण ।

(अर्थ) यमाचार्य कहते है— हे नचिकेता ! यह ब्रह्मज्ञान उन मनुष्यों के उपदेश जो परमार्थ ज्ञान से शून्य है, जिनको प्राकृतिक पदार्थ विद्या का ही ज्ञान है, जानने योग्य नही। यद्यपि योगी लोग और संसार के भक्ति मार्ग वाले इसको बहु प्रकार से विचार करते हैं । उनकी शिक्षा से इस ब्रह्म-विद्या का जानना सरल नहीं । अतिरिक्त ब्रह्म श्रोत्रिय अर्थात् वेदों के अतिरिक्त विद्वान् और ब्रह्मनिष्ठ ईश्वर के विश्वासी आचार्य के और प्रकार इस विद्या में गति अर्थात् प्रवेश नही हा सकता । और न अपने आप बिना अन्य के उपदेश के उसको कोई जान सकता है । आशय यह है कि न तो अल्पविद्यावाले गुरु से इसका ज्ञान हो सकता है और न बिना गुरु के ब्रह्म-विद्या को जान सकते हैं । क्योंकि ब्रह्म के सूक्ष्म होने से ब्रह्म-विद्या भी सूक्ष्म है और इसमें तर्क को पूरा पूरा दखल नहीं। क्योंकि तर्क हेतु और उदाहरण को लेकर चलती हैं । इस स्थान पर हेतु और उदाहरण मिलना दुस्तर है, क्योंकि जहॉ से हेतु और उदाहरण मिलता है वह सब स्थूल जगत् में से मिलते हैं, जिसका कि मिला हुआ होना उचित है । और पृथक् में मिलावट का उदाहरण दोष है । अतः परमात्मा के अति सूक्ष्म होने से इसको केवल ब्रह्म-श्रोत्रिय गुरु की शिक्षा के द्वारा ही ठीक प्रकार जान सकते हैं ।

मंत्र- नैषा तर्केण मतिरापनेया प्रोक्तान्येनैव सुज्ञानाय प्रेष्ठ । यां त्वमापः सत्य धृतिर्वतासि-त्वादृङ्नो भूयान्नचिकेतः प्रष्ठा ॥ १ । ३८ ॥

(शब्दार्थ) न=नहीं। एषा=यह मेरी दी हुई बुद्धि या ज्ञान। तर्केण=तर्क द्वारा। आत=ब्रह्म-विद्या। आपनेया= त्यागने योग्य। प्रोक्ता=कही हुई। अन्येन एव=दूसरे अर्थात् तर्क के जाननेवाले से पृथक वेद के जाननेवाले आचार्य को भी। सुज्ञानाय=अच्छे ज्ञान के लिये। प्रेष्ठ=सबसे प्रिय। याम्=जिसको। त्वम्=तू। आपः=प्राप्त कर चुका है। सत्यम्= सत्य। धृति=धैर्य। वत् = वाले। असि = हो। त्वादृक = तेरे जैसा। नः = हमारा। भूतात् = हो। नचिकेतः = हे नचिकेता। प्रष्टा = शिष्य अर्थात् पूछनेवाला।

(अर्थ) यमाचार्य ने कहा—हे नचिकेता! तू मेरी दी हुई उस विद्या को तर्क करके नष्ट नहीं कर देता, क्योंकि यह तर्क से भी बलवान वेद के जाननेवाले आचार्य का उपदेश है। तर्क में भूल हो सकती है, यथा हेतु की जगह हेत्वाभास अर्थात् धोका देखने मे आता है। परन्तु वेद का उपदेश सत्यज्ञान के वास्ते है। हे प्रिय पुत्र! जिस ब्रह्म विद्या को तू ने प्राप्त किया है उसको सत्य और धैर्य के साथ काम में ला और क्रिया से पूर्ण होकर आचार्य ने कहा—हे नचिकेता! मैं परमात्मा से प्रार्थना करता हूँ कि तेरे जैसा और भी विद्यार्थी मुझको मिले। क्योंकि ऐसे अधिकारी विद्यार्थी के पढ़ाने से ऋषि-ऋण पूरा होता है। आशय यह है कि जिस समय किसी गुरु को अधि-कारी विद्यार्थी मिल जाता है, तो उसको इतनी प्रसन्नता होती है कि जिसकी सीमा नहीं।

प्रश्न - मनु ने कहा है कि जो तर्क से जाना जावे वही धर्म है, यहाँ पर यमाचार्य तर्क को त्यागते हैं।

उत्तर—इस मार्ग पर पहुँच कर तर्क काम नहीं देती। क्योंकि इस सूक्ष्म पदार्थ के वास्ते जिन वस्तुओं की आवश्य-

कता है वह तर्क से नहीं मिल सकती। मनु ने धर्म अर्थात् कर्तव्य के सम्बन्ध में तर्क का उपदेश किया है और यह विज्ञान का मार्ग है। इस कारण इन दोनों में विरोध नहीं। जैसे ब्रह्मचर्य और गृहस्थाश्रम में यज्ञोपवीत पहिनते है और संन्यास में उतारते है, परन्तु आश्रम-भेद के कारण से दो प्रकार के उपदेश मे कोई विरोध नहीं।

मंत्र—जानाम्यहꣳ शेवधिरित्यनित्यं नह्यध्रुवैः प्राप्यते हि ध्रुवंतत्। ततो मयानाचिकेतश्चितो-ऽग्निरनित्यैर्द्रव्यैः प्राप्तवानस्मि नित्यम् ॥१०।२६॥

(शब्दार्थ) जानामि = जानता हूं। अहम् = मे। शेवधि = धन दौलत को। अनित्यम् = अनित्य। इति = यह। न = नहीं। हि = निश्चय करके। अध्रुवैः = स्थिर न रहनेवाले धनादि से। प्राप्यते = प्राप्त होता है। ध्रुवम् = अचल अर्थात् नित्य। तत् = वह ब्रह्म। तत् = इस कारण ब्रह्म की अभिलाषा को त्याग करके। मया = मैंने। नचिकेतः = हे नचिकेता जिस अग्नि का तुझको उपदेश किया है। चित = यज्ञ किया। अग्नि = द्वारा। अनित्यै = स्थिर न रहनेवाले। द्रव्यैः = द्रव्यों से अर्थात् मन, इन्द्रिय और शरीर से। प्राप्तवान् प्राप्त किया है। अस्मि = मेने। नियम् = उस नित्य ब्रह्म को।

(अर्थ) यमाचार्य ने कहा—हे नचिकेता ! मै इस संसार में जो धन ऐश्वर्य और प्रभुत्व है उसको अनित्य अर्थात् स्थिर न रहनवाला जानता हूँ। और यह भी जानता हूँ कि इस धनादि से जो स्थिर रहनेवाला नित्य ब्रह्म है वह प्राप्त नहीं

हो सकता। इस कारण से हे नचिकेता, जिस अग्निहोत्र या यज्ञ का मैंने तुझको उपदेश किया है, निष्काम मैंने इस यज्ञ को कहा है, जिससे मैं अनित्य द्रव्य अर्थात् मन, इन्द्रिय और शरीर के द्वारा प्राप्त हुआ हूँ। उस नित्य ब्रह्म का आशय यह है कि यदि कोई धनादि से परमात्मा को प्राप्त करने की कोशिश करता है तो वह प्राप्त नही कर सकता। परन्तु यदि वह निष्काम परोपकार रूप यज्ञ मे उस धन वैभव को लगावे तो उसके अन्तःकरण शुद्ध हो जाने से इन्द्रियाँ वश में आ जावेंगी। और इन्द्रियों के आधीन होने से वह शुद्ध ब्रह्म जाना जा सकता है। इस कारण हे नचिकेता, मैंने इन अनित्य पदार्थों के त्याग से उस नित्य ब्रह्म को प्राप्त कर लिया है।

मंत्र—कामस्याप्तिं जगतः प्रतिष्ठां क्रतोरनन्त्य-मभयस्य पारम्। स्तोममहदुरुगायं प्रतिष्ठां दृष्ट्वा धृत्या धीरो नचिकेतोऽत्यस्राक्षीः ॥ ११।४० ॥

(शब्दार्थ) कामस्य=इच्छानुकूल भोग के। आप्तिम्=प्राप्त होने को। जगतः=प्राणिमात्र की। प्रतिष्ठाम्=सम्पूर्ण जगत् स्त्री पुरुष के फल से ही उत्पन्न होता है। क्रतो=अश्वमेधादि यज्ञ की। अनन्त्यम्=जिसका अन्त न हो अखंड। अभयस्य=अभय अर्थात् स्वतंत्रता की। पारम्=सीमा जहाँ कुछ भी भय न हो। स्तोम महत्=जिसकी प्रशंसा सब मनुष्य करते हों। दुरुगायं=जिसकी प्रशंसा बहुत से लोग करते हों। प्रतिष्ठाम्=इस प्रतिष्ठा को। दृष्ट्वा=देखकर। धृत्या=धैर्य से। धीराः=ध्यान करने-वाले। नचिकेताः=हे नचिकेता तूने। अत्य स्राक्षीः=त्याग कर दिया है।

(अर्थ) हे नचिकेता ! यद्यपि जगत् स्त्री पुरुष के फल से ही उत्पन्न हुआ है और स्थित है, तो भी तेरे अन्तःकरण मे उसका इच्छा नही। यद्यपि यज्ञ अग्निहोत्र से लेकर अश्वमेध तक अनन्त और अखंड है। यद्यपि निर्भयता और स्वतंत्रता की सीमा तक पहुंच सकता है। यद्यपि जगत् में सर्व साधारण लोग प्रशंसा करते हैं।

यद्यपि कवि लोग जिसकी प्रशंसा की कविता, वह भी उत्तम है। परन्तु हे नचिकेता, तूने इन सबको तुच्छ समझकर ध्यान के द्वारा मूल तत्त्व को मालूम करके धैर्य्य से त्याग किया है जिससे तेरे ज्ञान की प्रशंसा करनी पड़ती है। क्या इस कथा को देखकर भी कोई कह सकता है कि भारत के मनुष्य असभ्य थे ?

मंत्र—तं दुर्दर्शं गूढमनुप्रविष्टं गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम्। अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति ॥ १२ । ४१ ॥

(शब्दार्थ) तम्=जो बहुत सुननेवालो को भी कठिनता स मिलता है उस परमात्मा को। दुर्दर्शम्=जो महा-कठिनाई से देखा जा सकता है। गूढ़म्=जो इन्द्रियो की शक्ति से बाहर होने के कारण छिपा हुआ है। अनुप्रविष्टम्=जो शरीर के भीतर रहनेवाले जीव के भी भीतर प्रवेश कर रहा है। गुहाहितं=जो मेधा बुद्धि के भीतर स्थिर है। गह्वरेष्ठम्=जो ऐसे स्थान पर रहता है जहाँ पहुँचना दुस्तर है। पुराणम्=जो अनादि काल से है। अध्यात्म योगात्=बाहर की इन्द्रियों को रोक कर चित्त को एक जगह एकत्र करने से। अधिगमेन=जो जाना जाता

है ऐसे । देवम्=प्रकाश स्वरूप को । मत्वा=जानकर । धीर=ध्यान करने का स्वभाव रखनेवाला धीर पुरुष (विद्वान्)। हर्ष शोकौ=हर्ष और शोक को । जहाति=त्याग देता है अर्थात् उसे लाभ हानि ही नहीं मालूम होती जिससे हर्ष शोक प्राप्त हो।

(अर्थ) जिस परमात्मा को यह लोग उसकी प्रशंसा सुनकर भी नहीं जान सकते, उस कठिनता से देखने योग्य परमात्मा के जानने से स्वाभाविक ध्यानवाला विद्वान् जगत् के राग द्वेष और शोक से मुक्त हो जाता है। वह परमात्मा कहीं दूर नहीं किन्तु इन्द्रियों की शक्ति से परे होने के कारण छिपा हुआ है। जैसे आँख से सुरमा कहीं दूर नहीं होता परन्तु बहुत ही पास होने से दृष्टि नहीं आता। ऐसे ही जीवात्मा जो शरीर में प्रवेश कर रहा है वह उस जीवात्मा के भी अन्दर मौजूद है। । केवल बुद्धि अर्थात् मन के भीतर ही उसका प्रतिबिम्ब कायम हो सकता है अथवा ज्ञान से ही देख सकते हैं। क्योंकि वह ऐसे स्थान पर भी है जहाँ पर पहुँचना अत्यन्त कठिन है । यद्यपि वह सदैव से सब में व्यापक है, परंतु तो भी उसको कठिनता से जान सकते हैं। केवल वह लोग जो मन को शुद्ध और स्थिर करके उसके प्रतिबिम्ब को देख सकते हैं अर्थात् मन के एकाग्र होने से इसके आनन्द को जानने से उसे जान सकते है।

प्रश्न—क्या भक्तों को परमात्मा का दर्शन नहीं होता ?

उत्तर—जो ज्ञान उत्पन्न करके मन को निष्काम कर्म से शुद्ध करले, अभ्यास और वैराग्य के द्वारा मन को स्थिर करे और अहंकार के परदे को दूर कर सके, वही परमात्मा को

जान सकता है । बिना ज्ञान की भक्ति के इसका जानना असम्भव है।

प्रश्न—इस समय बहुत से मनुष्य कहते है अमुक मनुष्य परमेश्वर के पास गया और उससे अकाल पुरुष ने यह कहा, जिससे साफ़ मालूम होता है कि वह किसी एक स्थान पर रहता है और भक्तों से बातें भी करता है।

उत्तर—जो कोई उसके पास जाता है अपने भीतर ही जाता है। दूसरे स्थान पर जाकर देखना असम्भव है। हाँ किसी महात्मा ने स्वप्न देखा हो तो सम्भव है। और स्वप्न में या भंग की तरंग में बाते भी की हों वास्तव में नहीं।

मंत्र—एतच्छ्रुत्वा सम्परिगृह्य मर्त्यः प्रवृह्य धर्म्य-मणुमेतमाप्य । स मोदतेमोदनीयꣳहि लब्ध्वा विवृतꣳ सद्म नचिकेत सम्मन्ये॥ १३ । ४२ ॥

(शब्दार्थ) एतत्=उपरोक्त परमात्मा या ब्रह्म विद्या को। श्रुत्वा=सुनकर या आचार्य से पढ़कर । सम्परि-गृह्य=ठीक-ठीक जानकर । मर्त्यः=मरण धर्मवाला मनुष्य। प्रवृह्य=आत्मिक बल की उन्नति करके। धर्म्यम्=अपने धर्म से । अणुम=मोक्ष । एतम्=उस परमात्मा को । आप्य= प्राप्त होकर । स=वह । मोदने=खुश होता है। मोदनीये= आनन्द स्वरूप परमात्मा को लाभ उठाता है। लब्ध्वा=प्राप्त करके। विवृत्=साफ । सद्मः=जल्दी। हे नचिकेतः=हे नचि-केता। मन्ये=मानता हूँ।

(अर्थ) उपर्युक्त परमात्मा या ब्रह्म-विद्या को आचार्य से पढ़कर और सब प्रकार जानकर, मरण धर्मवाला मनुष्य

हैं उनको मुझे बतावें। वेद की श्रुति से प्रकट है कि परमात्मा किसी वस्तु का प्राकृतिक कारण नहीं हो सकता, क्योंकि उस दशा में उसकी गणना कारण में होती है, अतः इस कारण से पृथक् बताकर सिद्ध कर दिया कि परमात्मा जगत् का प्राकृत कारण नहीं और उससे यह भी प्रकट है कि परमात्मा को जानकर ही शान्ति हो सकती है। यदि जगत् का प्राकृतिक कारण आनन्द स्वरूप परमात्मा होता, तो जगत् में आनन्द मिल सकता, परन्तु जगत् का प्राकृत कारण परमात्मा नहीं, अतः उससे आनन्द भी नहीं मिल सकता। अतः जो इस जगत् से पृथक् है, उसकी खोज आनन्द के इच्छुकों को अवश्य है। अब यमाचार्य उपदेश करते हैं।

मंत्र—सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति तपाꣳसि सर्वाणि च यद्वदन्ति। यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदꣳसंग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत् ॥ १५ । ४४ ॥

(शब्दार्थ) सर्वेवेदाः=ऋक्, यजु, साम और अथर्व चारो वेद। यत्=जिस। पदम्=ब्रह्म के प्रकाश करनेवाले शब्द को। आमनन्ति=बार-बार कहते है। तपांसि=तप। सर्वाणि= हर प्रकार के यम नियम आदि। च=और। यत्=जिसको। वदंति=कहते है। यत्=जिसको। इच्छन्तः=इच्छा रखते हुए। ब्रह्मचर्यं=ब्रह्मचर्य व्रत को। चरन्ति=अमल मे लाते है। तत्=इस। ते=तेरे मिलने योग्य। पदम्=शब्द को अर्थात् ब्रह्म के नाम को। संग्रहेण=संक्षेप से। ब्रवीमि= कहता हूँ। ओ३म्=ओ३म्। इति एतत्=यह परमात्मा का सब से उत्तम नाम है।

(अर्थ) यमाचार्य कहते है—हे नचिकेता! जिस शब्द को सब वेद परमात्मा की प्राप्ति के लिये साधन बताने के लिये बार-बार कहते है, जिसके प्राप्त करने के लिये वेदों ने हर प्रकार के तप और साधन बताए हैं अर्थात् पहले पढ़ने में जितना कष्ट होता है फिर अंत करण की शुद्धि के लिये अनेको प्रकार के व्रत करने में और यज्ञ आदि की सामग्री के एकत्रित करने और निष्काम परोपकार करके अन्तःकरण को ठीक करके, इसको एक ओर लगाने के लिये अभ्यास और वैराग्य के साधनो को ठीक करने में जिस प्रकार के तप बताए हैं, जिसकी इच्छा करते हुए ब्रह्मचर्याश्रम धारण किया जाता है। अर्थात् समस्त इन्द्रियों को रोक ब्रह्म अर्थात् वेद के नियम की पूरी-पूरी आज्ञा पालन करते हुए वेदों की शिक्षा पाते हैं। जिससे वह बाधा अँधेरे की जिसके कारण से अपने में व्यापक परमात्मा को भी जान नही सकते। जिस प्रकार दर्पण से ही आँख और आँख का अंजन दृष्टि पड़ता है, इसी प्रकार मन रूपी दर्पण से ही जीवात्मा और परमात्मा का ज्ञान हो सकता है। बिना मन के शुद्ध हुए उसको देख नही सकते, परंतु अंधेरी रात में कुछ दृष्टि ही नही आता। इस कारण चाहे दर्पण से आँख का अंजन दीखता हो या आँख से किसी दूसरी वस्तु को प्रकाश की दशा की आवश्यकता होती है।

इसी प्रकार ब्रह्मज्ञान के वास्ते जिस प्रकार की आवश्यकता है वह वेद-विद्या है। जिसके यथावत् प्राप्त करने का साधन ब्रह्मचर्याश्रम है। बिना ब्रह्मचर्याश्रम के वह ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता। अतः जिस पद अर्थात् शब्द के जानने के वास्ते उपर्युक्त साधन किये जाते है, उस साधन को संक्षेप से तुझे बताता हूँ। वह पद केवल ओ३म् है अर्थात् अकार से व्यापक

होने का उकार, प्रकाशक होने का प्रमाण और मकार से बुद्धि-मत्ता और प्रकाश स्वरूप तथा इसके अतिरिक्त अन्य सब कामो का पता ओ३म् से लग जाता है। अधिक व्याख्या माण्डूक्य में देखो।

मंत्र—एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म एतद्ध्येवाक्षरंपरम्। एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा योयदिच्छति तस्य तत् ॥ १६ । ४५ ॥

(शब्दार्थ) एतद् = यह अकार, उकार, मकार से बना हुआ जो अक्षर। हि = निश्चय करके। एव = ही। अक्षरम् = नाश रहित। ब्रह्म = सब मे व्यापक। एतद् = यही। एव = ही। अक्षरम् = नाश रहित। परम = नियत मार्ग अथवा मोक्ष का ज्ञान है। एतद् = इस। एव = ही। अक्षरम् = ओ३म् को ज्ञात्वा = जानकर। यः = जो मनुष्य। यत् = जो वस्तु। इच्छति = इच्छा रखता हो। तस्य = उसको। तत् = वह वस्तु मिल जाती है।

(अर्थ) यमाचार्य उपदेश करते है कि हे नचिकेता! ओ३म् अक्षर है यही सब से बड़ा और नाश रहित ब्रह्म है। और वही मनुष्य जीवन का नियत मार्ग या सब से बढ़कर जानने योग्य पदार्थ और ज्ञान की अंतिम सीमा है। सारे साधन इसके ज्ञान के लिये ही आवश्यकीय है। जिस प्रकार मार्ग की कुल सामग्री नियत स्थान पर पहुँचने के लिये होती है। ऐसे ही शरीर, इन्द्रिय, मन आदि सब पदार्थ ओ३म् को जानने के लिये ही हैं। जिस प्रकार समस्त रसोई की सामग्री का आशय केवल पेट भरना ही होता है, इसी प्रकार सम्पूर्ण साधनो की प्रति केवल परमात्मा के जानने के

लिए है। और जो मनुष्य उस अक्षर को जान जाता है अर्थात् जिसको परमात्मा का ज्ञान हो जाता है। उसको जो कुछ इच्छा होती है वह सब पूर्ण हो जाती है। प्रथम तो ओ३म् को जानने के पश्चात् किसी इच्छा का होना ही कठिन है, क्योंकि नियत मार्ग पर पहुंचने से प्रथम मार्ग की सामग्री दृष्टिगोचर होती है, कोई ऐसा नहीं होता जिसकी इच्छा शेष है, उसी ओ३म् को आदि जगत् से मनुष्य सब से उत्तम नाम कहते चले आये हैं। इस नाम के ज्ञान से हर प्रकार का कष्ट स्वयं दूर हो जाता है, सम्पूर्ण सुखों का श्रोत यही मुख्य नाम है। जो लोग ओ३म् के उपासक है उनको हर्ष, शोक, भयादि से कोई संबंध ही नही। जिस स्थान में सूर्य का प्रकाश हो, वहाँ किसी प्रकार का अंधकार हो ही नहीं सकता। ऐसे ही जिस किसी ने ओ३म् को जान लिया है उसको अविद्या हो नही सकती। जहाँ अविद्या नहीं है वहाँ दुख किस प्रकार हो सकता है। क्योंकि अविद्या से राग द्वेष में प्रवृत्ति होती है, प्रवृत्ति अर्थात् बुरे भले कामो के करने से पाप पुण्य होते हैं और पाप पुण्य से जन्म मरण होते है जिससे दुख होता है। जहाँ अविद्या नही, वहाँ राग द्वेष हो ही नही सकता। जहाँ राग द्वेष नहीं, वहाँ दुख किसी प्रकार उत्पन्न नही होते ? अतः एक ओ३म् के स्वरूप का ज्ञान लेना ही सम्पूर्ण क्लेशो से मुक्त हो जाना है।

मंत्र—एतदालम्बनꣳ श्रेष्ठमेतदालम्बनं परम्
एतदालम्बनं ज्ञात्वा ब्रह्मलोकेमहीयते॥ १७।४६॥

(शब्दार्थ) एतद्=ओ३म् की उपासना ही। आलम्बनं= साधन। श्रेष्ठं=इसर्वोत्तम साधन। एतद्=यही। आलम्बनं=

साधन। परम्=सब से अन्तिम परमात्मा की प्राप्ति के लिय हैं। एतद्=इस। आलम्बनं=साधन को। ज्ञात्वा=ज्ञान के अनुकूल कर्म करके। ब्रह्म-लोके=ब्रह्म के दर्शन की। महायते= महिमा को प्राप्त होता है अर्थात् ब्रह्मानन्द को प्राप्त करता है।

(अर्थ) ओ३म् की उपासना सर्व श्रेष्ठ मुक्ति का साधन है, और साधन में वह सब ओ३म् की उपासना के योग्य बनने के वास्ते ज्ञान की आवश्यकता है। परन्तु इसलिये कि उपासना के योग्य बन जावें अर्थात् अविद्या जो उपासना के मार्ग में बाधा डालनेवाली है दूर हो जावे। कर्म की आवश्यकता है, इसलिये हमारा मन जो मैला है लग नही सकता। इसमें लगाने के लिये शुद्ध मन की जरूरत है और विना निष्काम कर्म के मन शुद्ध हो नही सकता। और विना मन की शुद्धि के ओ३म् की उपासना सम्भव ही नही। अत जितने साधन है वह सब इससे पहले ही होते हैं। ब्रह्म के जानने के लिये यह सब से अंतिम साधन है। जिसने इस साधन को जान लिया है वह ब्रह्मलोक के सुख अर्थात् ब्रह्म दर्शन के आनन्द को प्राप्त होता है।

मंत्र—न जायते मृयते वा विपश्चिन्नायं कुतश्चिन्न बभूव कश्चित्। अजोनित्यः शाश्वतोऽयम्पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥ १८ । ४७ ॥

(शब्दार्थ) न=नहीं। जायते=उत्पन्न होना। मृयते= मरना। विपश्चित्=ज्ञान स्वरूप परमात्मा। न=नहीं। अयं=सर्वज्ञ परमात्मा। कुतश्चित्=किसी कारण। बभूव= पैदा हुआ है अर्थात् उसका कोई कारण नहीं, क्योंकि नित्य है। कश्चित्=कोई उसकी संतान बेटा आदि भी नहीं।

अज=अजन्मा । नित्य=नित्य । शश्वत=अनादि है । अयम्=यह परमात्मा । पुराणः=सनातन किन्तु एक रूप है । न=नहीं । हन्यते=नाश होता है । हन्यमाने=नाश होने से । शरीरे=शरीर के ।

(अर्थ) यमाचार्य कहते हैं कि हे नचिकेता ! यह जीवात्मा और परमात्मा न तो उत्पन्न होते हैं और न मरते हैं । क्योंकि ज्ञान स्वरूप परमात्मा और चेतन जीवात्मा मिश्रित नहीं, इसलिये इनका कोई कारण नहीं जिससे इनकी उत्पत्ति स्वीकार की जावे और न यही कि किसी की हालत से बनी है जो इनसे उत्पन्न हो ।

उपादान कारण—

यह दोनो उत्पत्ति से पृथक् है और नित्य हैं । एक राजा है, दूसरा उनकी प्रजा है और सदा एक रस रहते हैं । ६ विकार अर्थात् उत्पन्न होना, बढ़ना, एक सीमा तक बढ़ कर रुक जाना, रूप बदलना, घटना और नाश हो जाना, इनसे यह दोनों पृथक् हैं । क्योंकि यह विकार मिश्रित है और दुनिया में पाये जाते हैं ।

जो कुछ उत्पन्न होता है वह कर्म अर्थात् काम करने से उत्पन्न होता है । काम करने से दो गुण उत्पन्न होते हैं, एक संयोग दूसरे वियोग । यह दो गुण मिश्रित में रहते हैं, दो अणुओं के मिलने से संयोग उत्पन्न होता है । एक अणु में संयोग ही है अर्थात् मृत्यु और उत्पत्ति शरीर के लिये हैं । उसमें रहनेवाले जीव और ब्रह्म शरीर के नाश होने से नाश नहीं होते और उत्पत्ति से उत्पन्न नहीं होते ।

प्रश्न—जब कि जीव और ब्रह्म शरीर में रहते हैं तब उनका शरीर से संयोग क्यों न स्वीकार किया जावे । और जीव शरीर

को छोड़ता भी है, इस कारण उसमें वियोग क्यों न स्वीकार किया जावे।

उत्तर— संयोग गुण कर्म के स्वभाव से उत्पन्न होता है ब्रह्म स्वतन्त्र है उस पर कर्म का प्रभाव हो नही सकता अर्थात् ब्रह्म में गुण मानना ठीक नही दूसरे जीव भी कर्म करने में स्वतन्त्र है, उसमें भी संयोग तथा वियोग का मानना उचित नहीं। अर्थात् संयोग और वियोग उपादान कारण मे ही कर्ता के कर्म प्रभाव से होते हैं। क्योंकि ब्रह्म और जीव उपादान कारण नहीं, इस कारण उनमे संयोग और वियोग के न होने से ६ विकार नही। अर्थात् यह विकार शरीर में ही हो सकते है, ब्रह्म और जीव विकारो से पृथक् एक रस है। और जब तक इन से पृथक् कोई उपादान कारण न हो जिस पर इनके कर्म का प्रभाव हो, तब तक शरीर पैदा हो नही हो सकता।

प्रश्न—सब मत वाले यह मानते हैं कि दुनिया में ईश्वर ही उपादान कारण है, अन्य कोई वस्तु उपादान कारण नहीं है। फिर दुनिया की उत्पत्ति ईश्वर के बिना किससे हो सकती है।

उत्तर—परमेश्वर सब का कारण है क्योंकि कर्ता के कार्य से ज्ञान स्वरूप परमात्मा का बोध होता है। परमाणुमय प्रकृति है और स्वरूपहीन दीन जीवात्मा है। और परमेश्वर ज्ञान स्वरूप है क्योंकि यह नियम है विशेषण से विशेष्य की उत्पत्ति नहीं होती और न विशेष्य से विशेषण की। अर्थात् ज्ञान स्वरूप परमात्मा विशेष्य नही हो सकता। अर्थात् सब अनादि है और शेष सब गुण हैं।

ईश्वर का गुण ज्ञानमय है, किसी ने उसको बाला बतलाया है। अगर वह संसार का उपादान कारण है तो किसी दशा में संयोग और वियोग के प्रभाव से पैदा नहीं हो सकता। संयोग और वियोग का प्रभाव स्वतंत्र पर नही होता और

परतंत्र पर होता है अर्थात् उपादान कारण होने के लिये उसका परतंत्र होना आवश्यकीय है। और कर्ता के कर्म के लिये स्वतंत्र होना आवश्यकीय है यह दोनों परस्पर में विपरीत है, जिनका मिश्रित होना असम्भव है। अगर कहो कि उसको विकृत मान कर किसी अंश में ले लेंगे। जैसे कि आत्मा कर्म करने में स्वतंत्र, फल भोगने मे परतन्त्र है। लेकिन परमात्मा की दशा सम्भव नही। इस कारण परमात्मा एक रस है।

मंत्र—हन्ता चेन्मन्यते हन्तुꣳ हतश्चेन्मन्यतेहतम् । उभौ तौ न विजानीतोनायꣳ हन्ति न हन्यते ॥ १६ । ४८ ॥

(शब्दार्थ) हन्ता=मारनेवाला । चेत्=यदि हो। मन्यते=मानता है। हन्तुम्=मैं आत्मा को मार सकता हूँ। हतः=मरा हुआ। चेद=यदि हो। मन्यते=मानता है। हतम्=मरा हुआ। उभौ=दोनो अर्थात् मरने और मारनेवाले, जाननेवाले। तौ=वह दोनों आत्मा। न=नही। विजानीतः=जानते है। न=नही। अयम्=यह जीवात्मा और परमात्मा। हन्ति=मारने मे। न=नहीं। हन्यते=मरते है।

(अर्थ) जब कोई मनुष्य जगत् में मरता है, तो लोग कहते है कि इसको परमेश्वर ने मार दिया या अमुक मनुष्य ने मारा। यह विचार अज्ञानी मनुष्यों का है, क्योंकि ईश्वर न तो अपनी इच्छा से कोई काम करता है कि उसको मारनेवाला कहा जावे। वह तो स्वभाव से करता है, अतः उसका प्रभाव कर्मों के अनुकुल पड़ता है। जिसके जैसे कर्म हैं उस पर ईश्वर के न्याय का प्रभाव ऐसा ही पड़ता है। अर्थात् जिसके कर्म मरने के हैं

वह ईश्वर के न्याय नियम से मरता है और जिसके कर्म मौत के योग्य नही वह नहीं मरता। इस कारण ईश्वर को मारने-वाला कहना अज्ञानता है। जीव को किसी को मारने की शक्ति नहीं, अतः जीव और ब्रह्म को मारनेवाला समझना भूल है। आत्मा को मरने और मारनेवाला समझनेवाले दोनो अज्ञानी हैं। न तो आत्मा मरता है और न किसी को मारता है। जीवात्मा और परमात्मा दोनो को बताकर अब अकेले परमात्मा को बताते हैं।

मंत्र--अणोरणीयान्महतो महीयानात्मास्य जन्तो-र्निहितोगुहायाम् । तमक्रतुः पश्यति वीतशोको धातुःप्रसादान्महिमान् मात्मनः ॥ २० । ४६ ॥

(शब्दार्थ) अणो. = सूक्ष्म। अणीयान् = सूक्ष्म। महतः = बड़ो से भी। महीयान् = बड़ा। आत्मा = वह व्यापक परमेश्वर। अस्य = इस। जन्तोः = इस प्राणी जीव के। निहितः = नियत है। गुहायाम् = बुद्धि मे। तम् = उसको। अक्रतुः = इच्छा से कर्म न करनेवाला। पश्यति = जो जानता है अर्थात् जिसको यह विद्या है कि परमात्मा अपनी इच्छा से काम नहीं करता। वीतशोकः = वह शोक से पृथक् जीव को मालूम होता है। धातुः प्रसादात् = सत् असत् के धारण करनेवाली बुद्धि। महिमानम् = महत्ता को। आत्मनः = आत्मा की।

(अर्थ) वह परमात्मा सूक्ष्म से भी सूक्ष्म है। अतः यह नियम है कि सूक्ष्म के भीतर स्थूल के गुण नही जा सकते और स्थूल के भीतर सूक्ष्म के गुण आ सकते है। अतः सब से सूक्ष्म होने के कारण परमात्मा में किसी का गुण नहीं जा सकता।

वह सब में व्यापक है, महान् से भी महान् होने के कारण सब उसके भीतर है। अतः कोई उसके राज्य से बाहर भी भाग कर नहीं जा सकता। वह प्रत्येक मनुष्य के मन के भीतर उसके संकल्प को देख रहा है। मनुष्य समझता है कि छिपकर पाप करता हूँ, परन्तु दंड देनेवाला उसके भीतर व्यापक होने से देख रहा है। उससे हमारा कोई कर्म गुप्त नही रह सकता। जिससे झूठे साक्षी या वकीलों के कारण हम उसकी सज़ा से बच सके। वह अपनी इच्छा से किसी को सुख दुःख नहीं देता, क्योंकि वह न्यायकारी और दयालु है। उसका न्याय प्रत्येक के लिये एक समान है। वह विना कारण किसी को मित्र, शत्रु नहीं जानता न उसके राज्य में किसी प्रकार का अन्याय हो सकता है। वह स्वभाव से ही कर्मों का फल देता है।

जो मनुष्य संसार की चिताओ से स्वतन्त्र होकर मन को शुद्ध कर लेते हैं, वही उसको मेधा बुद्धि के कारण देख सकते है। जिनकी बुद्धि में किसी प्रकार का दोष है या जिनका मन संसार की चिन्ताओं में लिप्त हो रहा है, उनको इसको ज्ञान नही हो सकता।

प्रश्न—श्रुति ने तो अणु से भी अणु अर्थात् छोटे से भी छोटा बताया है, तुमने इसका अर्थ सूक्ष्म से सूक्ष्म क्यो किया?

उत्तर—श्रुति का अर्थ यहाँ अणु से सूक्ष्म का ही है, क्योंकि जो सब से छोटा है, वह बड़ों से बड़ा नहीं हो सकता। अतः यहाँ भी अर्थ सत्य है कि वह छोटो से छोटा नही किन्तु सूक्ष्म से सूक्ष्म है।

प्रश्न—श्रुति ने तो बताया है कि जो उसका करना होना नहीं मानता। तुम इच्छा से करना होना अर्थ करते हो।

उत्तर—श्रुति का अर्थ तो इच्छुक के प्रतिकूल है। क्योंकि

दूसरी श्रुति ने उसमें स्वभाविक करना स्वीकार किया है, यदि यहाँ करने का विरोध किया जावे तो सत्य नहीं। क्योंकि परमात्मा का लक्षण जगत् पैदा करने, स्थिर रखने और नाश करनेवाला स्वीकार किया गया है।

प्रश्न—मन के शुद्ध करने के लिये जगत् की चिन्ता से स्वतंत्रता की क्या आवश्यकता है ?

उत्तर—जीवात्मा काम करने में स्वतंत्र और भोगने में परतंत्र है। जो मनुष्य इस बात को समझ जाते हैं, जो भोग के लिये पुरुषार्थ नहीं करते, किंतु सर्वदा करने में लगे रहते हैं, यदि भोग की चिन्ता है, तो संसार का उपकार नही हो सकता। अतः संसार के उपकार के लिये भोग की चिन्ता से मुक्त रहना ज़रूरी है। दूसरे भोग की चिन्ता करना अविद्या है, जहाँ अविद्या है वहाँ विद्या नहीं आ सकती, जैसा कि कहा है।

मंत्र—आसीनो दूरं व्रजति शयानो याति सर्वतः।
कस्तं मदामदं देव मदन्योज्ञातुमर्हति॥२१।५०॥

(शब्दार्थ) आसीनः=स्थिर होने पर भी। दूरम्=बहुत दूर। व्रजति=जहाँ कोई जावे वहाँ आगे ही उपस्थित पाया जाता है। शयानः=जब स्वप्नावस्था तमोगुण के परदा से ढँप जाता है। याति=मन के काम करने से मन में ठहरा हुआ भी काम करता हुआ मालूम होता है। सर्वत=सब जगह पर जाता हुआ। कः=कौन। तम्=उस। मदामदम्=अपने आनन्द से पूर्ण, विषयों के भोग से पृथक्। देवम्=प्रकाश स्वरूप को। मदन्य=मेरे सिवाय। ज्ञातुमर्हति=जान सकता है।

(अर्थ) अब यमाचार्य नचिकेता के अन्तःकरण में श्रद्धा स्थापित करने के लिये जिससे उनकी शिक्षा से वह लाभ उठा सके, कहते हैं—हे नचिकेता! वह परमात्मा गति से पृथक् है, क्योंकि वह वस्तु गति कर सकती है जिसकी उपस्थिति से कोई स्थान खाली हो। परमात्मा पहले ही से सर्वव्यापी है, अतएव कहाँ गति करे। तो भी इतना बड़ा है कि कहीं चले जाओ वह पहले ही से मौजूद होगा। और जिसके नियम के भीतर स्वप्न की अवस्था में तमोगुण से परदा में आने के कारण, वह जीवात्मा शरीर के भीतर रहता हुआ, सब जगह जाता हुआ मालूम होता, जो अपने आनन्द से परिपूर्ण है। परन्तु संसार के विषयों को नहीं भोगता। सुतराम् आनन्द स्वरूप और विषय सुख से पृथक् जो प्रकाश स्वरूप परमात्मा है उसको मेरे सिवाय कौन जान सकता है। आशय यह है कि मैंने परमात्मा को जान लिया है।

प्रश्न—पहले केनोपनिषद् में सिद्ध कर चुके हैं कि जो कहता है कि मैं परमात्मा को जानता हूं, वह नहीं जानता। जो कहता है कि मैं नहीं जानता, वह जान सकता है। फिर यमाचार्य ने उसके विरुद्ध क्यों कहा?

उत्तर—यमाचार्य ने अभिमान नहीं किया कि मैं ब्रह्म को जानता हूं, किन्तु नचिकेता की श्रद्धा कायम करने के वास्ते कहा।

मंत्र—अशरीरꣳ शरीरेष्वनवस्थेष्ववस्थितम्।
महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति॥२२।५१

(शब्दार्थ) अशरीरम्=शरीर रहित। शरीरेषु=शरीरों में। अनवस्थेषु=स्थिति रहितों में। अवस्थितम्=ठहरा हुआ।

महान्तम्=बड़े। विभुम्=व्यापक। आत्मानम्=जीवात्मा और परमात्मा को। मत्वा=मान के। धीरः=बुद्धिमान्। न=नही। शोचति=शोक करता है।

(अर्थ) उस परमात्मा का शरीर नही अर्थात् न तो स्थूल शरीर है न सूक्ष्म ; परन्तु तो भी वह प्रत्येक शरीर में रहते हैं। यद्यपि वह काम करता हुआ जगत् के अन्दर रहता है, लेकिन फिर भी न काम करता हुआ पाया जाता है। उनकी बड़ाई की सीमा नहीं, किंतु वह सब से बड़े है। कोई संसार में ऐसी वस्तु नहीं जो इनसे पृथक् हो। वह प्रत्येक के बाहर भीतर मौजूद हैं। न भीतर होन से हम भीतर से किसी काम को कर सकते हैं, न बाहर हर जगह मौजूद होने से उनके राज्य से भागकर बाहर कहीं जा सकते है। जब तक हमको उसका ज्ञान नहीं तब ही तक हम पाप-कर्म करते है। जहाँ उसका ज्ञान हुआ, पाप करने की शक्ति नही रहती। क्योंकि जीव स्वभाव से भय युक्त है। जहाँ पाप का विचार आता है तुरन्त अन्दर से भय, संदेह और लज्जा पैदा हो जाती है। पहले जो आदमी एक पुलिस के सिपाही की उपस्थिति में पाप करने से डरता है, यदि उसको दंड देनेवाले के सामने खड़ा होना मालूम हो जावे, तो किस प्रकार पाप कर सकता है। यद्यपि मनुष्य जानता है कि पुलिस के सिपाही को घूस से प्रसन्न करके वह बच सकता है। झूठी साक्षी द्वारा बचने का विचार हो सकता है। वकीलों के द्वारा क़ानून के धोके में बचने की आशा हो सकती है। जब इतनी आशाओं पर भी वह पुलिस की उपस्थिति में पाप से बच सकता हो, तो जिस अवस्था में उसको पूर्ण विश्वास हो कि जिस परमात्मा ने दंड दिया है, जिसको घूस देकर प्रसन्न नहीं कर सकता, जहाँ

मिथ्या साक्षी से काम नहीं चल सकता, जहाँ बुद्धिमान् वकील किसी क़ानूनी धारा से बचा नहीं सकता। फिर मनुष्य किस प्रकार वहाँ पाप कर सकता है। जब पाप न करे तो शोक और भय किस प्रकार हो सकता है।

मंत्र—नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन। यमेवैष वृणुते तेन लभ्य-स्तस्यैष आत्मा वृणुते तनूꣳ स्वाम् ॥२३।५२॥

(शब्दार्थ) न=नहीं। अयम्=यह। आत्मा=सारे शरीर मे व्यापक परमात्मा। प्रवचनेन=बहुत सा उपदेश करने या विचार करने से। लभ्य =मिल सकता है। न=नही। मेधया= बुद्धि से मिलता है। न=नहीं। बहुना=बहुत सुनने से मालूम होता है। यम्=जिसको। एव=ही। एषः=यह आत्मा। वृणुते= प्रकाश करता है। तेन=उससे। लभ्यः=मालूम होता है। तस्य=उसके लिये। एषः=यह। आत्मा=यह परमात्मा। वृणुते=प्रकाश करता है। तनुम्=स्वरूप को। स्वाम्=अपने।

(अर्थ) यह परमात्मा बहुत सा व्याख्यान करने और व्य-वस्था करने से नही मिल सकता और न वह बुद्धि से जाना जाता है और न बहुत से ग्रन्थों को पढ़ने अर्थात् गुरु से सुनने से जाना जाता है, जिसको अधिकारी जानकर उस पर अपने स्वरूप का प्रकाश करता है, उसी से ज्ञेय हो सकता है। अर्थात् ब्रह्म सर्वत्र और ब्रह्म के आधार पर अपने गुरु के उपदेश से ही ब्रह्मज्ञान होता है। क्योंकि जो मार्ग पर पहुँच चुका है वह उस मार्ग के लिये आप कहलाता है। यदि उसके कहने पर उसी के अनुकूल कर्म किया जावे तो परमात्मा का प्रकाश प्रकट-

होता है। जब तक परमात्मा अपने स्वरूप को प्रकाश न करे, तब तक कोई उसको देख नही सकते। जैसे जब तक सूर्य्य अपने स्वरूप का प्रकाश नही करता, तब तक आँख उसको किसी दूसरे की सहायता से देख नही सकती। ऐसे ही जीवात्मा परमात्मा को परमात्मा की सहायता से ही जान सकता है, अन्य की सहायता से जानना असम्भव है।

मंत्र—नाविरतो दुश्चरितान्नशान्तो न समाहितः। नाशवान्तमानसोवापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात् ॥ २४ । ५३ ॥

(शब्दार्थ) न=नहीं। आविरतः=ढँपा हुआ। दुश्चरितात्=बुरे कर्मों से। न=नहीं। अशान्तः=जिसके मन में शान्ति न हो। न=नहीं। समाहित= जिसकी शंकाओं का समाधान। अशान्तमानस =जिसका मन चंचल हो। वा=और। अपि= भी। प्रज्ञानेन=वेद विद्या और सत्य ज्ञान से। एनम्= परमात्मा को। आप्नुयात्=प्राप्त कर सकता है।

(अर्थ) जिसका मन दुराचारों से ढँप रहा हो, अर्थात् प्रज्ञान का प्रतिबिम्ब ठीक न पड़ता हो और जिसमें शान्ति न हो अर्थात् क्लेश चिन्ता आदि से अशान्ति हो और जिसको निश्चय न हो, बात बात में शंका उत्पन्न होती हो और शंका के कारण आगे की ओर एक पग चलना भी कठिन हो। मन ऐसा चंचल हो कि एक सेकन्ड भी स्थिर न रह सकता हो। ऐसा आदमी बहुत कहने सुनने से तथा वेद-विद्या और सत्य-ज्ञान से भी उस परमात्मा को नहीं जान सकता। परमात्मा को जानने के लिये मन का दर्पण शुद्ध और निर्मल होना चाहिये। कोई भीरु स्वार्थी मिथ्यावादी दुराचारी पुरुष परमात्मा के जानने का अधिकारी

किसी दशा में नहीं हो सकता। और न परमात्मा अहंकारियों को दृष्टि आ सकते हैं। जिसके मन मे श्रद्धा और निश्चय नहीं, वह किसी दशा में कर्मकाण्डी नहीं हो सकता। यदि किसान को संदेह हो कि खेत बीज बोने के योग्य है या नहीं, तो वह उस खेत मे कभी बीज नही बोता। अतः कोई मनुष्य शंका के होते हुए कर्म नहीं करता। इस कारण जब तक ब्रह्मज्ञान में जो बाधायें है वह दूर न हो जावें, तब तक कोई मनुष्य ब्रह्म को नहीं जान सकता। ब्रह्म के अति निकट होने से पॉच प्रकार के पदार्थों की आवश्यकता है। प्रथम दर्पण हो, दूसरे प्रकाश हो, तीसरे दर्पण शुद्ध और निर्मल हो, चौथे दर्पण स्थिर हो, और पंचम बीच में कोई परदा न हो, जब चारो आश्रमो को नियम पूर्वक पूरा करने से विघ्न दूर हो जावे, तब ब्रह्मज्ञान हो सकता है, अन्य प्रकार से नहीं।

मंत्र—यस्य ब्रह्म च क्षत्रं च उभे भवत ओदनम्।
मृत्युर्यस्योपसेचनं क इत्था वेद यत्र सः २५।५४

(शब्दार्थ) यस्य=जिस परमात्मा का। ब्रह्म=ब्राह्मण अर्थात् विद्या। क्षत्रं=क्षत्रिय अर्थात् बल। उभे=दोनो अर्थात् विद्या और बल। भवतः=होते हैं। ओदनम्=चावल पके हुए। मृत्युः=मौत अर्थात् शरीर से जीव का वियोग। यस्य=जिसकी। उपसेचनम्=चावल मे डालने योग्य घी की भॉति से। कः=कौन। इत्थावेद=इस प्रकार जानता है। यत्र=जिस स्थान मे। सः=वह है।

(अर्थ) जो परमात्मा प्रलय के समय बल विद्या अर्थात् क्षत्रिय ब्राह्मणों को अपने में प्रवेश कर लेता है, केवल ब्राह्मण उसके दिये हुए ज्ञान वेद से बड़ाई पाते हैं। जब वेद उसका

ज्ञान है, तो उसको उसी के भीतर प्रवेश होना चाहिये। जब वेद परमात्मा में मिल गया तो ब्राह्मण कैसे हो सकते ? दूसरे क्षत्रिय है उनमें जो वल है वह भी परमात्मा के दिये हुए वल से होता है। जब परमात्मा ने अपने वल को अपने से वाहर नही जाने दिया तो क्षत्रिय कैसे हो सकते। यह कैसे परमात्मा में प्रवेश करते हैं ? इनके प्रवेश होने का साधन मौत है। मौत प्रत्येक क्षत्रिय और ब्राह्मण को नाश करके उन शक्तियों अर्थात् विद्या और वल को परमात्मा में प्रवेश कर देती है। जिस स्थान में वह परमात्मा है, कौन जान सकता है कि वह कहाँ है। क्योंकि कहाँ का शब्द एक देशी के वास्ते प्रयोग होता है। परमात्मा अनन्त है उनके लिये इस शब्द का प्रयोग हो नही सकता। परमात्मा के सर्वत्र होने से यह जानना कि वह कहाँ है बहुत ही कठिन है।

इति द्वितीय वल्ली।

अथ तृतीय वल्ली।

मंत्र--ऋतं पिवन्तौ सुकृतस्य लोके गुहां प्रविष्टौ परमे परार्द्धे। छायातपौ ब्रह्मविदो वदन्ति पञ्चाग्नयो ये च त्रिणाचिकेताः॥ १। ५५॥

(शब्दार्थ) ऋतम्=जो वस्तु जैसी हो उसको वैसा ही जानना अर्थात् तत्वज्ञान। पिवन्तौ=जीव और परमात्मा भोगते हुए। सुकृतस्य=अपने किये का फल अर्थात् जीवात्मा अपने किये के फल को भोगता है, ब्रह्म फल देता है। लोके=इस शरीर मे। गुहाम=बुद्धि के भीतर। प्राविष्टौ=प्रवेश करके। परमे=सब से उत्तम। परार्द्धे=हृदय के आकाश म। छायातपौ=छाया और धूप की भाति

विविधि जैसे जीव अल्पज्ञ है और ब्रह्म सर्वज्ञ है, इसलिये ब्रह्म को धूप और जीव को छाया कह सकते है। ब्रह्मविदः= ब्रह्म अर्थात् वेद को जाननेवाले। वदन्ति=बताते है। पञ्चग्नयः=जो पाँच प्रकार की अग्नि अर्थात् प्रत्येक इन्द्रिय के विषय से अलग है अर्थात् वानप्रस्थ है और। ये च त्रिणाचिकेताः=जिन गृहस्थों ने तीन प्रकार की अग्नि का विचार किया है।

(अर्थ) गृहस्थी और वानप्रस्थ मनुष्य जिन्होंने पाँच इन्द्रियो के आधीन करने का यत्न किया है अथवा कर्म-काण्ड के वास्ते तीन प्रकार की अग्नि का संग्रह किया है। वह कहते हैं कि जीवात्मा और परमात्मा दोनों साथ-साथ रहते हैं। जो अपने कर्मों का फल भोगनेवाले जीव में जब बुद्धि मे प्रविष्ट होकर मन की वृत्तियों को भीतर ले जाता है अर्थात् बाहर के विचारों से बेसुध हो जाता है, समाधि, सुषुप्ति और मुक्ति की दशा मे शरीर में सब से उत्तम स्थान जो हृदय के भीतर आकाश है उस स्थान में ब्रह्म को जानते हैं। जीव यदि छाया है, तो ब्रह्म धूप है। जीव अल्पज्ञ है, ब्रह्म सर्वज्ञ है, जीव ब्रह्म में किसी प्रकार की दूरी नही। ब्रह्म की खोज में किसी दूर के स्थान पर जाने की आवश्यकता नहीं, केवल मन की वृत्तियों को बाहर की प्रकृति से हटाकर भीतर ले जाने की आवश्यकता है। इस हृदय के बाहर आने अर्थात् प्रकृति की उपासना से दुःख और भीतर जाने अर्थात् परमात्मा की उपासना से सुख है। जागृत अवस्था और सुषुप्ति की दशा का दृश्य दिखाकर परमात्मा हम को नित्य उपदेश करते है जो प्रत्यक्षादर्श है। जब जागो तो हर प्रकार का दुःख सामने है, जब सो जाओ तो सब दुःख भाग जाते है। इसके देखने से भी यदि मनुष्य न समझे, तो इससे अधिक क्या मूर्खता हो सकती है।

मंत्र--यः सेतुरीजानानामक्षरं ब्रह्म यत्परम् अभयं तितीर्षतां पारं नचिकेतꣳ शकेमहि ॥ २।५६ ॥

(शब्दार्थ) यः=जो जीवात्मा। सेतु=पुल। ईजानां=यज्ञ करनेवालों का। अक्षरम्=नाश रहित। ब्रह्म=परमात्मा। यत्=जो। परम्=सब से सूक्ष्म और बड़ा है। अभयं=निर्भय जो किनारा है। तितीर्षताम्=जिसे तरने की इच्छा वाले विद्वान् हों। पारम्=परले पार। नाचिकेतम्=ज्ञान स्वरूप जीवात्मा। शकेमहि=हम जान सकें।

(अर्थ) जो परमात्मा यज्ञ करनेवाले प्राणियों को इस सागर से तराने के वास्ते सेतु रूप है, जो नाश रहित सूक्ष्म और सब से बड़ा है, जो हम को इस भवसागर से तराने में समर्थ है, जो चेतन स्वरूप है। जो मनुष्य उस सर्वज्ञ के नियम अर्थात् वेद-विरुद्ध काम करता है वह कभी सुख नहीं पा सकता। हम संपूर्ण संसार को धोका दे सकते हैं, परन्तु परमात्मा को कोई धोका नहीं दे सकता। क्योंकि वह प्रत्येक वस्तु में व्यापक होने से प्रत्येक काम को स्वयम् प्रत्यक्ष करता है। जिसको किसी प्रकार के साक्षी के होने की आवश्यकता नहीं। जब उसने स्वयम् देख लिया तो और साक्षियों से क्या लाभ। इस कारण भव के सागर से तरने के लिये परमात्मा की आज्ञानुकूल दूसरों को सुख पहुँचाने वाले यज्ञ करने चाहिए।

मंत्र—आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरꣳरथमेव तु। बुद्धिन्तु सारथिं विद्धि मनःप्रग्रहमेव च ॥३।५७॥

(शब्दार्थ) आत्मानं=आत्मा को अर्थात् अपने को।

रथिनम्=गाड़ी का सवार। विद्धि=विचार करो। शरीरम्=शरीर को। रथम्=सवारी अर्थात् गाड़ी । एव=निश्चय। तु=समझो। बुद्धिन्तु बुद्धि को। सारथिं=कोचवान् अर्थात् गाड़ीचलाने वाला । विद्धि=विचार करो । मनः=मन को। प्रग्रहम्=वागे अर्थात् लगाम समझो। एव=भी । च=और ।

(अर्थ) यह शरीर एक गाड़ी है। जिस पर ठकर जीवात्मा रूपी सवार अपने नियत मार्ग ओ३म् की प्राप्ति के लिये प्रयत्न करता है। परन्तु गाड़ी बिना कोचवान् अर्थात् ड्रायवर के चल नहीं सकती। इस कारण इस शरीर रूपी गाड़ी का कोचवान् बुद्धि है। जिस गाड़ी का कोचवान् चतुर हो वह गाड़ी इष्ट मार्ग पर पहुँच जाती है। जिस गाड़ी का कोचवान् शराबी हो वह गाड़ी गढ़ो में जा गिरती है। ऐसे ही जिस मनुष्य को मेधा बुद्धि है, वह तो मनुष्य जन्म की बाट को पूरा कर सकता है। जिसकी बुद्धि बुरी है वह बार-बार नीच योनियो मे जन्म लेता है और अविद्या मे फँसकर बुराई को भलाई विचार करता हुआ इस जन्म को नष्ट कर देता है। परन्तु कोचवान् को गाड़ी के घोड़ो या कल के पुरजो को आधीन में रखने के लिये घोड़े के मुह में लगाम की आवश्यकता होती है। इसी प्रकार इस शरीर की गाड़ी बुद्धि को, जो इनके हाथ मे वागें है यदि मन बुद्धि के वश मे रहता है तो सम्पूर्ण काम सत्य होते हैं, यदि मन बिगड़ जाता है और बुद्धि के अधीनता से निकल जाता है, तो सम्पूर्ण दोष आ घेरते हैं। अतः इस चित्र में यह प्रकट कर दिया है कि मनुष्य का मन और बुद्धि ठीक हो तभी वह कामयाब हो सकता है। यदि मन में दोष हैं अर्थात् मन मैला है या चंचल है तो गाड़ी किसी दशा में भी नियत मार्ग पर नही जा सकती। यदि बुद्धि

कोचवान् के सामने विद्या की रोशनी अर्थात् प्रकाश नहीं तो इस गाड़ी को निकृष्ट मार्ग मे डालकर नष्ट कर देता है।

मंत्र—इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयांस्तेषु गोचरान्। आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः॥ ४ । ५८ ॥

(शब्दार्थ) इन्द्रियाणि=पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और पाँच कर्मेन्द्रियाँ। हयानि=घोड़े। आहुः=कहलाते हैं। विषयान्= इन्द्रियों के जो विषय हैं। तेषु=उनमे। गोचरान्=मार्ग जिसमे यह रथ घोड़ों से चलता है। आत्मेन्द्रियमनोयुक्तम्= आत्मा जब इन्द्रियों और मन से मिलता है अर्थात् उस योग को। भोक्ता=भोगने वाला अर्थात् भोगता है। इति= यह। आहुः=कहा है। मनीषिण=मन को शुद्ध करके आधीन रखनेवाले विद्वानो ने।

(अर्थ) जब शरीर को गाड़ी और बुद्धि को कोचवान् और मन को बाग बताया, तो प्रश्न उत्पन्न हुआ कि वह घोड़े कौन से हैं जिनको चलाने के लिये बागो और कोचवान् की आवश्यकता है। उसके उत्तर में कहते है कि इन्द्रियाँ इस प्रकार की गाड़ी के घोड़े हैं अर्थात् ५ ज्ञान इन्द्रियाँ आँख, नाक, कान, रसना, और त्वचा, तथा ५ कर्म इन्द्रियाँ अर्थात् हाथ, पाव, जिह्वा, गुदा, लिङ्ग इन्द्रिय, यह दस इन्द्रियाँ जीव को शरीर के साथ ज्ञान और कर्म-मार्ग में ले जानेवाली हैं। जितनी इन्द्रियों के विषय हैं वही इस गाड़ी का मार्ग है। जब आत्मा इन्द्रिय और मन से योग करता है तो उसको विद्वान् मनुष्य भोक्ता कहते हैं। यदि मनुष्य इस अलंकार को ठीक समझ जावे तो

वह संसार में धोका नहीं खा सकता। जब मालूम हो गया कि यह शरीर गाड़ी है और आत्मा गाड़ी में बैठकर मार्ग की ओर जानेवाला है। तो जो मनुष्य यह भी नहीं जानता कि इस गाड़ी में बैठकर किस मार्ग पर जाना है तो उसको कौन बुद्धिमान् कह सकता है? यदि गाड़ी मार्ग की ओर चलती है तो उन्नति, यदि मार्ग के विरुद्ध चलती है तो मार्ग के दूर हो जाने से अवनति कहलाती है। जिसको मार्ग का ज्ञान नहीं उसे उन्नति या अवनति करने का ज्ञान किस प्रकार हो सकता है? यह भी प्रत्येक मन जानता है कि गाड़ी को अपना बताने वाले दो होते है एक साईस दूसरा रईस। एक अमीर की पाँच गाड़ियाँ हो तो प्रत्येक गाड़ी का साईस अपनी गाड़ी को अपनी बतावेगा, स्वामी अपनी कहता है। यदि साईस से कहा जावे कि तुम्हारा गाड़ी से क्या सम्बन्ध है, तुम अपनी गाड़ी क्यों कहते हो। वह कहता है कि मेरा गाड़ी से यह सम्बन्ध है कि घोड़े भले प्रकार चराए जावें, गाड़ी खूब धोई जावे। निदान शरीर की गाड़ी के साईसों से प्रश्न किया जावे कि तुम्हारे जीवन का उद्देश क्या है? तो वह स्पष्ट उत्तर देंगे कि खावो पियो आनन्द उड़ाओ "आकबत की खबर खुदा जाने" अब तो आराम से गुज़रती है, (अर्थात् ऐसे मनुष्यो का उद्देश यह होता है। कि जो कुछ आनन्द है वह सांसारिक पदार्थों मे है, आगे कुछ भी नही) इंद्रियो के विषय भले प्रकार भोगो अर्थात् घोड़े खूब चराओ और शरीर को खूब सजाओ अर्थात् गाड़ी को खूब धोओ। वह अपने आपको गाड़ी के लिये विचार करते है। जो मनुष्य रात दिन शरीर के लिये प्रयत्न करते है वह इस गाड़ी के साईस हैं। यदि स्वामी से प्रश्न करें कि तुम्हारा गाड़ी से क्या सम्बन्ध है? वह कहता है कि मुझे गाड़ी पर

बैठकर कचेहरी जाना है, गाँव जाना है, वह गाड़ी को अपने लिये ख्याल करता है। जो आत्मा शरीर को अपने मार्ग के लिये विचार करते हैं वह मालिक है। और जो अपने को शरीर के लिए विचार करते हैं वह साईस है। जो देश अधिक साईस रखता है, वह गिरा हुआ देश है। जिस देश में स्वामी अधिक है, वह उत्तम देश है।

प्रश्न—आज कल तो सभ्य देश वही कहलाता है जिसमें खाओ पियो आनन्द उड़ाओ इस विचार के मनुष्य अधिक हो।

उत्तर—आज कल मनुष्य अधिकतर अज्ञानी है, न वह अपनी सत्ता से जानकार है और न वह अपने उद्देश मार्ग का ही ज्ञान रखते है। केवल पशुओं की भाँति वर्तमान प्रत्यक्ष जगत् को जानते है। जिस प्रकार पंजाब मे नाई का नाम राजा विवाह के स्वार्थियों ने रख दिया, ऐसे ही मूर्खों ने उन देशो का नाम सभ्य देश रख दिया। वास्तव मे वह साईसो का देश है।

प्रश्न—साईस कभी स्वामी पर अधिकार नही ला सकता। हम देखते है कि ऐसे देश ससार में अधिकार रखते हुए दृष्टि पड़ते हैं।

उत्तर—साईस फिर आदमी है जो घोड़ों पर प्रभुत्व रखता है। अत. वह उन मनुष्यो पर जो धर्म से शून्य होने से पशुओं की भाँति हैं, अधिकार रखते है। इस समय ऐसा कोई देश नही जिसमें स्वामी बसते हो। हर देश में थोड़े मनुष्य ऐसे है कि जो शरीर के तत्वज्ञाता है।

मंत्र—यस्त्वविज्ञानवान् भवत्ययुक्तेन मनसा सदा। तस्येन्द्रियाण्यवश्यानि दुष्टाश्वा इव सारथेः ॥ ५ । ५६ ॥

(शब्दार्थ) यस्त्व = जो मनुष्य। अविज्ञानवान् = जो ज्ञान से रहित मनुष्य सर्वदा इन्द्रियों के विषयों में फँसा। भवति = होता है। अयुक्तेन=जिसका मन बुद्धि के अनुकूल काम नहीं करता। मनसा=मन से। सदा = सदा। तस्य=उसकी इन्द्रियाणि = इन्द्रियाँ। अवश्यानि = न काबू अर्थात् बुद्धि की शक्ति से बाहर दुष्टाश्वा=बुरे घोड़ों की भाँति। सारथेः= जैसे बुरे घोड़े कोचवान् के आधीन न रह कर गाड़ी को सड़क से नीचे गिरा देते हैं, ऐसे ही स्वाधीन इन्द्रियाँ मनुष्य की बुद्धि को बिगाड़ कर उसे नष्ट कर देती है।

(अर्थ) जो मनुष्य अज्ञानी होता है और जिसका मन सदा बुद्धि के हाथ से बाहर रहता है, कभी मन स्थिर नहीं होता, सर्वदा अनियमित चलता है। जैसे दुष्ट घोड़े बाग के ढीले होजाने से स्वामी को गाड़ी से नीचे गिरा देते हैं, वह नियत मार्ग पर नहीं पहुंचता। इसी प्रकार जिसका मन बुद्धि के आधीन नहीं, वह मन सदा अनियमित काम करता है और जिसका मन अनियमित चले, उसकी इन्द्रियाँ कभी ठीक मार्ग पर न चलकर उसको विषयों के गढ़े में गिरा देती हैं। इसलिये सब से आवश्यकीय काम कोचवान् अर्थात् बुद्धि को ठीक रखना है। यदि बुद्धि ठीक न हो तो कितना परिश्रम क्यों न करें मार्ग पर नहीं पहुंच सकते। यदि बुद्धि ठीक हो, तो थोड़े परिश्रम से भी कार्य सिद्ध हो सकता है और दूषित बुद्धि से कोई काम ठीक नहीं हो सकता है।

प्रश्न—क्या सब की बुद्धि एक सी है या अलग अलग भाँति-भाँति की?

उत्तर—बुद्धि दो प्रकार की है एक साधारण बुद्धि, दूसरी

मेधाबुद्धि । मेधाबुद्धि तो सब मनुष्यों की एक है और साधारण में अन्तर है।

प्रश्न— साधारण बुद्धि में भेद का क्या कारण है ?

उत्तर— मन का तीन प्रकार का होना। सतोगुणी मन से जो ज्ञान होगा वह और भाँति का होगा। और रजोगुणी मन से जो ज्ञान होगा और प्रकार का होगा। तमोगुणी मन से जो ज्ञान होगा वह और प्रकार का होगा।

प्रश्न— बुद्धि में जो गुणों का भेद है, उसका क्या कारण है ?

उत्तर— पूर्व जन्म के संस्कार और संगति। जिस प्रकार के पहले संस्कार होंगे वैसी संगति अब अच्छी मालूम होगी, जैसी संगति करेगा वैसा ही काम होगा।

प्रश्न— बुद्धि को किस प्रकार ठीक रख सकते हैं ?

उत्तर— बुद्धि आत्मिक चक्षु है। जिसको सूर्य अर्थात् वेद से सहायता मिल सकती है। यदि सूर्य सामने हो तो आँख को रस्सी का साँप नहीं मालूम होता और इस भाँति के न होने से वह उस साँप से भय नहीं खाती। यदि थोड़ा प्रकाश हो तो भ्रम होकर अविद्या उत्पन्न हो सकती है जो सम्पूर्ण दोषों का बीज है।

मंत्र—यस्तु विज्ञानवान् भवति युक्तेन मनसा सदा। तस्येन्द्रियाणि वश्यानि सदश्वा इव सारथेः ॥ ६ । ६० ॥

(शब्दार्थ) यस्तु = जो मनुष्य। विज्ञानवान् = ठीक ज्ञानवाला। भवति = होता है। युक्तेन = साथ मिले हुए। मनसा = मन से। सदा = सदा। तस्य = उसके। इन्द्रियाणि = इन्द्रियाँ। वश्यानि = वश में होते हैं। सदश्वा इव = उत्तम घोड़ों की

भाँति जैसे उत्तम घोड़े गाड़ी को मार्ग पर पहुँचा देते हैं। इसी प्रकार बुद्धिमान् की इन्द्रियाँ वश में रहती है। सारथेः = कोचवान् के।

(अर्थ) जिस मनुष्य का मन बुद्धि के साथ युक्त हो, सदा प्रत्येक काम विचार कर करता हो, कोई काम भी मूर्खता का न करता हो उसकी इन्द्रियाँ वश में रहकर उत्तम घोड़ों की भाँति मार्ग पर पहुंचाने वाली होती है। अर्थात् इन्द्रियाँ उसको गिराने-वाली नहीं होतीं, किंतु मार्ग पर पहुंचाने वाली होती हैं। इस वाक्य से परिणाम निकलता है कि मन बुद्धि के कहने पर चले और इन्द्रियाँ मन के वश में होती ही हैं तो इन्द्रियाँ मित्र का काम देती हैं, यदि इन्द्रियाँ बे वश हो जावे तो भी इंद्रियाँ मनुष्य की भयानक शत्रु होजाती हैं, मन को विना विद्या के बुद्धि वश में नहीं रख सकती। क्योंकि आँख का प्रकाश के विना देखना कठिन है, विना मार्ग देखे, वागों को ठीक रखना असम्भव है और विना वागों के ठीक रहे घोड़े नियम-पूर्वक नहीं चल सकते। निदान मनुष्य के शत्रु उसके साथ ही हैं। इन शत्रुओं से बचने के लिये विज्ञान अर्थात् विद्या ही एक हथियार है। जो मनुष्य विद्या की ओर से वंचित हैं, वह संतान के लिये कितना ही धन क्यों न छोड़ जावें, वह संतान के शत्रु या मूर्ख मित्र कहला सकते हैं।

मंत्र--यस्त्व विज्ञानवान् भवत्यमनस्कः सदाऽशुचिः। न स तत्पदमाप्नोति सꣳ सारं चाधिगच्छति ॥ ७ । ६१ ॥

(शब्दार्थ) यस्तु = जो मनुष्य । अविज्ञानवान् = अविद्या

से इन्द्रियो द्वारा और शिक्षा से प्राप्त होता है, पृथक् । भवति = होता हे । अमनस्कः = जिसका मन ज्ञान से शून्य हो अर्थात् विचार शक्ति से रहित । सदा = सदा । अशुचिः = मैला हो । न = नही । स = वह मनुष्य । तत् = उस । पदम् = पदवी को । आप्नोति = प्राप्त करता है । संसारम् = बार बार जन्म मरण के चक्कर मे । च = और । अधिगच्छति = प्राप्त होता है ।

(अर्थ) जिस मनुष्य को वेदो की शिक्षा प्राप्त नहीं होती, जिसके मन में विचार शक्ति नहीं । जो प्रत्येक काम बिना विचारे अज्ञानता से करता है, जिसका मन सदा दूसरे के धन, स्त्री और अन्य पदार्थों के लेने के विचार से मैला रहता है और जिस मनुष्य को आत्मा और शरीर का ज्ञान नही, वह सदा ही अपवित्र रहता है, वह किसी दशा में भी आत्मज्ञान की बाट को प्राप्त नही कर सकता, सदा जन्म लेता और मरता रहता है ।

प्रश्न—क्या कारण है कि अज्ञानी मनुष्य बार-बार जन्म लेता है ।

उत्तर—जीव के अतिरिक्त दो पदार्थ और है । एक प्रकृति और दूसरे परमात्मा । प्रकृति सत् है, जीवात्मा सत्-चित है, परमात्मा सत् चित आनन्द (सच्चिदानन्द) है । प्रकृति के सम्बध से जीव को बन्धन होता है, क्योंकि प्रकृति स्वतंत्र नही और जीव से कम गुणवाली है और कम गुणवाले की संगत से सदा हानि होती है । और परमात्मा सच्चिदानन्द है, जिसके कारण से जीव को लाभ होता है । जब दो प्रकार की वस्तुएँ मौजूद हों , एक लाभ की, दूसरी हानि-कारक, तो उस दशा में ज्ञान के विना कैसे काम चल सकता है । जिस बाज़ार में उत्तम सोना ही बिकता हो, वहाँ तो बिना जाने भी जीव मोल ले सकता है । यदि सोना और मुलम्मा दोनों चीज़ें बिकती हों, तो

मनुष्य को धोखा होना सम्भव है। इस कारण आनन्द के चाहनेवालों को वेदों की शिक्षा का होना आवश्यक है। विना शिक्षा के आनन्द का मार्ग नहीं मिल सकता।

मंत्र—यस्तु विज्ञानवान् भवति स मनस्कः सदा शुचिः। स तु तत्पदमाप्नोति यस्माद् भूयो न जायते ॥ ८ । ६२ ॥

(शब्दार्थ) यस्तु=जो मनुष्य। अविज्ञानवान्=वेदों की शिक्षा से युक्त होता है, जिसका प्रत्येक काम विचार के अनुकूल होता है, जो शरीर, इन्द्रिय, मन और बुद्धि को सदा शुद्ध रखता है। स=वह मनुष्य। तत्=उस। पदम्=पदवी को। आप्नोति=प्राप्त करता है। यस्मात्=जिससे। भूयः= अधिक बार। न=नहीं। जायते=उत्पन्न होना।

(अर्थ) जो मनुष्य वेदों की शिक्षा से ज्ञान प्राप्त करके मन, इन्द्रिय और शरीर को सदा शुद्ध रखता है, शरीर को पानी से शुद्ध रखता है, मन को सत्य बोलने और मानने से शुद्ध रखता है, और विद्या, तप से जीवात्मा को शुद्ध रखता है, और बुद्धि को वेद से शुद्ध रखता है, और प्रत्येक काम धर्म के अनुकूल अर्थात् सत्यासत्य को विचारकर करता है, वह ऐसी पदवी को प्राप्त करता है कि जहाँ बहुत देर तक दो बार उत्पन्न नहीं होता। बहुत से मनुष्य इसके अर्थ यह लेते हैं कि वह फिर पैदा नहीं होता, परंतु ऐसा मानना ठीक नहीं। क्योंकि ऐसी दशा असम्भव है, जिसका एक किनारा हो। अर्थात् आरम्भ हो और अन्त न हो।

प्रश्न—जब कि सम्पूर्ण मत ऐसी मुक्ति मानते हैं, तो वह असम्भव कैसे हो सकती है।

उत्तर—किसी के मानने से किसी वस्तु की तत्त्वावस्था में तबदीली नही हो सकती, किंतु लक्षण बदलने से वह तबदीली हो सकती है। यदि इस प्रकार की मुक्ति सम्भव हो जावे तो धन्यवाद के योग्य है। परन्तु उसको सम्भव कोई भी विद्वान् नहीं कर सकता। क्योंकि उसके लिये कोई उदाहरण नही जिससे अनुमान हो सके और प्रत्यक्ष जब जीव ही नहीं होता, तो मुक्ति कैसे प्रत्यक्ष हो सकती है।

प्रश्न—यह कोई नियम नहीं कि प्रत्यक्ष और अनुमान से ही कोई पक्ष सिद्ध हो क्योंकि शेष प्रमाण भी तो हैं।

उत्तर—शब्द प्रमाण को आप्त-वाक्य सिद्ध करने के लिये प्रत्यक्ष और अनुमान की आवश्यकता होती है। यदि आप्त वाक्य सिद्ध न हो, तो शब्द प्रमाण के लक्षणों में नही आ सकता है।

मंत्र--विज्ञानसारथिर्यस्तु मनः प्रग्रहवान्नरः ।
सोऽध्वनःपारमाप्नोति तद्विष्णोः परमंपदम् ॥
६ । ६३ ॥

(शब्दार्थ) विज्ञान सारथि=वेद के ज्ञान से युक्त बुद्धि जिस मनुष्य का कोचवान है और जिस मनुष्य ने मन की वागों को बल से पकड़ा है, न तो कोचवान बुरा है और न वाग ढीली है। सो=वह। अध्वनः=मार्ग से। पारम्= समाप्त होने के पश्चात्। आप्नोति=प्राप्त करता है। तत्= उस। विष्णो=सर्व व्यापक परमात्मा के। परम्=सब से सूक्ष्म आनन्द स्वरूप परमात्मा के। पदम्=पद को अर्थात् उसको ब्रह्म-अवस्था प्राप्त हो जाती है। सत्-चित् तो जीव

पहले ही से है और आनन्द परमात्मा से मिल जाता है जिससे वह आनन्द को भोगता है।

(अर्थ) जो मनुष्य धारणावाली बुद्धि को अपना सारथि अर्थात् कोचवान बना लेता है। बुद्धि के विरुद्ध कोई काम ही नहीं करता। सारे जगत् को अनित्य और आत्मा को नित्य जानता है और सदा मन को आत्म-विचार में लगाता है। इंद्रियाँ विषयों की ओर बड़े वेग से जाती हैं, वह मन की वागों को बल से खींचकर उनको विषयों से रोकता है और कभी भी मन को ढीला नहीं होने देता है। जिस इंद्रिय के विषय में मन जाता है वहीं उसको रोककर आत्मा की ओर लगाता है। आत्मा निराकार और मन भौतिक है। इस कारण मन परमात्मा की ओर कठिनता से लगता है। जो मनुष्य बुद्धि से मन को वश में करके इंद्रियों के विषयों में लगने नहीं देता। वह उस परमात्मा के आनन्द पद को प्राप्त करता है। अर्थात् सत्-चित्त तो जीव पहले ही है, परमात्मा के आनन्द को प्राप्त करके सच्चिदानन्द हो जाता है।

प्रश्न—क्या उस अवस्था में जीव-ब्रह्म में कोई भेद नहीं रहता?

उत्तर—जीव उस अवस्था में जीव ही रहता है, क्योंकि उसकी अल्पज्ञता जो स्वाभाविक गुण है, वह दूर नहीं हो सकता।

प्रश्न—क्या कारण है कि जीव की अल्पज्ञता मुक्ति में दूर नहीं।

उत्तर—जीव एक देशी है और एक देशी के गुण अनन्त किसी प्रकार नहीं हो सकते। इस कारण जैसे सूर्य भूमि से लाखों गुणा बड़ा है, तो भी एक देशी होने से उसकी शक्ति

अनंत न होने से रात्रि हो जाती है। जिस प्रकार लोहा गरम करने से लाल हो जाता है, उसमे आग के परमाणु मालूम होने लगते है। परन्तु गुरुत्व जो उसका अपना गुण है वह गुरुत्व से पृथक् आग का संग होने पर भी दूर नही हो सकता। गरम लोहा तोलने से भारी मालूम होता है, ऐसे ही ब्रह्म-संग है।

मंत्र--इन्द्रियेभ्यः पराह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः।
मनसश्च परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान् परः १०।६४

(शब्दार्थ) इन्द्रियेभ्यः=इन्द्रियो से। परा=सूक्ष्म। हि=निश्चय करके अर्थ मे। अर्थः=इन्द्रियों का विषय। अर्थेभ्य=अनुभव से। परम्=सूक्ष्म। मनः= मन है अर्थात् इन्द्रियों से विषय और उससे मन सूक्ष्म है। मनसः=मन से। च=और। परा=सूक्ष्म। बुद्धिः विचार-शक्ति है। बुद्धेः=बुद्धि से। आत्मा=आत्मा। महान्=महत्। परा=सूक्ष्म है।

(अर्थ) इंद्रियों से सूक्ष्म उसके विषय अर्थात् रूप, रस, गंध, प्रभृति हैं। क्योंकि इंद्रियो की ओर चलने के लिये स्थूल से सूक्ष्म की ओर चलता है। इस कारण जो सूक्ष्म अधिक है, उसी को जिससे वह सूक्ष्म है, परे बताया है। सदा कार्य से कारण सूक्ष्म होता है, इसलिये विषयों से सूक्ष्म मन है। और मन दो प्रकार का है एक स्वाभाविक मन, जिसको मन-शक्ति भी कहते हैं, दूसरे भौतिक मन जो मनकरण कहलाता है, वह इस मन से बुद्धि सूक्ष्म है और बुद्धि से सूक्ष्म जगत्।

प्रश्न—इस गणना को देखने से तो अन्तःकरण चार मालूम होते हैं, सांख्य की प्रक्रिया जो टीकाकारों ने की है, उससे तीन और सूत्रो से दो ही कारण मालूम होते हैं।

उत्तर—सांख्यसूत्र ने तो मन और अहंकार दो अंतःकरण

स्वीकार किये और मन की तीन वृत्तियाँ अर्थात् चित्त-वृत्ति, मन-वृत्ति और बुद्धि-वृत्ति के भावार्थ से प्रकट कर दिया है। और वेदान्तवालों ने चारों करण स्वीकार किये, झगड़ा कुछ नहीं।

प्रश्न—मन शक्ति और करण दो प्रकार का है यह शास्त्र से प्रकट नहीं, नई कल्पना है।

उत्तर—नहीं, शास्त्र की व्यवस्था करने से दो प्रकार के मन का ज्ञान होता है, वैशेषिक शास्त्र के कर्ता महर्षि कणाद ने मन की शक्ति का विचार किया और मन को नित्य प्रगट किया। और महर्षि कपिल ने मनकरण का विचार किया और मन को अनित्य प्रकट किया। और छांदोग्योपनिषद् में भी मन-करण का विचार किया, उसने मन को अनित्य प्रकट किया और वेद ने मन-शक्ति को नित्य प्रकट किया। ऐसे मुक्ति में मन रहता है या नहीं। इस पर विचार किया। तो इस पर पारा-शरजी ने मनकरण को विचारा, तो मुक्ति में करण का अभाव मालूम हुआ, उन्होंने बताया कि मुक्ति में मन नहीं रहता। महर्षि जैमिनि ने मन-शक्ति को विचारा, तो मालूम हुआ कि मुक्ति में मन-शक्ति रहती है। उन्होंने मुक्ति में मन का होना प्रकट किया। व्यासजी ने झगड़े को फैसल कर दिया कि दोनों ठीक हैं। मनकरण अनित्य है, इसलिये मुक्ति में नहीं। मन-शक्ति नित्य है जो मुक्ति मे रहती है। अतः शास्त्रों से दो प्रकार का मन प्रकट होता है। यदि एक ही बारे मे इस कदर विपरीत सम्मतियाँ होतीं, तो सारे शास्त्र प्रमाण के पद से गिर जाते।

प्रश्न—यह क्यों न स्वीकार किया जावे कि ऋषियों की सम्मति में विरोध है जैसा बहुत से यूरोपियन विद्वान् भी स्वीकार करते हैं।

उत्तर—इस अवस्था में उनका ऋषि कहना व्यर्थ है, क्योंकि हिन्दी में कहावत प्रसिद्ध है कि 'सौ स्याने एक मत मूर्खों आपो अपनी' अर्थात् सौ बुद्धिमानों की एक सम्मति और मूर्खों की पृथक् पृथक्। सत्य में एक, झूठ में विरोध, ऋषि वेदों के विद्वान् होते हैं, इसलिये उनकी सम्मति में विरोध नहीं होता।

प्रश्न—ऋषि भी तो मनुष्य हैं, उनकी सम्मति में भूल हो सकती है। फिर अकारण खैंच तान क्यों की जाती है?

उत्तर—जो सदा सत्य बोलता है, उसकी बुद्धि स्थिर होती है और विना स्थिर बुद्धि के कोई ऋषि कहला नहीं सकता। यह सिद्धान्त कि मनुष्य-सम्मति मे अशुद्धा का होना सम्भव है। ईश्वर का बताया है या मनुष्यों ने अनुभव से कहा है। वेद ने इसका निर्णय कर दिया है कि देवता अर्थात् विद्वान् सत्य ही बोलते हैं और जो सत्य और झूठ मिलावे वह मनुष्य कहलाता है। अतः ऋषिदेव में उनके कथन मे झूठ का सम्भव नहीं।

मंत्र—महतः परमव्यक्तमव्यक्तात्पुरुषः परः। पुरुषान्न परं किञ्चित्सा काष्ठा सा परागतिः॥ ११। ६५॥

(शब्दार्थ) महतः=मन से। परम्=परे सूक्ष्म। अव्यक्तम्=सत्, रज और तम गुणवाली प्रकृती है। अव्यक्तात्=सत्, रज आर तम गुणवाली प्रकृति से। पुरुषः=जीवात्मा और परमात्मा है। पुरुषात्=परमात्मा से। न=नहीं। परम्=सूक्ष्म्। किञ्चित्=कुछ भी। सा=वह। काष्ठा=अंतिम मार्ग अर्थात् मनुष्य-जीवन का उद्देश। सा=वह जो सब से सूक्ष्म है।

परागतिः=ज्ञान और चलने की सीमा है जिससे पश्चात् न तो किसी का ज्ञान होता है और न उससे आगे कहीं जा सकते हैं।

(अर्थ) इस अलंकार में पंचकोष प्रकाशित करके एक को त्यागकर दूसरे में जाने के लिये जो जिससे सूक्ष्म है, उसको प्रकाशित करते हैं। ऋषि कहते हैं इस मन से परे अव्यक्त अर्थात् प्रकृति है, अर्थात् प्रकृति मन से नहीं जानी जाती मन विकृति को भी जान सकता है। जिस समय सुषुप्ति की दशा में जीवात्मा कारण शरीर अर्थात् प्रकृति के साथ सम्बन्ध करता है, उस समय मन का काम नितान्त बन्द हो जाता है। क्योंकि इंन्द्रियो के विषयो को ही मालूम कर सकता है और इन्द्रियाँ आकृतिवाली होने से सब वस्तु को जान सकती हैं। क्योंकि जब तक प्रमाण मौजूद न हो किसी वस्तु का ज्ञान भी नहीं हो सकता। तम का विरोध होने से प्रकाश का ज्ञान होता है। सर्दी का विरोध होने से गर्मी का ज्ञान होता है। निदान किसी वस्तु के ज्ञान होने में उसके विपरीत का ज्ञान होना आवश्यक होता है। विना विपरीत के ज्ञान हो ही नहीं सकता। वास्तव में ज्ञान या बुद्धि वहीं काम कर सकती है जहाँ अनेक प्रकार के पदार्थ हों, परन्तु प्रकृति साम्यावस्था है अर्थात् गुणों की उस अवस्था को जब एक दूसरे के विरुद्ध न हो प्रकृति कहते हैं। अतः मन से प्रकृति परे है, परन्तु पुरुष अर्थात् जीवात्मा और परमात्मा प्रकृति से भी परे हैं और परमात्मा से परे कोई वस्तु नहीं। यह ज्ञान का अन्तिम मार्ग है। जिस प्रकार उत्तर के सत्य होने पर गणितज्ञ की बुद्धि स्थिर हो जाती है, जिस प्रकार सत्योक्ति पर न्याय के जाननेवाले का विचार स्थिर हो जाता है, जिस प्रकार अंतिम उद्देश मार्ग पर पहुँचकर पथिक

की चाल समाप्त हो जाती है। इसी प्रकार ब्रह्म को जानकर जीव की सम्पूर्ण शक्ति जिससे वह जानने का श्रम करता है पूर्ण होकर समाप्त हो जाता है। ब्रह्म के जानने के पश्चात् किसी वस्तु को जानने की आवश्यकता ही नहीं रहती, सम्पूर्ण इच्छाएँ ब्रह्मज्ञान होने पर रुक जाती हैं। न सम्पत्ति की ज़रूरत होती है क्योंकि सम्पत्ति की आनन्द के विचार से इच्छा होती है; क्योंकि सब आनन्द अपने-अपने मूल स्रोत पर पहुँच जाते हैं तो धन की आवश्यकता नहीं और न संतान की इच्छा होती है, और न यश प्रतिष्ठा प्रभुत्व अच्छा मालूम होता है। क्योंकि संसार में प्रत्येक वस्तु की इच्छा केवल आनन्द के स्वार्थ से है यदि आनन्द विचार न हो, तो जगत् में कोई इच्छा के योग्य वस्तु ही नहीं। परन्तु जब सत्य-ज्ञान हो गया, तो पता लग गया कि आनन्द इन पदार्थों में नहीं, किन्तु आनन्द स्रोत अन्य है। और जब उस आनन्द के श्रोत पर पहुँच गये तो फिर किस वस्तु की इच्छा हो सकती है।

प्रश्न—जनकादि बहुत से राजा ज्ञानी हुए हैं उनके पास धन सन्तान और हुकूमत भी थी और वह ज्ञानी भी थे।

उत्तर—धन की इच्छा तो ब्रह्मज्ञान में विघ्न है, परन्तु सम्पत्ति का होना तत्वज्ञान में विघ्न नहीं। क्योंकि धन का होना इच्छा पर निर्भर नहीं, किन्तु भोग के कारण से होता है। जिसके भोग में धन है वह वैराग्य वाला होकर भी धनी रह सकता है।

मंत्र--एष सर्वेषु भूतेषु गूढोत्मा न प्रकाशते। दृश्यते त्वग्रया बुद्धया सूक्ष्मया सूक्ष्म दर्शिभिः ॥ १२ । ६६ ॥

(शब्दार्थ) एषः=यह परमात्मा जो सब मे व्यापक हो कर नियमानुकूल चला रहा है, जिसको योगी जन मन से प्रत्यक्ष करते है अर्थात् जो शुद्ध मन से जाना जाता है। सर्वेषु भूतेषु=सम्पूर्ण जीव तथा सम्पूर्ण तत्त्व मे। गूढ़ात्मा= व्यापक होने से। न=नही। प्रकाशते=बुद्धि के बाह्य विषयो मे लगे हुए होने से प्रकट नही होता। दृश्यते=देखा जाता है। अग्रया=जिसकी बुद्धि प्रत्येक काम मे दखल पाने योग्य हो और विषयो की ओर लगी हुई हो। बुद्ध्या=ऐसी बुद्धि से। सूक्ष्मया=सूक्ष्म हो। सूक्ष्म दर्शिभिः=सूक्ष्म को देखने- वाले पुरुषो से।

(अर्थ) यह परमात्मा जो सब पदार्थों में व्यापक होकर उनको नियमों में चला रहा है, वह किसी एक स्थान पर नही, उसको देखने के लिये किसी स्थान पर जाने की आवश्यकता नही। सम्पूर्ण पदार्थों में व्यापक होने हुए, बुद्धि के बाह्य विषयों में लगे होने से प्रकाशित नही होता। क्योंकि अल्पज्ञ जीवात्मा की बुद्धि एक ओर ही काम कर सकती है, जब कि वह बाहर के विषयों में लगी हुई है, तब तक वह भीतर के सूक्ष्म पदार्थ को किस प्रकार देख सकती है। जो मनुष्य यह समझते हैं कि हम परमात्मा को देख ही नही सकते। इस लिये परमात्मा हैं ही नहीं, उनको बताया जावे कि परमात्मा देखा जाता है किससे? मेधा-बुद्धि से, जो सूक्ष्म विचार के योग्य हो और वह बुद्धि सूक्ष्म पदार्थ को देखने योग्य हो। जिस प्रकार पानी में गति करते हुए कीट अथवा अदृश्य हमें दृष्टि नही पड़ते। परन्तु जिस समय खुर्दबीन से देखते हैं तो मालूम होने लगते हैं। क्या मोटी आँखों से दृष्टि न आने के कारण वह सूक्ष्म कीट जो खुर्दबीन के द्वारा देखे जाते है, उनकी सत्ता से इनकार

करना बुद्धिमानी है ? उत्तर स्पष्ट मिलेगा कि अतिरिक्त पागल के कौन मनुष्य उस सत्ता से इनकार कर सकता है। यद्यपि खुर्दबीन प्रत्येक घर में मौजूद नही, परन्तु जो खुर्दबीन में लगा कर देखता है, यदि उसकी आँखों में दोष न हो तो वह सूक्ष्म कीट अवश्य देखता है। इस कारण उस परमात्मा को सूक्ष्म दृष्टि अर्थात् धारणा बुद्धि से जान सकते हैं और जिन मनुष्यो की बुद्धि पर काम, क्रोध, लोभ, मोह और अहंकार का परदा पड़ा हुआ है, वह उसको नहीं जान सकते, और जब तक परदा दूर न हो, तब तक उस परदा को दूर करने का यत्न करना तो निपुण मनुष्यो का काम है, परन्तु अपनी अन्धी आँख से सूर्य क दृष्टि न आने के कारण बजाय आँखो की चिकित्सा कराने के सूर्य को जिसको आँख-वाले लोग देख रहे हैं, कह देना कि वह नही है, स्वार्थी अज्ञानियों का काम है। अथवा जिनकी बुद्धि पर आवरण पड़ा हुआ है उनका काम है। अतएव जो मनुष्य परमात्मा की सत्ता से इनकार करते हैं वह तो बुद्धि की आँखों पर विषयो की इच्छा का परदा पड़ा होने से कोरे अंधे हैं। और जो मनुष्य परमात्मा को किसी एक स्थान पर बैठा हुआ समझ कर उसकी खोज में जाते हैं वह भी परमात्मा की सत्ता से अनभिज्ञ है, परमात्मा प्रत्येक वस्तु में व्यापक है।

मंत्र--यच्छेद्वाङ्मनसि प्राज्ञस्तद्यच्छे ज्ज्ञान आत्मनि। ज्ञानमात्मनि महति नियच्छेत्तद्यच्छेच्छान्त आत्मनि ॥ १३ । ६७ ॥

(शब्दार्थ) यच्छेत=इन्द्रियो को विषयों से हटाकर। वाक्=वाणी और उससे सम्पूर्ण इन्द्रियाँ। मनसि=ज्ञान

इन्द्रियों मे। प्राज्ञः=बुद्धिमान्। तत्=उनको। यच्छेत्=रोक-कर स्थिर करे। आत्मनि=अहंकार में। ज्ञानम्=ज्ञान इन्द्रियों को। ज्ञाने=ज्ञान करनेवाले। आत्मनि=अपने। महति=मन मे यच्छेत्=रोककर स्थिर करे। तत्=उस मन को। यच्छेत्=सब ओर से रोक कर स्थिर करे। शांतः=शांति देनेवाले, जहाँ पर मन स्थिर हो सकता है। परमात्मनि=परमात्मा मे।

(अर्थ) कर्मेन्द्रियो को विषयो की ओर से रोककर पहले ज्ञानेन्द्रियो के आधीन करे अर्थात् ज्ञान के विरुद्ध कभी काम न करे। पहले देखे तब चले। पहले जाने तब करे। और ज्ञानेन्द्रियो को अहंकार के भीतर रोके अर्थात् जहाँ तक अपना अधिकार वहीं तक लेने का विचार करे, अपने हक से पृथक् वस्तु हर लेने का विचार भी न करे। और अहंकार को मन के अनुकूल काम करने पर उद्यत करे और मन को शांत स्वरूप परमात्मा की आज्ञा के विरुद्ध कभी करने ही न दे। अतः जो बुद्धिमान् मनुष्य इस नियम को पालन करता है, वह उद्देश मार्ग तक पहुंच सकता है। और जो इसके विरुद्ध काम करता है, वह अपने जीवन को व्यर्थ नष्ट कर लेता है। कर्म सर्वदा ज्ञान के अनुकूल हो और ज्ञान सदा अपने अधिकार के अनुकूल हो और अधि-कार सदा कानशन्स का खून करनेवाला या मन के विरुद्ध न हो और मन सदा परमात्मा के नियम में चलनेवाला हो। कभी भी मन मे यह विचार उत्पन्न न हो कि संसार में कोई मनुष्य विना अपने कर्मों के दुःख पा सकता है।

प्रश्न—श्रुति के शब्दो में से तो यह विदित होता है कि वाणी को मन के आधीन रक्खे और मन को आत्मा के अन्त करण के ज्ञान के आधीन और अन्तःकरण के ज्ञान को महत् अर्थात्

बुद्धि के आधीन रक्खे और बुद्धि को शान्तात्मा अर्थात् परमात्मा में लगाये। तुम ने उसके विरुद्ध क्यों अर्थ किया।

उत्तर—ज्ञान और बुद्धि दोनो एक ही वस्तु के नाम हैं, अतः ऐसा अर्थ करने में पुनरुक्ति और अन्योन्याश्रय दोष आते हैं जो ऋषियो की पुस्तक मे हो नहीं सकते। क्योंकि दोषों से पुस्तक अप्रमाणित हो जाती है। इस कारण कर्मेन्द्रियो को ज्ञानेन्द्रियो मे और ज्ञानेन्द्रियों को अहंकार में और अहंकार को मन में और मन को परमात्मा के गुणो के चिन्तन मे लगाने से सूक्ष्मदर्शी जीवात्मा अन्तःकरण मे रहनेवाले परमात्मा को देख सकता है।

मंत्र—उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत। क्षुरस्यधारा निशिता दुरत्यया दुर्गम्पथस्तत्कवयो वदन्ति ॥ १४ । ६८ ॥

(शब्दार्थ) उत्तिष्ठत=उठो । जाग्रत=जागो आलस्य त्यागो। प्राप्य=प्राप्त करके। वरान्=ब्रह्मविद्या के विद्वान् गुरु को निबोधत=जानो, ज्ञान प्राप्त करो। क्षुरस्यधारा=छुरा की धार के अनुकूल तीक्ष्ण। निशिता=तेज़ और अगम्य। दुरत्याः=कठिनता से तरने-योग्य जिसमें पाँव कटने का भय है। दुर्गम=दुःख से चलने। पथः=मार्ग। तत्=वह ब्रह्मज्ञान का मार्ग। कवयव=ब्रह्मज्ञानी विद्वान् पुरुष। वदन्ति=कहते है।

(अर्थ) ऋषि कहता है कि हे आलस्य निद्रा में सोने वालो! तुम्हारी यह अविद्या की निद्रा तुम्हारे लिये भयानक है, इससे चेतन्य होकर उठो और खोज करके ब्रह्मज्ञानी गुरु के पास जाओ, क्योंकि जब तक ब्रह्मज्ञानी गुरु न मिले, तुम अपनी वास्तविक अवस्था को नहीं जान सकते। जिनको अपनी सत्ता का ही ज्ञान न हो, वह अपने हानि लाभ को नहीं समझ सकता।

और जिसका हानि लाभ का ही ज्ञान न हो, वह किस प्रकार दुःखो से मुक्त होकर आनन्द को प्राप्त कर सकता है। यह मार्ग तीक्ष्ण क्षुरे की धार से भी अधिक तीक्ष्ण है, जिस पर चलनेवालो को एक-एक पग पर कटकर गिरने का भय है, जिस पर चलना बहुत ही कठिन है। ऐसा ब्रह्मज्ञानी जन बताते हैं।

प्रश्न—किसी गुरु के पास जाने की क्या आवश्यकता है?

उत्तर—यह मार्ग प्रत्यक्ष तो है नहीं जिसको इन्द्रियो से अनुभव कर सके, जब कि सांसारिक मार्ग भी विना बतानेवाले क नहीं मालूम हो सकता, तो इस सूक्ष्म मार्ग के वास्ते क्या किसी गुरु की आवश्यकता ही नहीं।

प्रश्न—मार्ग बतानेवाले की आवश्यकता किसी अज्ञानी के लिये हो सकती है। हमने तो भूगोल तथा इतिहासादि विद्या पढ़ी है हमको गुरु की क्या आवश्यकता है।

उत्तर—निस्संदह आपने जो विद्या पढ़ी है, उनकी प्राप्ति को किसी गुरु की आवश्यकता नहीं। परन्तु जिस प्रकार यह विद्या आपको विना गुरु के प्राप्त नहीं हुई। आपने गुरु से ही पढ़ी है। ऐसे ही ब्रह्म-ज्ञान की प्राप्ति के लिये जब तक ब्रह्मज्ञानी गुरु न मिले आप उसके विद्वान् नहीं हो सकते।

प्रश्न—जब कि यह मार्ग इतना कठिन है कि छुरे की धार से अधिक तीक्ष्ण है, तो हमको क्या आवश्यकता पड़ी है जो इस पर चलें।

उत्तर—चाहें आप नित्य दुःख उठाया करें, जिस प्रकार मज़दुर रोज अन्न कमाता है और रोज ही समाप्त कर देता है। चाहे किसान की भाँति अधिक श्रम करके खेत बोवे और काटकर निवृत हो जावें। इस कठिन मार्ग को पूरा करने से या तो इकतीस नील दश खर्ब चालीस अरब वर्षों तक पूर्ण सुख भोगें, या नित्य ही कीड़े मकोड़े से भी नीच-गति प्राप्त करें।

प्रश्न—हम तो चाहते हैं कि इतने बड़े सुख को प्राप्त करें, परन्तु यह तो बहुत कठिन है।

उत्तर—वास्तव में कठिन है, परन्तु असम्भव तो नहीं। कठिन काम से अज्ञानी डरा करते हैं अथवा बलहीन कायर। यदि तुम नचिकेता जैसे लड़के से भी पाठ लेकर तृष्णा और विषय के त्याग के कठिन व्रत को धारण करो, सफलता आगे उद्यत है।

मन्त्र—अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथाऽरसं नित्यमगन्धवच्चयत्। अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवं निचाय्य तं मृत्युमुखात्प्रमुच्यते ॥ १५ । ६६ ॥

(शब्दार्थ) अशब्दं=जिस आकाश का गुण शब्द है उससे वह ब्रह्म पृथक् है। अस्पर्शं=जिस वायु का गुण स्पर्श है उससे भी वह ब्रह्म पृथक् है। अरूपम् अव्ययम्=जिस तेज अर्थात् अग्नि का गुण रूप है, उससे भी वह पृथक् है। अव्ययम्=जन्म-मरण से पृथक्। तथा=ऐसे ही। अरसं=जिस पानी का गुण स्वाद है, उससे भी अलग। च=और। यत्=जो। अनादि=कारण से पृथक्। अनन्तं=अमर। महतः=सब से बड़ा होने के कारण। परम्=अति सूक्ष्म है। ध्रुवं=स्थिर एक रस है। निश्चाय=प्राप्त करके अर्थात् ठीक-ठीक जान कर। तम्=उसको। मृत्युमुखात्=मौत के मुख से। प्रमुच्यते= छूट जाता है।

(अर्थ) जो परमात्मा न आकाश है, जिसके गुण शब्द को कानों से सुन सकें। न वायु है, जिसके गुण स्पर्श को त्वचा से छू सके। न आग है, जिसके गुण रूप को आँखों से देख सके। वह नाश से पृथक् स्वाद शक्ति जिसके जानने के योग्य है जो नित्य है जिसके अनुभव करने में नासिका भी असमर्थ है, क्योंकि वह गंधवाली पृथिवी से भी परे है। वह अनादि है,

वह अनन्त है, वह महान् है, अति सूक्ष्म है, वह सर्वदा एक रस है, वह निर्गति है। उसको जानकर ज्ञानी पुरुष मौत के मुख से मुक्त हो जाता है।

प्रश्न—ब्रह्मज्ञान से मौत के मुख से कैसे छूट जाता है ?

उत्तर – जब तक अविद्या रहती है तब तक अपने को शरीर जानता है और मौत शरीर का धर्म है, इस कारण अपने को मृत्यु का भोजन समझता है। जब नियमानुकूल ब्रह्मज्ञान से पहले आत्मा का ज्ञान हो जाता है, तो उसकी यह अविद्या कि मैं शरीर हूं, दूर हो जाती है। और जब शरीर का सम्बन्ध छूटकर आत्मज्ञान हो गया, तब आत्मा को अमृत पाया। जब मै आत्मा और अमृत हूँ, तो मुझे मृत्यु का भय किस प्रकार हो सकता है।

मंत्र—नाचिकेतमुपाख्यानं मृत्युप्रोक्तंसनातनम्। उक्त्वा श्रुत्वा च मेधावी ब्रह्मलोके महीयते ॥ १६ । ७० ॥

(शब्दार्थ) नचिकेतम्=नचिकेता से प्राप्त हुआ। उपाख्यानं=गुरु चेले की बात चीत की रीति पर। मृत्यु प्रोक्तं=मृत्यु नामी ऋषि का कथन। सनातनम्=जो सनातन से सु[illegible] आये हो। उक्त्वा=कहने से। श्रुत्वा=सुनने से। च=और। मेधावी=बुद्धिमान् लोग। ब्रह्मलोके=ब्रह्म-दर्शन के आनंद में। महीयते=प्रतिष्ठा को प्राप्त करता है।

(अर्थ) जो यह गुरु शिष्य के प्रश्नोत्तर की विधि पर वर्णन किया हुआ, नचिकेता से यमाचार्य का उपदेश है। जो क्रम से प्रत्येक ऋषि से प्रकाशित होने के कारण सनातन है। जो

बुद्धिमान् इसको कथा की रीति पर कहेगा अथवा सुनेगा वह ब्रह्मदर्शी की महिमा को प्राप्त करलेगा अर्थात् उसको ब्रह्मज्ञान हो जावेगा।

प्रश्न—इस कथा के सुनने से ब्रह्मज्ञान हो जावे, तो और साधनो की क्या आवश्यकता है ?

उत्तर- श्रुति मे पहले ही मेधावी-बुद्धि का शब्द दिया हुआ है। मेधावी-बुद्धि का पुरुष जो इस कथा को कहे या सुनेगा तो उसके संस्कारों के उत्तम होने से, उसके अन्त करण में इस बात का निश्चय हो जावेगा। क्योंकि विना ज्ञान और मन के मल विक्षेप दोष दूर हुए मेधा-बुद्धि प्राप्त नहीं हो सकती। जब मेधा-बुद्धि प्राप्त हुई तो उसके सीधे अर्थ यह है कि यदि कमी भी थी तो केवल विज्ञान की थी, जिसको इस कथा ने पूरा कर दिया।

मंत्र—य इमं परमं गुह्यं श्रावयेद् ब्रह्मसंसदि। प्रयतः श्राद्धकाले वा तदानन्त्याय कल्पते तदानन्त्याय कल्पत इति ॥ १७ । ७१ ॥

(शब्दार्थ) य=जो ज्ञानी मनुष्य। इमम्=यह गुरु शिष्य के प्रश्नोत्तर। परमम्=जो बहुत ही सूक्ष्म परमात्मा के सम्बन्ध मे है। गुह्यं=जो मूर्ख से गुप्त रखने योग्य केवल अधिकारी ही को गुप्त उपदेश करने योग्य हैं। श्रावयेद्= इसके मूल तत्त्व को समझाकर सुनावे अर्थात् ब्रह्मज्ञान का उपदेश करे। ब्रह्मसंसदि=जिस समय ब्रह्मज्ञानियों की सभा हो। प्रयतः=शरीर, मन, इन्द्रिय को शुद्ध करके और एक ओर लगाकर। श्राद्धकाले वा=जिस समय विद्वान्

का नियम नियत है, उसी समय सूर्य उदय होगा। जिस समय अस्त होने का नियम है, उसी समय अस्त होगा। उस परमात्मा ने ही इन सम्पूर्ण देवताओं को शक्ति दी है, उसी की शक्ति से यह काम करते हैं। किसी ज्ञानी मनुष्य में या देवता में यह शक्ति नहीं कि वह परमात्मा के नियम को तोड़ सके। अतः यही उसकी शक्ति है कि कोई भी उसके नियम को तोड़ नहीं सकता। अपने को पापी तो बना सकते हैं अर्थात् उसकी आज्ञा के विरुद्ध कर सकते हैं, परन्तु नियम के विरुद्ध नहीं कर सकते।

प्रश्न—बहुत से साधु-महात्मा, बली आदि ऐसे काम करते हैं, जो परमेश्वर के नियम के विरुद्ध मालूम होते हैं, जिनको "करामात" के नाम से पुकारते हैं। जैसे मूसा की लाठी साँप बन गई, मुहम्मद साहब ने चाँद के टुकड़े कर दिये आदि आदि।

उत्तर—परमात्मा के नियम के विरुद्ध कोई नहीं कर सकता। करामात दो प्रकार की बातों को लेकर बन जाती है। एक विद्या की बातें, जिनको साधारण लोग तो जानते नहीं, जब कोई विद्वान् साधु, ब्राह्मण कर देता है, तो उसको करामाती कहने लगते है। प्राचीन समय में जब दियासलाई का चलन नहीं था, प्रायः ब्राह्मण फासफूरस के चावल बना रखते थे। जब आग की ज़रूरत पड़ती, लकड़ियों में मारती-गति से फासफूरस जल उठता। मूर्ख उनको करामाती कहने लगते। दूसरे गप जो कि अपने आचार्य्य की प्रतिष्ठा कराने के लिये चेला उड़ाते थे।

मंत्र—यदेवेह तदमुत्र यदमुत्र तदन्विह। मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति ॥१०।८१॥

(शब्दार्थ) यत्=जो ब्रह्म। एव=ही। इह=इस जन्म में। तत्=वही ब्रह्म। अमुत्र=अगले जन्म में प्रकाश करने-

वाला । यत् = जो । अमुत्र = अगले जन्म मे होगा । तत् = वही । अनु = अनुकूल । इह = इस जन्म मे । मृत्योः = मृत्यु से । स =वह मनुष्य । मृत्युम्=मृत्यु को । आप्नोति=प्राप्त करता है । यः=जो । इह=आत्मा में । नाना=एक से अधिक । एव=ही । पश्यति = देखता है ।

(अर्थ) जैसा परमात्मा इस जन्म में है, वैसा ही अगले जन्म मे दृष्टि आवेगा । और एक रस होने के कारण जैसा अगले जन्म में होगा वैसा ही इस जन्म है । वह मनुष्य बार-बार मृत्यु को प्राप्त करता है, जो उस आत्मा के भीतर नाना पदार्थों को देखता है । क्योंकि आत्मा से सूक्ष्म परमात्मा के सिवाय कोई दूसरी वस्तु नहीं है । और स्थूल वस्तु सूक्ष्म में प्रविष्ट नहीं हो सकती । जो आत्मा में अधिक पदार्थों को देखता है, उसने आत्मा को जाना ही नहीं, वह आत्मा किसी और पदार्थ को समझ रहा है । जिसके भीतर उसे बहुत सी वस्तुएँ दृष्टि आती है, नही तो आत्मा में कोई अन्य पदार्थ प्रविष्ट ही नहीं हो सकता । जब किसी दूसरी वस्तु को आत्मा समझा तो यह अविद्या ने घेरा है, उसका बार-बार जन्म होना ज़रूरी है ।

प्रश्न—मनुष्य तो इस स्थान में यह अर्थ लेते है कि जो इस संसार में एक से अधिक वस्तु को जानता है । तुम आत्मा के भीतर किस प्रकार अर्थ लेते हो ।

उत्तर—इस वल्ली की पहली श्रुति से ही यह प्रकरण चल रहा है कि वह बाहर की ओर देखता है, आत्मा के भीतर नहीं । इस कारण यहाँ के अर्थ आत्मा के भीतर से ही हैं ।

मंत्र—मनसैवेदमाप्तव्यं नेह नानास्ति किंचन ।
मृत्योः स मृत्युं गच्छति य इह नानेव पश्यति ॥
११ । ८२ ॥

(शब्दार्थ) मनसः=मन के द्वारा से । एव=ही । इदम्=इस आत्मा को । आप्तव्यं=प्राप्त कर सकते है । न=नहीं । इह=इस आत्मा के भीतर । नाना=एक से अधिक । अस्ति=है । किंचन=कुछ भी । मृत्योः=मौत से । स=वह मनुष्य । मृत्युम्=मौत को । आप्नोति=प्राप्त करता है । यः=जो । इह=आत्मा के अन्दर । नाना=एक से अधिक । एव=ही । पश्यति=देखता है ।

(अर्थ) वह परमात्मा मन ही से जाना जाता है, सिवाय मन के जीवात्मा और परमात्मा के देखने का कोई हेतु नहीं । इस आत्मा के अन्दर सिवाय परमात्मा के कोई दूसरी वस्तु नहीं । वह मनुष्य बार-बार मौत के दुःख को भोगता है, जो यहाँ अर्थात् आत्मा मे एक से अधिक वस्तुओं को देखता है ।

प्रश्न—श्रुति ने तो केनोपनिषद् में यह कहा है कि वह परमात्मा मन से मनन नहीं किया जाता, किन्तु मन उसकी शक्ति से विचार करता है । आप कहते हैं मन ही से जाना जाता है ।

उत्तर—मन की दो अवस्था हैं । एक मल विक्षेप, और आवरण दोष से युक्त मन, दूसरे इन दोषो से रहित मन । इन दोषो से युक्त मन से उसको नहीं जान सकते । इन दोषों से रहित मन से वह जाना जाता है, जैसे आँख और आँख के सुरमा को देखने के लिये दर्पण ही एक साधन है । विना दर्पण के आँख के सुरमा को नहीं देख सकते, परन्तु अँधेरी रात्रि में दर्पण से भी नही देख सकते । या जब दर्पण मैला अर्थात् साफ न हो, या दर्पण स्थिर न हो, किन्तु तेज गति से हिल रहा हो, या दर्पण पर कोई परदा पड़ा हो, तो उस दशा में दर्पण से भी आँख और आँख के सुरमा को नहीं देख सकते ।

मंत्र—अंगुष्ठमात्रः पुरुषो मध्य आत्मनि तिष्ठति।
ईशानो भूतभव्यस्य न ततो विजगुप्सते।
एतद्वैतत् ॥ १२ । ८३ ॥

(शब्दार्थ) अंगुष्ठमात्र=अँगूठा के अनुमान और रोहे का आकाश है, जिसमें जीव का ज्ञान हो सकता है। पुरुषः=परमात्मा। मध्ये=मध्य में। आत्मनि=जीवात्मा के। तिष्ठति=रहता है। ईशान=स्वामी प्रबन्ध में रखने-वाला। भूतभव्यस्य=बीते हुए और आगे का। न= नहीं। ततः=उससे। विजगुप्सते=निकृष्ट दशा को पहुँचता। एतद्वैतत्=ब्रह्म यही है, जिसकी बाबत प्रश्न किया था।

(अर्थ) मनुष्य के रोहे में जो एक अँगूठे के समान स्थान है, उस स्थान पर जीवात्मा के दर्शन हो सकते हैं। वह परमात्मा जोकि भूत और भविष्यत् का स्वामी है, जिसको जानने के पश्चात् मनुष्य को फिर ऐसी अवस्था में नहीं जाना पड़ता, जिसमें अपने से घृणा हो। प्राय मनुष्य को पाप करने के पश्चात् जब वेग उतर जाता है, तो अपने कर्म से घृणा करता है और अपने मन में अपने निकृष्ट जीवन पर शोक करता है। परन्तु जो मनुष्य परमात्मा के ज्ञान को प्राप्त कर लेते है, वह पाप नहीं कर सकते। पाप उसी समय तक हो सकता है, जब तक दण्ड देनेवाली शक्ति की सत्ता निश्चय न हो। जबानी चाहे मानते ही हों अथवा उस दशा में हो सकता है कि परमात्मा को एक देशी जानने के कारण उस स्थान पर मौजूद होने का निश्चय न हो। या उस दशा में जब कि किसी सत्ता

का विश्वास हो जोकि पाप करने के पश्चात् भी हमें बचा सकती हो।

प्रश्न—क्या जीवात्मा और परमात्मा अँगूठे के बराबर हैं, जैसा कि श्रुति से प्रकट है।

उत्तर—जीवात्मा और परमात्मा अँगूठे के बराबर नहीं, क्योंकि आत्मा शब्द से ही प्रकट है। किन्तु जिस स्थान पर उसको देख सकते है, वह रोहे का आकाश है, अँगूठे के बराबर है।

मंत्र—अंगुष्ठमात्रः पुरुषो ज्योतिरिवाऽधूमकः। ईशानो भूतभव्यस्य स एवाऽद्य स उश्वः। एतद्वैतत ॥ १३ । ८४ ॥

(शब्दार्थ) अंगुष्ठमात्रः=वह अँगूठ के बराबर स्थान में दृष्टि आनेवाला। पुरुषः=जीवात्मा या परमात्मा। ज्योतिरिव=ज्ञान के प्रकाश से प्रकाशित। अधूमकः=धुएँ से पृथक् शुद्ध। ईशान=स्वामी। भूतभव्यस्य=भूत भविष्यत् सम्पूर्ण पदार्थों का। एव अद्य=वही आज सारे जगत् का स्वामी है। स एवश्वः=वह सब का स्वामी होगा। एतद्वैतत्=यह वही प्रेम है।

(अर्थ) अँगूठे के बराबर जगह में दृष्टि आनेवाला पुरुष अर्थात् जीवात्मा और परमात्मा ऐसी ज्योति अर्थात् प्रकाश है कि जिसको कभी धुवाँ (धूम्र) ढाँप ही नहीं सकता। जिसमें किसी प्रकार का मल नहीं, वही भूत और आनेवाली वस्तुओं का स्वामी है। न तो पहले कोई ऐसी वस्तु हुई है, जिसका वह स्वामी न हो, न आगे कोई ऐसी वस्तु पैदा होगी, जिस पर उसका अधिकार न हो। वही सारे जगत् का स्वामी है। बड़े

से बड़े राजे-महाराजे उसके वारन्ट मौत को टाल नहीं सकते। नास्तिक से नास्तिक को भी उसके नियम के सामने शीश झुकाना पड़ता है। आज वह संपूर्ण पदार्थों का स्वामी है, कोई भी ऐसा पदार्थ दृष्टिगोचर नहीं होता, जिस पर उसके नियम का प्रभाव न हो। सूर्य, चन्द्र, तारे, उसके नियम को तोड़ नहीं सकते। वायु, अग्नि, पानी उसके नियम के विरुद्ध चल नहीं सकते। पृथ्वी के बड़े-बड़े योधा अपने भुजबल से उसके वारन्ट मौत को रोक नहीं सकते। बड़े-बड़े मानी उसके दर पर अपने कर्मों का फल भोगने की व्यवस्था के लिये मारे-मारे फिरते हैं। निदान यह वही ब्रह्म है जो सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को नियम में चला रहा है।

मंत्र--यथोदकं दुर्गे वृष्टं पर्वतेषु विधावति।
एवं धर्मान्पृथक् पश्यंस्तानेवानुविधावति॥
१४। ८५॥

(शब्दार्थ) यथा=जैसे। उदकंदुर्गे=गढ़ मे कठिनता से प्रवेश करने योग्य, पहाड़ियो का वर्षा हुआ। पर्वतेषु=पहाड़ों मे। विधावति=दौड़ता अर्थात् वेग से बहता है। एवम्=इसी प्रकार। धर्मान्=धर्म से। पृथक्=अलग। पश्यन्=देखता हुआ तानेव=उसी के गुणों के। अनुविधावति=उनके पीछे लग जाता है।

(अर्थ) जैसे पहाड़ की ऊँची-ऊँची चोटियो पर जिन पर चढ़ना महा कठिन है, वर्षा हुआ पानी पहाड़ में बह निकलता है। यद्यपि और स्थान पर वर्षा है, परन्तु अपने नीचे की ओर चलनेवाले स्वभाव के कारण दूसरे पहाड़ो, नही-नहीं साफ़

मैदान में बह निकलता है। इसी प्रकार जो मनुष्य किसी वस्तु के गुण को उससे अलग देखता है, तो भी वह उन्हीं धर्मों के पीछे दौड़ता है।

आशय यह है, धर्म, धर्मी का अविनश्वर धर्म है। जहाँ धर्म होगा, वहाँ धर्मी अवश्य होगा। और जहाँ धर्मी होगा, वहाँ धर्म अवश्य होगा। अचेतन प्रकृति का धर्म-बन्धन है, चाहे हम प्रकृति को स्वतंत्रता के विचार से पास लावें। तो भी वह बाँध देगी, जैसा कि उसका धर्म है। चाहे परमात्मा की उपासना अज्ञान से ही करें, परन्तु उससे आनन्द अवश्य मिलेगा। जिस वस्तु का जो धर्म है, वह उससे पृथक् नही हो सकता। इस कारण जहाँ पाप है, उसी जगह भय है। जो पापी न हो, उसे भय नहीं हो सकता। जिस गुण को हम प्राप्त करना चाहें, उसी के गुणो की उपासना करें, मूर्ख, शराबी, कबाबी गुरु की संगति से हम को ज्ञान और सदाचार नहीं मिल सकता।

मंत्र—यथोदकं शुद्धे शुद्धमासिक्तं तादृगेव-भवति। एवं मुनेर्विजानत आत्मा भवति गौतमः ॥ १५ । ८६ ॥

(शब्दार्थ) यथा=जैसे। उदकम्=जल। शुद्धे=पवित्र वस्तु मे। शुद्धम्=शुद्ध। आसिक्तं=भले प्रकार सींचा हुआ। तादृग=उसी प्रकार का। एव=ही। भवति=होता है। एवम्=इसी प्रकार। मुनेः=कम बोलनेवाले का। विजानतः=ज्ञानी मनुष्य का। आत्मा=आत्मा। भवति=होता है। गौतमः=हे गौतम के कुल में उत्पन्न हुआ नचिकेता।

(अर्थ) यथा, शुद्ध जल शुद्ध स्थान पर पहुँचने पर शुद्ध ही होता है, उसमें कहीं से आकर मैल शामिल नही हो जाता।

इसी प्रकार बहुत थोड़ा बोलनेवाले और ज्ञान से युक्त इन्द्रियों को अपने आधीन रखनेवाले अपने मन, इन्द्रिय और शरीर के दास न बनकर उनसे ठीक-ठीक काम लेते हैं। पूर्ण योगी आत्मा, हे नचिकेता! शुद्ध होता है। उसको कोई मल विक्षेप दोष और अहंकार जिससे सम्पूर्ण मनुष्य दुःख उठाते हैं, आकर नहीं सताते। यह सब दोष उसी समय तक होते हैं, जब तक मन इन्द्रिय के पीछे लगकर आत्मा बाहर की ओर देखता है, और इसी प्रकृति से उत्पन्न हुए विषयों में फँसकर अपने को मन की दशा में अनुभव करता है। आत्मा को तो कोई कष्ट हो ही नहीं सकता, क्योंकि नित्य है और प्रकृति से सूक्ष्म है। नित्य होने से, उसको नाश का भय नहीं और प्रकृति से सूक्ष्म होने से प्रकृति का गुण परतंत्रता उसमें जा नहीं सकती। परतंत्रता अर्थात् दुख मन में होता है, अविद्या से आत्मा उसको अपने में स्वीकार कर लेता है। जैसे किसी का मकान कलकत्ता में है और वह जल जाता है। जिस समय उसे खबर होती है, वह अहंकार से कहता है कि शोक! मेरा सत्यानाश हो गया। यद्यपि उसका कुछ नहीं बिगड़ा। यदि जिस मकान में वह रहता है, उस मकान में आग लगती, तो कह भी सकते थे कि मेरी कुछ हानि हुई, मुझे रहने में कष्ट हुआ। मकान कलकत्ता में आप लाहौर में। फिर मकान के जलने से उसे क्या कष्ट? अतः मन शुद्ध होने की दशा में आत्मा बाहर की ओर नहीं देखता, क्योंकि उस समय उसे अन्दर का फोटू दृष्टि पड़ता है। और अशुद्ध होने की दशा में अंदर से तो कुछ दृष्टि नहीं पड़ता, बाहर से ही देखता है। इस कारण बाहर की ओर इन्द्रियों को चलाता हुआ दुःख पाता है। इसलिये निष्काम परोपकार करके मन को शुद्ध करना चाहिये।

इति चौथी वल्ली समाप्तः।

अथ पंचम वल्ली

मंत्र--पुरमेकादशद्वारम् जस्यावक्रचेतसः । अनुष्ठाय न शोचति विमुक्तश्च विमुच्यते । एतद्वैतत् ॥ १ । ८७ ॥

(शब्दार्थ) पुरम=पुर जो कुछ भोगने का स्थान हो अर्थात् शरीर। एकादशद्वारम्=जिसके ११ दरवाजे हैं। अजस्य=जो किसी कारण से उत्पन्न न हुआ, अर्थात् नित्य जीवात्मा। अवक्रचेतः=जिसका ज्ञान उलटा नहीं। अनुष्ठाय= अपने धर्म का ठीक प्रकार पालन करके। न=नहीं। शोचति= शोच करता। विमुक्तश्च=तीन आश्रमों के तीन प्रकार के ऋण से छूटा हुआ। विमुच्यते=शरीर से भी छूट जाता है। एतद्वैतत्=यही ब्रह्मज्ञान का फल है।

(अर्थ) मनुष्य के शरीर के एकादश दरवाजा है, दो आँखें, दो नासिका, दो कान, मुह एक, मस्तक में एक, नाभि एक, गुदा एक, उपस्थ इन्द्रिय एक, कुल एकादश दरवाजा है। इस ग्यारह दरवाजेवाले नगर में यह जीवात्मा शासन करता है। यदि जीवात्मा का ज्ञान उलटा न हो अर्थात् अविद्या में लिप्त न हो, तो अपने वर्णाश्रम धर्म को ठीक-ठीक करता हुआ शोक नहीं करता, किन्तु सब प्रकार के ऋणों से मुक्त हो जाता है, तो शरीर के बन्धन से भी मुक्त हो जाता है। अर्थात् ब्रह्म-चर्य आश्रम, ग्रहस्थाश्रम, वानप्रस्थाश्रम के नियम पूर्वक करने के बाद संन्यास आश्रम के धर्म पालन करके मुक्ति को प्राप्त कर लेता है। इस शरीर में जिसका ज्ञान मिथ्या हो उसके लिये यही राजधानी कारागार हो जाता है। क्योंकि वह

बजाय शरीर, इन्द्रियाँ और मन पर शासन करने के उनके आधीन हो जाता है। ब्रह्मज्ञान का यही फल है। अतः जीवात्मा शरीर को राजधानी बना लेता है। ज्ञानी को इस शरीर से किसी प्रकार की विपत्ति नहीं होता, क्योंकि यह सब उसके आधीन होते हैं। और ज्ञानी के लिये यह शरीर और इन्द्रियाँ मन सब के सब दुःख देनेवाले हो जाते हैं, क्योंकि उस पर शासन करते हैं। बात स्पष्ट है कि यदि आदमी घोड़े पर सवार हो और घोड़ा वश में हो, तो मार्ग पर पहुँचा देता है। यदि घोड़ा बे-वश हो तो पग-पग पर गिरने का भय लगा रहता है। प्रकृति की उपासना से जीव का ज्ञान मिथ्या हो जाता है, जिससे अविद्या उत्पन्न होकर वह दुःख उठाता है। ब्रह्म के ज्ञान से जीव का ज्ञान सीधा होता है, जिससे वह आनन्द भोगता है।

प्रश्न—इस समय तो जो लोग प्रकृति की उपासना करते हैं, वह अधिक सुखी मालूम पड़ते हैं।

उत्तर—दूर से ही सुखी मालूम पड़ते हैं, उनसे मिलकर पूछो तो कभी शान्त नही मालूम पड़ेगे। सम्पूर्ण यूरुप शान्ति की चिन्ता में है, परन्तु प्रकृति उपासना के कारण यूरुप को शान्ति मिल नही सकती। लंदन में स्त्रियो के झगड़े फ्रांस के बलवे, रूस के अन्तर्राष्ट्रीय विप्लव, पुर्तगाल की बेचैनी बताती है कि वहाँ शांति और सुख का नाम नहीं। शरीर से मुक्ति प्राप्तहोना तो अलग रही, किन्तु वहाँ मनुष्य से ही स्वतंत्रता प्राप्त होना कठिन है। शारीरिक आवश्यकता का बन्धन तो छूटा नहीं, वह तृष्णा के बन्धन मे लिप्त हो गए।

मंत्र—हंसः शुचिषद्वसुरन्तरिक्षसद्धोता वेदिषद्-

तिथिर्दुरोणसत्। नृषद्वरसदृतसद्व्योमसदब्जा गोजा ऋतजा अद्रिजा ऋतम्बृहत् ॥२।८८॥

(शब्दार्थ) हंसः=जीवात्मा एक शरीर को छोड़कर दूसरे शरीर मे जानेवाला। शुचिषत्=शुद्ध परमात्मा मे रहनेवाला। वसुः=शरीर मे वसनेवाला। अन्तरक्षत्सः= शरीर के मध्य आकाश मे दृष्टि आनेवाला। होता=होम करनेवाला। वेदषत्=पृथ्वी मे रहनेवाला। अतिथि=जिस के आने या शरीर मे रहने की कोई तिथि नियत नही। दुरोणसत्=अपने शरीर या आश्रम में रहनेवाला। नृषत्= मानुषी शरीर मे रहनेवाला। वरसदृत सत्=देव ऋषियों के शरीर मे रहनेवाला। व्योमसत्=आकाश में रहनेवाला। अब्जा=पानी में रहनेवाले, शरीर मे रहनेवाला। गोजा= थल में रहनेवाले शरीर में रहनेवाला। ऋतजा=स्वाभाविक अवस्था मे रहनेवाला। अद्रिजा=पहाड़ों मे उत्पन्न होनेवाली योनियो में रहनेवाला। ऋतम्=स्वयम् भी सत्यस्वरूप अर्थात् नित्य। बृहत्=बड़े उच्च विचारवाला।

(अर्थ) यह जीवात्मा जो एक शरीर को छोड़कर दूसरे शरीर को जानेवाला है। बाहर की कोई वस्तु भी इसको अपने आधीन नही कर सकती। जो सम्पूर्ण शरीरो अर्थात् चींटी से लेकर मनुष्य तक मे जानेवाला जिसका दर्शन शरीर के भीतर केवल गोहे के आकाश मे ही हो सकता है। और यज्ञादि कर्मों का करनेवाला और शरीर की भूमि में रहनेवाला जिसकी शरीर मे आने जाने की कोई तिथि नियत नहीं। जो किसी मकान मे रहने, मुक्ति के लिये केवल मनुष्य के शरीर में आनेवाला, मुक्ति से लौटकर देव ऋषियो के शरीर में

आनेवाला, नित्य ज्ञान के द्वारा ब्रह्म में स्थिर होने, तत्त्वज्ञान के न होने से जल-जन्तुओं के जन्म धारण करनेवाला, भूमि में रहनेवालों के शरीर में जानेवाला, परमात्मा के नियम से उत्पन्न होनेवाला, पहाड़ी जन्तुओं की दशा में उत्पन्न होनेवाला और वास्तव में वह सब विकारों से अलग है। क्योंकि यह सब गुण जीव की उपाधि होती है और वह अहंकार से इनमें दुःख सुख को मानता है और बाह्य प्रभाव उसके भीतर नहीं जा सकता। जब उसको अपने तत्त्व का ज्ञान होता है, तब सब से बड़ा ब्रह्म ही उसका उद्देश होता है। सारांश यह कि ज्ञान और अज्ञान के कारण इस जीवात्मा की अनेक दशा होती हैं। ज्ञान के कारण वह उत्तम दशा में होता है और अज्ञान के कारण वह नीच दशा में होता है। इस कारण ब्रह्म-ज्ञान के कारण नीच-गति से निकल कर उत्तम गति को पहुंचता है।

मंत्र—ऊर्ध्वं प्राणमुन्नयत्यपानं प्रत्यगस्यति। मध्ये वामनमासीनं विश्वेदेवा उपासते ॥ ३। ८६ ॥

(शब्दार्थ) ऊर्ध्वम्=ऊपर ब्रह्माण्ड अर्थात् सर की खोपड़ी में। प्राणम्=प्राणवायु। उन्नयति=खींचता है। अपानम्=अपान वायु जो विष्ठा को निकालता है। प्रत्यक्=पेट में। अस्यति=फेंकता है। मध्ये=नाभि और गले के मध्य। वामनम्=शुद्धि चेतन उत्तम गुणोंवाला जीवात्मा। आसीनम्=बैठा हुआ है। विश्वेदेवाः=जगत् को प्रकाशित करनेवाले देवता अर्थात् इन्द्रियाँ। उपासते=काम करतीं हैं।

(अर्थ) ऊपर की तरफ तो प्राण-वायु गति करता है अर्थात् जो मनुष्य प्राण-वायु को रोकता है वह उन्नति करता

है, अथवा बल से बाहर की तरफ प्राणों को फेंकता और अपान वायु बल से नीचे की ओर निकालता है। और गले और नाभि के मध्य जो रोहे का आकाश है, उसमें रहनेवाले जीवात्मा को जो प्रकृति से अधिक गुणवाला है अर्थात् प्रकृति सत् है, और जीवात्मा सत् चित् है और वह सब इन्द्रियों का राजा है। जिस प्रकार सम्पूर्ण प्रजा राजा की आज्ञा का पालन करती है, इसी प्रकार प्राणायाम करनेवाले को सम्पूर्ण इन्द्रियाँ उसकी आज्ञा में रहती हैं। और जो मनुष्य प्राणों को जो इंद्रियों के काम के साधन में नहीं, वश में करते हैं, उनकी इंद्रियाँ वश में नहीं रहतीं।

प्रश्न—प्राणों के रोकने से इन्द्रियों का वश में होना किस प्रकार स्वीकार किया जावे ?

उत्तर—इन्द्रियाँ मन के आधीन होकर काम करती है। जिस ओर मन इन्द्रियों को लगाता है, उसी ओर इन्द्रियाँ काम करती हैं। लोहू की हरकत से हरकत करता है। यदि लोहू की हरकत न हो, तो मन हरकत नहीं कर सकता। और लोहू की हरकत प्राणों की हरकत के कारण से है। यदि प्राण हरकत न करें, तो शरीर के अन्दर किसी प्रकार का काम नहीं हो सकता।

प्रश्न—प्राणों की हरकत तो सुषुप्ति में भी जारी रहती है उस समय मन, और इन्द्रियाँ क्यों काम नहीं करतीं ?

उत्तर—मनुष्य का शरीर एक फ़ोटूग्राफर का कैमरा है, जिसके भीतर का शीशा मन है, जिस पर चित्र उतरता है। और बाहर का शीशा इन्द्रियाँ हैं। यदि दोनों शीशों के मध्य एक कागज़ का भी परदा लगा दिया जावे तो चित्र नहीं उतरेगा। सुषुप्ति अवस्था में और इन्द्रियों के मध्य तमोगुण का आवरण आ जाता है, इस कारण इन्द्रियों का काम बंद हो

जाता है। परन्तु कर्म इन्द्रियों का काम बंद नहीं होता, केवल ज्ञान इन्द्रियों का काम बंद होता है।

प्रश्न--फिर यह नियम तो न रहा कि प्राणों के रखने से ही अवश्य इन्द्रियाँ रुक जावेगी, क्योंकि इन्द्रियाँ और प्रकार से भी रुक सकती है।

उत्तर—यह तो नियम है कि इंद्रियाँ तब ही हरकत करेंगी, जब प्राण हरकत करेंगे। इन्द्रियों की हरकत, प्राणों की हरकत के विना नही दृष्टि पड़ती। परन्तु यह नियम नहीं कि जब प्राण हरकत करें, तो इन्द्रियाँ अवश्य ही हरकत करे।

मंत्र--अस्य विस्रंसमानस्य शरीरस्थस्य देहिनः । देहाद् विमुच्यमानस्य किमत्र परिशिष्यते । एतद्वैतत् ॥ ४ । ६० ॥

(शब्दार्थ) अस्य=इसके। विस्रंस्मानस्य=पृथक् होने की दशा। शरीरस्थस्य=शरीर मे रहनेवाले। देहिन=जीवात्मा के। देहाद्विमुच्यमानस्य=शरीर से पृथक् होने के समय। किम्=क्या। अत्र=यहाँ। परिशिष्यते=शेष रह जाता है। एतद्वैतत्=यह वही है।

(अर्थ) जब यह आत्मा शरीर को छोड़ देता है; क्योंकि यह शरीर जो संयोग से बना है, इसके परमाणुओं का पृथक् पृथक् हो जाना अनिवार्य है, क्योंकि जो वस्तु उत्पन्न होती है, उसका नाश होना अवश्य है। और जब यह शरीर में रहनेवाला जीवात्मा शरीर को त्याग देता है, तो शरीर में कौन सी वस्तु शेष रह जाती है। इस प्रश्न का उत्तर ऋषि ने दिया है, कि वही जीवात्मा है, जो इस शरीर के नष्ट होने से नष्ट नहीं होता।

प्रश्न—जब शरीर का नाश हो गया, तो जीव का क्यों नहीं नाश होता?

उत्तर—नाश के अर्थ कारण में प्रविष्ठ हो जाना। जैसे मकान ईंटों के संयोग से बना है, मकान का नाश क्या है? ईंटो का अलग-अलग हो जाना। जो वस्तु संयोग से उत्पन्न होगी, वह वियोग से नाश हो जावेगी। परन्तु जीवात्मा के परमाणु नहीं, और न वह संयोग से बना है और न उसका कोई कारण है। जब उसका कोई कारण ही नहीं, तो किस में शामिल हो जावे। जब किसी कारण में शामिल ही न हो, तो नाश कैसे कह सकते हैं।

प्रश्न—बहुतेरे लोग यह कहते हैं कि शरीर के नाश होने के पश्चात् ब्रह्म ही रह जाता है?

उत्तर—ब्रह्म तो हर वस्तु के नाश के पश्चात् भी रह जाता है। इसलिए शरीर के नाश के पश्चात् ब्रह्म रह ही जाता है, इसके सत्य होने में कोई संदेह नहीं। क्योंकि जो वस्तु पैदा होगी, वही नाश होगी। जीव और ब्रह्म दोनो नित्य है और दोनों शरीर के नाश के पश्चात् शेष रहते हैं। अतः दोनो ही अर्थ ठीक हैं।

मंत्र--न प्राणेन नापानेन मर्त्यो जीवति कश्चन। इतरेण तु जीवन्ति यस्मिन्नेताउपाश्रितौ॥ ५। ६१॥

(शब्दार्थ) न=नही। प्राणेन=प्राणों के कारण से। न=नहीं। अपानेन=अपान वायु के कारण से। मर्त्यः=मरनेवाला यह शरीर और जीव से मिला हुआ प्राणी। जीवति=जाता है। कश्चन=कोई। इतरेण=प्राण अपानादि से अलग दूसरी

वस्तु है, जिससे । जीवन्ति=जीते है । यस्मिन्=जिसके। एतौ=यह प्राण और अपानादि । उपाश्रितौ=सहारे रहते है।

(अर्थ) जो मनुष्य यह विचार करते है कि मनुष्य या पशुओ का जीवन प्राणों से नहीं बताते हैं कि कोई पशु प्राणो से नहीं जीवित रहता है। और न अपानवायु से जीवन होता है, किंतु जीवन का कारण प्राण अपान आदि से पृथक् जीवात्मा है, जिसके सहारे यह प्राण-इन्द्रियाँ और शरीर स्थिर हैं। अतः जीव के कारण से जीवन कहलाता है, प्राणो के कारण नहीं।

प्रश्न—जब कि खाना, पीना आदि प्राणो के धर्म हैं और जिंदा वही कहलाते हैं जिनमें पाचक शक्ति तथा गति हो, तो प्राणों से जीवन स्वीकार न किया जावे।

उत्तर—प्राण तो हरएक उत्पत्तिवाली वस्तु में है, जिसके कारण से छः विकार जो सृष्टि को प्रकाशित करनेवाले पाये जाते हैं। परन्तु प्राण दो प्रकार के हैं, एक सामान्य प्राण, जो कुल जगत् में मौजूद हैं। दूसरे विशेष प्राण, जो जीवधारियों में पाये जाते हैं, जिनमें एक प्रकार की चंचलता है, उसमें सामान्य प्राण होते हैं। जिसमें तीन प्रकार की हरकत होती है, उसमें विशेष प्राण होते है। इस हरकत को दो प्रकार से विभाजित किया जाता है। एक चैतन्य इच्छा करनेवाला है, दूसरा प्रबंधक इच्छा रखनेवाला चैतन्य का चिह्न है। करना न करना, उलटा करना, इस इच्छावाले शरीर में पाचन-शक्ति, रक्षा और ज्ञान जोकि जीवन के चिह्न पाये जाते हैं मौजूद हैं। जिनमें कि सामान्य रूप से प्रबन्ध करने की चेतनता मौजूद होती है, उसमें पाचन-शक्ति तो होती है, परन्तु उसमें ज्ञान तथा रक्षा नहीं होती है। क्योंकि जीवन का मुख्य तत्त्वज्ञान तथा रक्षा

है। यह दोनों जीव के कारण है अर्थात् जीवन का कारण जीव है।

मंत्र—हन्त तइदं प्रवक्ष्यामि गुह्यं ब्रह्म सनातनम्। यथा च मरणं प्राप्य आत्मा भवति गौतम ॥ ६ । ६२ ॥

(शब्दार्थ) हन्त=दया के योग्य नचिकेता। ते=तुझको। इदम्=मौजूदा विषय के अनुकूल। प्रवक्ष्यामि=कहता हूँ अर्थात् उपदेश करता हूँ। गुह्यं=जो गुप्त भेद है। ब्रह्म=वेद से प्रकाशित हुआ। सनातनम्=जो सदा से है। यथा=जैसे। मरणं=मौत को। प्राप्य=प्राप्त करके। आत्मा=जीवात्मा। भवति=होता है। गौतम=गौतम के कुल मे उत्पन्न हुआ नचिकेता।

(अर्थ) यमाचार्य कहते हैं कि दया के योग्य नचिकेता! मैं तुझको वह उपदेश जो सनातन से वेद ने इस बारे में कहा है कि जीवात्मा मरने के पश्चात् क्या होता है, बताऊँगा। यद्यपि यह विद्या प्रत्यक्ष नहीं, जिसको सब लोग जान सकें। जो कि गुप्त भेद है, जिसको आत्म विद्या के जाननेवाले योगी ही जान सकते हैं, सब की पहुंच नहीं। क्योंकि जो जीवात्मा के स्वरूप को जान जाते हैं वही इस बात को जान सकते हैं कि इस शरीर से निकलने के पश्चात् जीव कहाँ जाता है। जिनको ज्ञान नहीं कि जीवात्मा क्या वस्तु है; द्रव्य है, या गुण है, संयोग है, या अणु-गतिवाला है, या निर्गति नित्य है, या अनित्य स्वभाव से मुक्त। सारांश यह कि आत्म-विद्या से शून्य मनुष्यों के लिये यह विद्या एक गुप्त भेद है।

प्रश्न—नचिकेता पर क्या आपत्ति पड़ी थी ? जिसके कारण से यमाचार्य ने उसे दया के योग्य स्वीकार किया।

उत्तर—प्रथम तो नचिकेता के पिता ने इसको मृत्यु को देने को कहा था। दूसरे वह ऐसी विद्या को जानने का इच्छुक था, जिसका मिलना बहुत ही कठिन था। छोटी आयु में इस कठिनता से पूरी होनेवाली इच्छा का पैदा हो जाना, क्या कम आपत्ति थी।

मंत्र—योनिमन्ये प्रपद्यन्ते शरीरत्वाय देहिनः। स्थाणुमन्येऽनुसंयन्ति यथाकर्म यथाश्रुतम् ॥ ७ । ६३ ॥

(शब्दार्थ) योनिम=दूसरे शरीर को। अन्ये=जिन लोगों ने ब्रह्मज्ञान प्राप्त नही किया। प्रपद्यन्ते=प्राप्त करते है अर्थात् दूसरे शरीर में चले जाते है। शरीरत्वाव=कर्मों का फल भोगने या आगे के वास्ते कर्म करने को जो शरीर मिलता है, उसके लिये। देहिनः=जीवात्मा। स्थाणुम्=चञ्चलता रहित। अन्ये=कोई महापापी मनुष्य। अनुसंयन्ति=प्राप्त करते हैं। यथा=जैसा कि उनका। कर्म=कर्म होता है, जैसा कि। श्रुतम्=जैसा कि संस्कार से उत्पन्न ज्ञान होता है।

(अर्थ) ऋषि बताते हैं कि हे नचिकेता! जिन लोगों को मनुष्य शरीर में ब्रह्म-ज्ञान हो जाता है, उनकी मरने के पश्चात् जो दशा होती है, उसका ज़िक्र तो हो चुका है। शेष वह लोग जिन्होने मनुष्य का शरीर पाकर भी ब्रह्म-ज्ञान प्राप्त नहीं किया, या तो पुनः मनुष्य का शरीर या पशु-पक्षी आदि का जन्म लेते हैं। और जो सब से नीच कर्मवाले जीव हैं, वह ऐसी

योनियों को प्राप्त करते हैं, जहाँ वह स्थाणु रूप होते हैं। निदान जैसा कर्म और ज्ञान होता है, वैसा ही शरीर में जन्म लेते हैं।

प्रश्न—स्थाणु का अर्थ अन्य टीकाकार वृक्षादि की योनि करते हैं। तुमने स्थाणुरूप क्यों माना ?

उत्तर—कनाड्यादि महर्षि वृक्षों को शरीर नहीं मानते, यथा प्रशस्तपाद भाष्य से विदित होता है कि वह वृक्षों को विषय मानते हैं और मिट्टी पत्थर की भाँति वर्णन करते हैं और श्रुति शरीर की पूर्त्यर्थ वर्णन करती है। इस कारण वह अर्थ सत्य नहीं हो सकता।

प्रश्न—यदि कणादि ने वृक्षों को विषय स्वीकार कर लिया, तो मनु ने स्पष्ट शब्दों में स्थावर योनि अर्थात् वृक्ष बताया है।

उत्तर—जो अर्थ स्थाणु का है, वही स्थावर का है। यदि कोई हठ से भी कहे कि वृक्ष योनि ही है, तो वेद ने स्पष्ट शब्दों में दिखाया है कि सृष्टि दो प्रकार की है। एक भोगनेवाली दूसरा भोग-योनि जिसमें जीव है वह चैतन्य सृष्टि भोगता अर्थात् भोगनेवाली कहाती है। जिसमें जीव नहीं वह भोग-सृष्टि है, जो खाने के लिये बनी है, इसी को स्थावर और जंगम को ही जड़ और चैतन्य के नाम से पुकारा गया है। इससे किसी को क्या इन्कार हो सकता है। क्योंकि शाकादि ही खाने के हेतु बनाये गये हैं। इसी विचार से कपिल ने कहा है कि जिसमें चैतन्यता नहीं है, वही भोग-सृष्टि कहलाती है।

प्रश्न—यदि वृक्ष योनि माना जावे, तो क्या दोष आवेगा ?

उत्तर - प्रथम तो वृक्ष में चैतन्य के लक्षण इच्छा को सिद्ध करना होगा। दूसरे यह सिद्ध करना होगा कि वह कर्म-योनि है, या भोग-योनि, या उभय योनि। तीसरे यह बताना होगा कि वह किस अवस्था में है। चौथे खाने के लिये 'सृष्टि वृक्षों से

पृथक् कोई सिद्ध करनी होगी। पंचम इसका उत्तर देना पड़ेगा कि दुःख आदि समवाय सम्बंध में या पर सम्बन्ध, निदान इस असत्य सिद्धान्त में इतने दोष हैं कि जिसकी बहस (विचार) यहाँ नहीं कर सकते।

मंत्र—य एष सुप्तेषु जागर्ति कामं कामं पुरुषो निर्मिमाणः। तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म तदेवामृत-मुच्यते। तस्मिँल्लोकाः श्रिताः सर्वे तदु नात्येति कश्चन। एतद्वैतत् ॥ ८ । ६४ ॥

(शब्दार्थ) यः=जो। एष=यह अन्तर्यामी। सुप्तेषु=सोये हुओं में। जागर्ति=जागता है। कामम्=प्रत्यक अर्थ को पूरा करने के वास्ते। पुरुषः=सर्व व्यापक परमात्मा। निर्मिमाणः=सब जगत् को बनाता हुआ। तदेव=वही। शुक्रम्=जगत् का रचनेवाला बीज है। तदेव=वही सब से बड़ा अर्थात् ब्रह्म है। शुक्रम्=वही। अमृतम्=नाश रहित। उच्यते=कहा जाता है। तस्मिन्=उस ब्रह्म में। लोकाः=सूर्यादि लोक। आश्रिताः=उसके ठहरे हुए। सर्वे=सब। तदु=उसके नियम। न=नहीं। अत्येति=उल्लघन कर सकता है। कश्चन=कोइ भी। एतद्वैतत्=जिस ब्रह्म को तूने पूछा है, वह यही है।

(अर्थ) वह सर्व अन्तर्यामी परमात्मा जो सम्पूर्ण जीवों की सोने की दशा में भी जागता हुआ उनकी रक्षा करता है। किन्तु उसको किसी वस्तु की ज़रूरत नहीं, तो भी जीवो की ज़रूरतो के अनुकूल प्रत्येक वस्तु उत्पन्न करता है। इस पर भी जीव उसकी आज्ञा का पालन नहीं करते और बहुत से काम

उसके विरुद्ध करते है। तो भी उन पर से वह दया का हाथ नहीं हटाता और सुषुप्ति देकर उनको सुख देता है। सब जगत् का रचनेवाला है, वही सब से बड़ा है। वह मुक्त स्वरूप है, वह अमृत है, जिसको पीकर मनुष्य अमर होते है। जो मनुष्य उसके नियमो के अनुकूल चलते हैं, वह मुक्ति का सुख प्राप्त करते हैं। उसके सहारे सूर्य, चन्द्र, भूमि आदि सम्पूर्ण लोक बसते है। उसने जो एक दूसरे मे आकर्षण-शक्ति पैदा कर दी है उसी से बँधे हुए सम्पूर्ण लोक आकाश में ठहरे है। जिस प्रकार आदमी का फेंका हुआ पत्थर, जब तक शक्ति साथ रहती है तब तक आकाश में ऊपर की ओर जाता है, जहाँ शक्ति समाप्त हो गई नीचे की ओर गिरता है। ऐसे ही प्रत्येक लोक उसकी दी हुई शक्ति से गति कर रहा है। कोई भी लोक उसके नियम को नही तोड़ सकता, सब नियम-पूर्वक गति कर रहे है। इसी नियम के कारण ज्योतिष बता सकता है कि सहस्र वर्ष के बाद अमुक तिथि को ग्रहण होगा और वह होता है। जिस ब्रह्म के सम्बन्ध मे नचिकेता तूने प्रश्न किया था वह ब्रह्म यही है।

प्रश्न—इस श्रुति में तो यह बताया है कि कोई भी परमात्मा के नियम को तोड़ नही सकता। परन्तु हम देखते हैं कि मनुष्य रात दिन पाप करते है। जिससे साफ ज़ाहिर है कि यदि परमात्मा के नियम के विरुद्ध न किया जावे, तो वह पाप कहला ही नही सकता। फिर श्रुति का कहना किस प्रकार सत्य हो सकता है ?

उत्तर—एक परमात्मा के नियम मे, दूसरे परमात्मा की आज्ञा। परमात्मा के नियम को कोई नहीं तोड़ सकता। यथा परमात्मा का नियम है कि आँख से देखे, कान से सुनें नाक से सूंघे। कोई नाक से सुन नही सकता, कान से देख नहीं

सकता, आँख से सूंघ नहीं सकता। परमात्मा का नियम है कि आग ऊपर की ओर चले, कोई मनुष्य आग की लपट नीचे की ओर नहीं चला सकता। सूर्य चन्द्रमा को परिवर्तन नहीं कर सकता। यथा शीतकाल में रात्रि बड़ी और दिवस छोटा है, कोई दिन को बड़ा और रात को छोटी नहीं कर सकता। जब पछवा चलती है, उसको पुरवा नहीं कर सकता। निदान परमात्मा के नियमों के तोड़ने में कोई समर्थ नही। आज्ञा तोड़ने में दंड मिलता है। आज्ञानुकूल कर्म करने या न करने में जीव स्वतन्त्र है। यदि आज्ञानुकूल कर्म करते हैं, तो सुख प्राप्त होता है, यदि नही करते तो दुःख पाते हैं।

प्रश्न—ईश्वर जीवों को आज्ञा मानने में लाचार क्यों नहीं करता ?

उत्तर—आज्ञा के मानने, न मानने में जीवों की ही लाभ हानि है। इस कारण इसमें कुल जीव स्वतन्त्र है। ईश्वर के न्याय और दया इस बात को जिसमें वह स्वतन्त्र हों लाचार करना अन्याय ख्याल करते हैं।

मंत्र—अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपंरूपं प्रतिरूपो बभूव। एकस्तथा शर्वभूतान्तरात्मा रूपंरूपं प्रतिरूपो बहिश्च ॥ ६ । ६५ ॥

(शब्दार्थ) अग्निः=आग। यथा=जैसे। एकः=एक है। भुवनम्=उत्पन्न हुई, संयोग वस्तुओं में। प्रविष्ट=प्रवेश होकर। रूपरूपम्=प्रत्येक रूप के साथ। प्रतिरूपः=उस ही रूपवाला। बभूव=होती है। एकः=एक। तथा=ऐसे ही। सर्वभूतान्तरात्मा=सम्पूर्ण वस्तुओं के अन्दर व्यापक होनेवाला आत्मा है, अर्थात् ब्रह्म। रूपंरूपम्=प्रत्येक रूप के

साथ। प्रतिरूपः=उस ही रूपवाला है। बहिश्च=और सब रूपों के बाहर भी है।

(अर्थ) जिस प्रकार प्रत्येक वस्तु के भीतर एक ही अग्नि मौजूद है और जिस आकार की वस्तु है, उसी आकार की मालूम होती है, क्योंकि अग्नि का अपना कोई आकार नहीं। प्रत्येक आकार में जो रूप दृष्टि पड़ता है, वह अग्नि के भीतर होने का प्रमाण देता है, अर्थात् आकार से रहित अग्नि प्रत्येक आकार को प्रकाशित न करनेवाली है। प्रत्येक वस्तु में व्यापक होनेवाला परमात्मा जिससे रहित कोई वस्तु ही नहीं, जो सूक्ष्म से सूक्ष्म में भी विद्यमान है। संयोग वस्तु से असंयोग वस्तु और आकाश सूक्ष्म है। अतः प्रत्येक संयोग वस्तु में आकाश विद्यमान है, कोई संयोग वस्तु नही, जिसमें आकाश न हो। जिसमें आकाश है, वह संयोग वस्तु है, असंयोग वस्तु नहीं।

परमात्मा असंयोग वस्तु और आकाश से भी अति सूक्ष्म है, इस कारण वह सूक्ष्म से सूक्ष्म वस्तु अर्थात् गुण के भीतर भी विद्यमान है। जिस प्रकार परमाणु में आकाश नही रह सकता, परन्तु उसके गुण विद्यमान होते हैं। और जहाँ गुण हों, वहाँ परमात्मा विद्यमान होगा। यह आवश्यक नही कि जहाँ आकाश हो वही परमात्मा हो। किन्तु वह ऐसे परमाणुओं में भी जिनमे आकाश नहीं रह सकता, विद्यमान है और बाहर भी है। परमात्मा प्रत्येक वस्तु के भीतर ही होता, तो वस्तुएँ परमात्मा से बड़ी होतीं, क्योंकि छोटी वस्तु के बड़ी वस्तु भीतर हो सकती है। अतः वह प्रत्येक वस्तु के बाहर भी है, वह सब की ओर है, उसकी ओर कोई नहीं। अर्थात् वह सब के भीतर बाहर है।

मंत्र—वायुर्यथैको भुवनं प्रविष्ठो रूपंरूपं प्रति रूपो बभूव । एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपंरूपं प्रति रूपो बहिश्च ॥ १० । ६६ ॥

(शब्दार्थ) वायुः=जिसमे उठाकर चलने की शक्ति है । यथा=जैसे । एकः=एक ही । भुवनम्=उत्पन्न होनेवाली वस्तुओं में । प्रविष्ट=प्रवेश करके । रूपंरूपम्=प्रत्येक रूप के साथ । प्रतिरूप=वैसे ही रूपवाली । बभूव=होती है । एकः=एक । तथा=ऐसे ही । सर्वभूतान्तरात्मा=सम्पूर्ण जीवों में रहनेवाला आत्मा । रूपरूपम्=प्रत्येक रूप के साथ । प्रतिरूप=उन्ही रूपवाला होता है । बाहश्च=बाहर भी है ।

(अर्थ) प्रत्येक संयुक्त वस्तु में हवा प्रवेश करके उस ही आकार की मालूम होती है । क्योंकि वायु का कोई आकार नहीं, वह जिस प्रकार की वस्तु में रहती है, वैसा ही उसका आकार होता है । यदि मकान आयताकार है, तो उसमें रहनेवाली वायु भी उसही आकार की होगी । यदि मकान वर्गक्षेत्र है, तो वायु भी वैसी होगी । यदि मकान गोल है, तो वायु भी गोल होगी । जैसे वायु प्रत्येक वस्तु के साथ उसही आकारवाली मालूम होती है । आत्मा परमात्मा की भी यही दशा है, कि वह जिस वस्तु में रहते है, उसही शक्ल में रहते है, क्योंकि उनकी अपनी कोई शक्ल नही । यदि वस्तु के भीतर ही होते, तो उसी आकारवाला कह सकते थे । परन्तु वह हवा प्रत्येक वस्तु से बाहर भी है, ऐसे ही आत्मा भी इस जगत् के भीतर बाहर होने से जगत् के आकारवाला नहीं कहला सकता ।

प्रश्न—परमात्मा प्रत्येक वस्तु के भीतर तो कहा जा सकता है, परन्तु बाहर कैसे मान सकते है ।

उत्तर—यदि परमात्मा जगत् के भीतर ही हो, तो वह सब से बड़ा ब्रह्म नही कहला सकता और न परमात्मा । क्योकि व्यापक और व्याप्य मे यही अन्तर होता है । व्याप्य सदा वस्तु के भीतर ही होता है, जैसे लोहे के टॉके मे पानी मौजूद हो और व्यापक वह है जो भीतर बाहर सब ओर हो जैसे लोहे के बरतन मे आग, वह भीतर बाहर दोनों ओर होगी, यदि आग दोनो ओर न हो तो बरतन बाहर से छूने में गरम न हो ।

प्रश्न—लोहे के बरतन से बाहर तो आकाश रहता है, इस कारण आग भीतर बाहर दोनों ओर रह सकती हैं । परन्तु आकाश के बाहर क्या वस्तु है जिसके भीतर रहने से परमात्मा को आकाश में व्यापक अर्थात् आकाश के भीतर बाहर रहनेवाला स्वीकार किया जावे ।

उत्तर—जो बरतन होगा वह बरतन में रहनेवाली वस्तु से बड़ा मानना पड़ेगा । लोहे के बरतन का प्रवेश-स्थान आकाश है, अतएव आकाश लोहे के बरतन से बड़ा हैं । परन्तु परमात्मा आकाश से भी बड़ा है, इसलिये वह आकाश से बाहर भी होगा । जिस प्रकार बरतन के भीतर बाहर दोनों ओर आकाश है । यदि कहा जावे कि आकाश किसके भीतर है ? तो सब वस्तुओं के भीतर बाहर कहेंगे । यदि कोई कहे वस्तुओ से बाहर आकाश किसमें रहता है । यदि कहो अपने में, तो यह उत्तर परमात्मा के लिये भी जो आकाश के बाहर हैं, दिया जा सकता है । परन्तु इस में आत्माश्रय दोष है,क्योंकि आप ही वह व्यापक और व्याप्य होता है , लेकिन व्यापक का व्याप्य से छोटा होना उचित है । और एक छोटा बड़ा

दोनों नहीं हो सकते इस कारण व्यापक और व्याप्य के नियम अनुभव तक हैं। परमात्मा सब से बड़ा है, इस कारण सब उसके अन्दर हैं, वह सब से सूक्ष्म होने के कारण, सब के अंदर है। न कोई उससे सूक्ष्म है और न कोई बड़ा है, जिसके अंदर वह हो।

मंत्र--सूर्यो यथा सर्वलोकस्य चक्षुर्न लिप्यते। चाक्षुषैर्बाह्यादोषैः एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्यः॥ ११। ६७॥

(शब्दार्थ) सूर्य = सूर्य। यथा = जैसे। सर्वलोकस्य = सब संसार का। चक्षुः = नेत्र। न = नहीं। लिप्यते = होता है। चक्षुषै = आँखों के। बाह्यः = बाहिरी। दोषैः = दोषो से अर्थात् जो दोष नेत्रों में होते है, वह सूर्य में नहीं आ सकते। एक = एक। तथा = तैसे ही। सर्वभूतान्तरात्मा = सब दुनियाँ के जीवो में रहनेवाला जीवात्मा। न = नहीं। लिप्यते = फँसता है। लोकदुःखेन = दुनियाँ के दुखो से। बाह्यः = बाहर है।

(अर्थ) जब यह कहा गया कि परमात्मा प्रत्येक वस्तु में व्यापक है, कोई वस्तु उससे खाली नही। तो उस समय यह शंका उत्पन्न हुई कि क्या वह विष्टा आदि अपवित्र वस्तुओं में भी विद्यमान है, या नहीं। यदि है, तो क्या उसको दुर्गंधादि से कष्ट न होता होगा। हम एकदम दुर्गंध-युक्त वस्तु के पास जाने से घबरा जाते है। वह इन अपवित्र और दुर्गंध युक्त वस्तुओ मे किस प्रकार रहता होगा। इसके उत्तर मे बताया कि जिस प्रकार सूर्य सम्पूर्ण जगत् की आँख अर्थात् देखने का कारण है, परन्तु आँखो का सहायक होने पर भी जो

बीमारी आदि दोष आँख में होते है, वह सूर्य में नहीं आते। इसी प्रकार परमात्मा सब जगत् में विद्यमान है, परन्तु संसार के दुःखो से लिप्त नहीं होता। और जो कुछ संसार में दोष हैं वह स्थूल है। अतः स्थूल वस्तु सूक्ष्म वस्तु से बाहर रह सकती है, भीतर प्रवेश नहीं कर सकती। जब भीतर प्रविष्ट न हो, तो क्या हानिकर हो सकती है। निस्संदेह परमात्मा हर बुरी से बुरी वस्तु में भी सर्वव्यापक होने से विद्यमान है, परंतु इस नियम के कारण से कि स्थूल वस्तु में सूक्ष्म के गुण जा सकते हैं, क्योंकि गुण और गुणी का समवाय सम्बंध है, जहाँ गुणी जावेगा, वहाँ गुण जावेगा। कोई गुण अपने गुणी को छोड़कर जा नही सकता। यह नियम है कि स्थूल द्रव्य सूक्ष्म द्रव्य में प्रविष्ट नही हो सकता। अत. उसके गुण भी वहाँ नहीं जा सकते। पानी में आग प्रवेश करके पानी को गरम कर सकती है, परन्तु आग मे पानी प्रवेश करके आग को ठंढा नहीं कर सकता। इसी प्रकार पृथिवी आदि स्थूल वस्तु के गुण परमात्मा के भीतर नही जा सकते और न स्थूल पदार्थ का प्रभाव सूक्ष्म पर होता है। इसलिये सम्पूर्ण जगत् के भीतर रहता हुआ भी परमात्मा जगत् के दुःखों से युक्त नहीं हो सकता।

मंत्र--एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा एकं रूपं बहुधा यः करोति। तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम्॥१२।६८॥

(शब्दार्थ) एकः = वह परमात्मा एक है। वशी = व्यापक है। सर्वभूतान्तरात्मा = सब वस्तुओं मे रहनेवाला अर्थात् व्यापक है। एकम् = एक जगत् के कारण। रूपम् = रूप को। बहुधा = बहुत प्रकार से। यः = जो। करोति = करता है।

तम् = उस। आत्मस्थम् = आत्मा में रहनेवाले को। यः = जो। अनुपश्यन्ति = अनुभव करते या भीतर देखते हैं। धीरा = जीवात्मा बुद्धिमान् पुरुष। तेषाम् = उन पुरुषों को। सुखम् = सुख। शाश्वतम् = कायम रहनेवाला। न = नहीं। इतरेषाम् = अन्य को।

(अर्थ) यह वह श्रुति है, जो सब मतों को एक करके परमात्मा की पूजा में लगाती है। जो युक्ति पूर्वक अद्वैतवाद का उपदेश करती है। सांसारिक मतों में केवल आठ झगड़े हैं, जिनको दूर करके यह श्रुति सब को एक करती है ; वह आठ झगड़े यह है- (१) बहुत से लोग कहते है कि जगत् ईश्वर है, बहुत से कहते है नहीं, यह आस्तिकों और नास्तिकों का झगड़ा है। (२) दूसरा झगड़ा यह है कि ईश्वर एक है या अनेक हैं, बहुत एक मानते हैं, बहुतेरे तीन से लेकर २४ तक मानते है। यह दूसरा झगड़ा अद्वैतवादी और द्वैतवादियों का है। (३) तीसरा झगड़ा कि ईश्वर कहाँ है, कोई चौथे आसमान पर, सातवें आसमान पर, बैकुंठ, क्षीरसागर, गोलोक, ब्रह्मलोक, कैलाश, मोक्षशिला आदि यह ईश्वर के स्थान का झगड़ा एक देशी माननेवालों मे है। (४) चौथा झगड़ा कि ईश्वर कर्मों का फल किस प्रकार देता है, कोई कहता है कि ईश्वर कर्मों का फल देता ही नहीं, कोई कहता है, चित्रगुप्त वही लिखता रहता है, कोई मुनकरोनकीर दो फ़रिश्ते मानता है, यह झगड़ा कर्म का फल देने मे पड़ा हुआ है। (५) पंचम झगड़ा कि ईश्वर ने जगत् को किस वस्तु से उत्पन्न किया, कोई कहता है कि ईश्वर ने उत्पन्न ही नहीं किया, कोई कहता है कि कुन के कहने से उत्पन्न हो गया, कोई कहता है प्रकृति से उत्पन्न हुआ, इस पर भी बहुत झगड़े हैं। (६) छठा झगड़ा है, जीव, ब्रह्म में भेद है, अभेद कोई कहता है, केवलाद्वैत, विशिष्टाद्वैत, द्वैता-

द्वैत, आदि से मानता है। (७) सप्तम झगड़ा यह है अनादि पदार्थ कितने है, कोई एक, कोई तीन, निदान ७८ तक मानने-वाले मिलते हैं, बहुत से कुछ पदार्थों को अनादि मानते हैं। (८) अष्टम विचार यह है कि मुक्ति किस प्रकार होती है, कोई ज्ञान से, कोई स्नान से, कोई कफ्फारा से, कोई शफ़ाअत से। इन झगड़ों का श्रुति ने निर्णय कर दिया है। प्रथम झगड़े का उत्तर दिया है, कि जगत्कर्ता ईश्वर एक है। एक कहने से दो प्रश्नों का उत्तर हो गया। "नहीं" का उत्तर 'है", शब्द से और "बहुतों" का उत्तर एक से। अब प्रश्न हुआ कि यदि एक है, तो कारण क्या है? उत्तर मिला कि व्यापक होने से सर्वव्यापक बहुत हो ही नहीं सकते। क्योंकि दो सर्वव्यापक स्वीकार किये जावें, तो यह असम्भव है कि यह नियम सूक्ष्म, सूक्ष्म और स्थूल में हो सकता है, या छोटे बड़े में। बराबरी में छुटाई बड़ाई नहीं।

यदि आधे-आधे व्यापक स्वीकार किये जावें, तो वह सर्वव्यापक नहीं। जब सर्वव्यापक कहा, तो प्रश्न उत्पन्न हुआ कि सर्वत्र किस प्रकार है और उसके होने का क्या प्रमाण है। उत्तर मिला, सब के भीतर आत्मा की भाँति है। जिस प्रकार हमारे शरीर के नियम के अनुकूल गति जीवात्मा के विद्यमान होने का क्या प्रमाण है। इसी प्रकार संसार के भीतर जो सूर्य, चन्द्र पृथ्वी, तारे नियम-पूर्वक गति कर रहे हैं, जिस नियम के गणित को जानने से प्रथम बता देते है कि अमुक अमुक मास मे अमुक नक्षत्र अमुक स्थान पर होगा। यह नियम पूर्वक गति परमात्मा की सत्ता का प्रमाण दे रही है। अतः सब में व्यापक परमात्मा ही सब के कर्मों का फल देते हैं, विना कर्म-फल देनेवाले के तो कर्म-फल हो ही नहीं सकता।

प्रश्न—क्यों न मान ले चित्रगुप्त हिसाब लिखता है, अथवा मुनकरोनकीर लिखते है।

उत्तर—किसी मुंशी, नायब, एजंट का होना एक देशी होने के कारण सम्भव हो सकता है। बताओ अनन्त परमात्मा कहाँ नहीं, जहाँ उसका एजंट, पैग़म्बर, रहकर काम करे। यह सब तो एक देशी मानने के कारण से हुए। परमात्मा अनन्त है, इसलिये इनकी आवश्यकता नहीं। लिखना, भूल की बीमारी की चिकित्सा है। यदि परमात्मा मे भूल होती तो उसके एजंट या मंत्री या फरिश्ते या चित्रगुप्त हिसाब लिखते। जब उसमें भूल हो नहीं, तो लेखक की क्या आवश्यकता है। पंचम प्रश्न के उत्तर में कहा कि वह प्रकृति से जगत् को रचता है। बहुत से लोग कहेंगे, यह क्यों न मान लिया जावे कि उसने कुन कहा कि जगत् पैदा होगया। अब प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि कुन किससे कहा। सामने जब तक कोई न हो, तो किससे कहे। बहुत से मनुष्य कहेंगे कि यह क्यों न मान लिया जावे कि जगत् ऐसा ही अनादि चला आता है। इसका उत्तर यह है कि कोई विकारवाली वस्तु अनादि हो नहीं सकती। छठे प्रश्न के उत्तर में कि जीव और ब्रह्म म भेद है, जीव के भीतर भी ब्रह्म व्यापक है, वह आत्मा मे रहनेवाला परमात्मा है। सप्तम प्रश्न के उत्तर में कहा कि तीन पदार्थ अनादि हैं, एक देखनेवाला जीवात्मा, जिसको धीर कहा गया। दूसरे जिसको देखता है अर्थात् प्रकृति। तीसरे जिसको उसके भीतर देखता है अर्थात् ब्रह्म, जीव, ब्रह्म-प्रकृति यह तीन पदार्थ अनादि हैं। आठवें प्रश्न के उत्तर में कि मुक्ति किसको होती है। कहते हैं कि जो ईश्वर को एक सारे जगत् में व्यापक अर्थात् अनन्त सब का अंतर्यामी, कर्मों का फलदाता प्रकृति से जगत् के रचयिता,

जीव ब्रह्म का भेद तीन पदार्थ अनादि मानते हैं, उन्हीं की मुक्ति होती है, अन्य की नहीं।

मंत्र—नित्योऽनित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां योविद्धाति कामान् । तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषाम् शान्तिः शाश्वती नेतरेषाम् ॥ १३ । ६६ ॥

(शब्दार्थ) नित्यः=एक रस रहनेवाला। नित्यानाम्=नित्य रहनेवालो में। चेतनः=ज्ञानवाला है। चेतनानाम्=ज्ञान वालों मे भी। एकः=एक। बहूनाम्=बहुतों के। यः=जो विदधाति=देता है। कामान्=आवश्यकताओं को। तम्=उस। आत्मस्थम्=आत्मा में रहनेवालों को। यः=जो। अनुपश्यन्ति=अनुभव करने। धीराः=बुद्धिमान् जीव। तेषाम्=उन्हे। शांतिः=शांति। शाश्वती=नियत रहनेवाली मिलती है। न=नहीं। इतरेषाम्=दूसरों को।

(अर्थ) जो नित्य पदार्थों में नित्य है, क्योंकि प्रकृति में विकार होते है, इसलिये उसको अवस्था उत्पन्न होती है। जीव को योनियो में जाना पड़ता है, जिसके कारण से उसके साथ जन्म का शब्द आ जाता है। परन्तु परमात्मा एक रस है, न उसमें विकार है, न अवस्था। इसलिये वह नित्यों में भी नित्य है, और वह चेतन्यों अर्थात् ज्ञानवालों में भी ज्ञानी है अर्थात् सर्वज्ञ है। दूसरों में अल्पज्ञता के कारण किसी वस्तु के न जानने से अज्ञान का शब्द आ सकता है। परन्तु वह सर्वज्ञ है, अतः वह ज्ञानवालों में भी सर्वोत्तम ज्ञानवाला है। वह एक है, परन्तु सब जीवों की आवश्यकता को पूर्ण करता है। अर्थात्

(अर्थ) जब कि सम्पूर्ण मनुष्य उस सुख स्वरूप परमात्मा को किस प्रकार से यह है, ऐसा संकेत करके कहा नहीं जा सकता। ऐसा मानने में अन्यों को यह कहते हुए कि यह ब्रह्म नहीं, वह ब्रह्म नहीं, इस प्रकार से प्रकाशित करते हैं। क्योंकि ब्रह्म सब से अधिक सूक्ष्म है, उसके प्रत्यक्ष करने को ऐसा कोई कारण नहीं कि जिससे उसको बता सके। नचिकेता ने कहा कि ऐसी दशा में उसको मैं किस प्रकार जान सकूं कि प्रकाश का साधन है, जिससे सब पदार्थ प्रकाशित होते है और वह स्वयम् प्रकाशित हो रहा है। वह क्या वस्तु है, ऐसा मुझे ज्ञान किस प्रकार हो। उसके उत्तर में आचार्य कहते है।

मंत्र—न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमाविद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः। तमेव भान्त मनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ॥ १५ । १०१ ॥

(शब्दार्थ) न=नही। तत्र=उस ब्रह्म मे। सूर्य=सूर्य। भाति=प्रकाश करता। न=नही। चन्द्र=चन्द्रमा। तारकं= तारे न=नही। इमाः=यह। विद्युत=बिजुली। अयम्=यह। अग्निः=अग्नि। तमेव=उसी के। भान्तम्=प्रकाश से अनुभाति= प्रकाशित होता है। सर्वम्=सब सूर्य, चन्द्र, तारे आदि। तस्य=उसके। भासा=प्रकाश से। सर्वम्=सब कुछ। इदम्= यह जगत्। विभाति=प्रत्यक्ष प्रकाशित होता है।

(अर्थ) परमात्मा के दिखाने को सूर्य के प्रकाश की आवश्यकता नहीं, क्योंकि सूर्य का प्रकाश स्थूल होने से आत्मा के भीतर जा ही नहीं सकता और परमात्मा का दर्शन आत्मा में

होगा। जब सूर्य का प्रकाश आत्मा के भीतर नहीं दिखला सकता, तो परमात्मा कैसे दिखला सकता है। चन्द्रमा का प्रकाश भी उस स्थान में काम नहीं देता, क्योंकि वह भी आत्मा से स्थूल है। तारों की भी यही दशा है। विद्युत् का प्रकाश भी परमात्मा को दिखा नहीं सकता, फिर अग्नि के प्रकाश से कैसे देख सकते हैं। उसी परमात्मा के प्रकाश को लेकर यह सब चन्द्र, सूर्य, तारे और विद्युत् प्रकाशित होते हैं। यदि परमात्मा इनको प्रकाश न दे, तो यह कुछ भी प्रकाश नहीं कर सकते। इनमें जो कुछ प्रकाश है, वह इनका अपना नहीं, किन्तु परमात्मा का दिया हुआ है। जैसे प्रत्येक आत्मा जानता है कि लोहे मे स्वाभाविक गति नहीं। घड़ीसाज ने लोहे के पुरज़े बनाकर उनकी घड़ी बना दी और उसको चाबी देकर चला दिया। मूर्खों के विचार में तो घड़ी अपने स्वभाव से चल रही है, परन्तु बुद्धिमान् और विद्वान् जानते है कि घड़ी में जो गति है, वह घड़ीसाज़ की दी हुई गति है। जितनी देर तक उस चाबी का प्रभाव रहेगा, घड़ी चलती रहेगी। परन्तु उस नैमित्तिक प्रभाव को जो घड़ीकर्ता ने चाबी के द्वारा घड़ी में प्रविष्ट किया है। जिस समय पृथक् कर लिया जावे, तो घटिका वैसी की वैसी निर्गति लोहे की अवस्था में मौजूद होगी। इसी प्रकार जितने लोक हैं, सब परमात्मा की बनाई घड़ियाँ है, जो उसके नियम के अनुकूल चल रही हैं, स्वाभाविक किसी भी लोक में चलने की शक्ति नहीं। जितना प्रभाव जिस लोक में उस पूर्ण शिल्पकार ने रक्खा है, उतना ही वह लोक काम दे रहा है। यमाचार्य नचिकेता को बताते हैं कि जो कुछ प्रकाश है, वह सब परमात्मा का प्रकाश है। जब वह इस सब प्रकाश को देनेवाला है, तो उस प्रकाश से हम उसको कैसे देख सकते

है। हाँ इस प्रकाश के तत्त्व पर विचार करने से तो मालूम हो सकता है कि जिससे यह प्रकाश आया है, वह परमात्मा है। जैसे घड़ी को चलते देखकर और उसमें लोहा आदि निर्गति वस्तुओं को देखकर समझदार आदमी समझ सकता है कि उसको किसी बलवान् ने चलाया है। क्योंकि लोहे में चलने की शक्ति नहीं, चाहे वहाँ पर घड़ीकर्त्ता दृष्टि न आये, परन्तु घड़ी का काम उसकी सत्ता को प्रकाश करता है।

प्रश्न—क्या परमात्मा जीवात्मा के भीतर ही दृष्टिगत होता है, बाहर प्रकृति में दृष्टि नहीं आता। यदि मालूम नहीं होता, तो होने का क्या प्रमाण ?

उत्तर—परमात्मा प्रकृति में भी है, जिसका प्रमाण प्रकृति में नियमानुकूल संयोग तथा वियोग होता है। यद्यपि संयोग वियोग दो विपरीत गुण हैं, जो किसी एक वस्तु के स्वाभाविक गुण नहीं हो सकते, अतः वह नैमित्तिक ही मानने पड़ते हैं। और कोई वस्तु ऐसी नहीं, जो परमाणुओं को पकड़ कर संयुक्त अथवा वियुक्त कर सके और न पकड़ने का कोई शस्त्र दृष्टि पड़ता है। सुतराम वह चलनेवाला उसके भीतर ही मानना पड़ता है। क्योंकि गति दो ही प्रकार से आ सकती है। या तो प्राणादि अंदर से दें, या कोई बाहर से खींचे, अतः मानना पड़ता है कि गति भीतर से आती है। परमाणु में आकाश आदि के न होने से प्राणादि रह नहीं सकते। अतः परमात्मा ही से मानना पड़ता है। प्रकृति के मैला होने से उसके भीतर रहनेवाले परमात्मा का दर्शन नहीं हो सकता। जैसे सूर्य का प्रतिबिम्ब कुल पृथिवी पर पड़ता है, परन्तु देखा उसी स्थान में जाता है, जहाँ निर्मल जल या दर्पणादि हो। अतः परमात्मा के दर्शन आत्मा में ही हो सकते हैं।

पंचम वल्ली समाप्तः।

अथ षष्टम् वल्ली

मंत्र—ऊर्ध्वमूलोऽवाक्शाख एषोऽश्वत्थः सना-तनः। तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते। तस्मिंल्लोकाः श्रिताः सर्वे तदु नात्येति कश्चन॥ एतद्वैतत्॥ १। १०२॥

(शब्दार्थ) ऊर्ध्वमूल=ऊपर है जड़ जिसकी। आवाक् शाखः=नीचे की ओर जिसकी शाखा है। एषः=यह मनुष्य शरीर जो दीखता है। अश्वात्थः=पीपल के पेड़ की भाँति। सनातन=नित्य रहनवाला। तदेव=वही। शुक्रम्=शुद्ध जगत् का कारण। तत्=वह। ब्रह्म=सब से बड़ा। तदेव= वही। अमृतम्=नाश रहित। उच्यते=कहलाता है। तस्मिन्=उसी ब्रह्म मे। लोका=लोक। आश्रिताः=ब्रह्म ही सब लोकों का आधार है। सर्वे=सब। तत् उ=उस ब्रह्म को। न=नही। अत्येति=उल्लंघन करता। कश्चन=कोई।

(अर्थ) यह मनुष्य का शरीर ऐसा वृक्ष है, जिसकी जड़ ऊपर को होती है और शाखा नीचे को ओर है। और यह वृक्ष सदा से सब वृक्षो के विपरीत ऐसा ही बनता है। इस शरीर का कारण वही ब्रह्म है, जो सब से बड़ा होने पर भी नाश रहित है, जिसके आधार से यह सम्पूर्ण जगत् स्थापित है। कोई इसके नियम को तोड़ नहीं सकता।

प्रश्न—इस वृक्ष अर्थात् शरीर की जड़ क्या है, जो ऊपर को है?

उत्तर—शिर इस वृक्ष को जड़ है और उदरादि इस

वृक्ष का मोटा तना है, जो टाँगों से दो भागो में विभाजित होता है । पाँव और उँगलियाँ इत्यादि और हाथ सब इस की शाखा हैं ।

प्रश्न—शरीर को वृक्ष और शिर को जड़ और शेष भाग को शाखा नाम क्यों रक्खा ?

उत्तर—शरीर वृक्ष की भाँति सूखनेवाला है । जिस प्रकार वृक्ष का नाश होता है। इसी प्रकार शरीर का भी नाश होता है । यदि शिर को नीचे करके (शरीर) खड़ा किया जावे, तो यह शरीर वृक्षानुकुल ही प्रतीत होगा। अतिरिक्त इसके रस वृक्ष में जड़ से पहुँचा करता है, इस शरीर को भी शिर के द्वारा भोजन पहुँचता है, इस कारण शिर ही इस शरीर की मूल है । दूसरे प्रत्येक कर्म जो किया जाता है, उसका मूल ज्ञान है और कर्म शाखा है। विना ज्ञान के कोई कर्म ठीक प्रकार हो नहीं सकता। और सब ज्ञानेन्द्रियाँ शिर मे हैं। इस कारण जिस कर्म के लिये यह शरीर बना है, उसका मूल शिर में है । और शेष कर्मेन्द्रियाँ जो शाखा रूप हैं, शरीर के नीचे के भागो मे है। इस प्रकार और बहुत से कारण है, जिनके कारण शिर को मूल और शेष शरीर के भाग शाखा कहला सकते है ।

मंत्र—यदिदं किंच जगत्सर्वं प्राण एजति निःसृतम् । महद्भयं वज्र मुद्यतं य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥ २ । १०३ ॥

(शब्दार्थ) यद्इदम्=यह जो प्रत्यक्ष देख पड़ता है। किं=बहुत कम । जगत्=जो उत्पन्न और नाशवाला है। सर्वम्=सब । प्राणेः=प्राण मे गति होने से। एजति=अपने

कर्म के लिये हरकत करता है। निःसृतम्=उत्पन्न हुआ। महद्भयम्=भयंकर। वज्रम्=वज्र। उद्यतम्=जन्म-मरण का कारण है। यः=जो मनुष्य। एतद्=इस बात को। विदुः=जानते हैं। अमृताः=मुक्ति प्राप्त करनेवाले। ते=वह। भवन्ति=होते हैं।

(अर्थ) यह जगत् जो परमात्मा से उत्पन्न हुआ है और जो परमात्मा से अत्यन्त छोटा है, वह जीवों के जीवन का कारण परमात्मा की सत्ता के कारण से है। और उसी के कारण सम्पूर्ण जगत् में गति-शक्ति पाई जाती है। जिस प्रकार घड़ी में जो चाल दृष्टिगोचर होती है, प्रत्यक्ष में तो वह चाल घड़ी के पुरजो के एक दूसरे के सम्बन्ध से मालूम होती है। वास्तव में वह चाल घड़ीकर्ता की गति के कारण है, जो वह चाबी देकर और घड़ी के पुरजो में नियम स्थापन करके देता है, उसी से होती है। इसी प्रकार जो गति-शक्ति संसार में दृष्टि आती है, वह जड़ और स्थिर प्रकृति के कारण से नहीं, किंतु परमात्मा के कारण से है। यह जगत् महा भयंकर है जिस प्रकार वज्रघात से चोट लगती है, इसी प्रकार जगत् के कार्यों में भय बना रहता है। बलहीनों को बलवानों से भय होता है। धनी पुरुषो का तस्कर बदमाश और राजा से भय होता है। छोटे राजाओं को बड़े राजा से डर लगता है और बड़े राजा को मृत्यु से भय होता है। सारांश यह कि संसार में कोई ऐसा जीव नहीं, जो भयभीत न हो। क्योंकि यह उत्पन्न होनेवाला शरीर नाश होनेवाला है और किसी बड़े से बड़े जीव अथवा राजा की शक्ति नहीं, जो इस शरीर को मौत से बचा सके। जो मनुष्य इस बात को जान जाते हैं कि इस संसार की प्रत्येक वस्तु अनित्य है और संसार के पदार्थों में मन का लगाना दुःख का कारण है।

केवल एक ईश्वर ही है, जिसकी उपासना से दुःख से बच सकते हैं। इस कारण वह जगत् से स्नेह त्याग कर परमात्मा के जानने का यत्न करते हैं। और जो परमात्मा को जानते हैं, वह मुक्त हो जाते है।

प्रश्न—क्या जगत् में जो गति-शक्ति है, वह स्वाभाविक नहीं। जहाँ साइन्स से पता लगता है, हरकत प्रकृति के भीतर से ही प्रकट होती है, कोई बाहर से गति देनेवाला दृष्टि नही पड़ता।

उत्तर—ईश्वर सब से सूक्ष्म होने के कारण सब के भीतर ही विद्यमान है। अतः सब के भीतर से जो गति दृष्टि आती है, वह ईश्वर के कारण से है। ईश्वर एक देशी और स्थूल नहीं, जो बाहर से हिलता हुआ दृष्टि पड़े। जिस प्रकार शरीर को चलानेवाला जीवात्मा भीतर से हिलाता है। इसी प्रकार परमात्मा न जीवात्मा गति देता हुआ दिखाई देता है।

प्रश्न—शरीर के भीतर जो चाल देखते हैं, वह लोहू की गति के कारण से है और जगत् में जो गति शक्ति दृष्टिगोचर होती है, वह आकर्षण के कारण से है। न कोई जीवात्मा है न परमात्मा है।

उत्तर—यदि शरीर के भीतर अकेली हरकत ही होती, तो कह सकते थे कि इस हरकत का कारण लोहू का वेग है। परंतु शरीर में गति के साथ ज्ञान भी पाया जाता है कि कोई ज्ञान के साथ हिलाता है। तीन प्रकार की गति जो इच्छा के कारण से पाई जाती है, वह लोहू के वेग से नही हो सकती। अर्थात् करना न करना, उलटा करना। जिस प्रकार इंजन मे गति स्टीम के कारण से होती है, परन्तु वह एक ही प्रकार की हो सकती है। परन्तु ड्राइवर की विद्यमानता से वह तीन प्रकार

की हो जाती है। यदि इंजन में ड्राइवर विद्यमान न हो, तो तीन प्रकार की गति नहीं हो सकती। इसी प्रकार शरीर के भीतर तीन प्रकार की गति जीवात्मा की विद्यमानता से होती है। यदि जगत् में आकर्षण से गति होती, तो वह एक ही प्रकार की होती। जगत् में जो तीन प्रकार की गति हैं अर्थात् उत्पन्न होना, स्थिर रहना और नाश होना, यह परमात्मा की सत्ता का प्रमाण देता है। आकर्षण तो परमात्मा के नियम से उत्पन्न होता है, जैसे घड़ी के पुर्ज़ो में जो आकर्षण है, वह लोहे के कारण से नही, किन्तु वह घड़ीकर्ता के लोहे को ऐसा बनाने के कारण से है। परमाणुओं में तो आकर्षण मानकर कोई संयोग कर ही नही सकता।

क्योंकि समान शक्ति रखनेवाले पदार्थ, एक दूसरे को अपनी ओर खींचते हैं, तो संयोग नहीं हो सकता। जब बड़ी वस्तु छोटी को अपनी ओर खीचे, तो संयोग हो सकता है। सो परमाणुओ को इस नियम से मिलना कि उनमे आकर्षण शक्ति उत्पन्न हो जावे। अतिरिक्त परमात्मा की शक्ति के सम्भव नहीं। जो मनुष्य बिना ईश्वर के जगत् के नियम को चलाना चाहते है वह बहुत थोड़े विचार के मनुष्य है। नहीं तो बुद्धिमान् जानता है कि जिस घड़ी में जो हरकत इन्ति-ज़ामी किसी खास समय तक रहनेवाली है, जिससे पहले बता सकते हैं कि अमुक समय यह सुई इस स्थान पर होगी, और अमुक सुई इस स्थान पर। यह सब घड़ीकर्ता के नियम से चाबी देने के कारण से ह। ऐसे जगत् के सब तारे जो नियम के भीतर चक्कर लगाते है। जिससे विद्वान् बता सकता है कि अमुक दिवस और समय मे सूर्य-ग्रहण होगा, अमुक समय में चन्द्र-ग्रहण होगा। निदान, जिस प्रकार इंजन की स्टीम के

अनुकूल तीन प्रकार की चाल ड्राइवर की सत्ता का प्रमाण है, अकेली स्टीम से होना सम्भव नहीं। इसी प्रकार शरीर में तीन प्रकार की चाल जीव की सत्ता का प्रमाण है। अकेले प्राणों से अथवा लोहू से यह गति नहीं हो सकती। इसी प्रकार जगत् में नियमानुकूल जो कार्य हो रहा है। जिसका बँधा हुआ प्रत्येक लोक कार्य कर रहा है, वह परमात्मा की हरकत का प्रमाण है। इसको अगली श्रुति में और भी दर्शाते हैं।

मंत्र--भयादस्याग्निस्तपति भयात्तपति सूर्यः। भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः ॥ ३। १०४ ॥

(शब्दार्थ) भयात्=भय से। अस्य=इस ब्रह्म के। अग्निः=आग। तपति=जलाने के नियम का पालन करती या ऊपर की ओर को चलती है। भयात्=भय से। तपति=जलाता है, या प्रकाश देता है, या हरकत करता है। सूर्यः=सूर्य। भयात्=भय से या नियम से। इन्द्रः=विद्युत का काम करती है। च=और। वायु=वायु चलती है। च=और। मृत्युः=मौत। धावति=दौड़ता है। पञ्चमः=पाँचवे।

(अर्थ) परमात्मा के नियम से पंच पदार्थ गति करते हैं। कोई उनको इस नियम से अलग नहीं कर सकता। परन्तु परमात्मा का भय ऐसा बली है कि परमात्मा के नियम से अग्नि की लपट ऊपर को चलती है। यदि लाखों मनुष्य यत्न करें तो वह लपट नीचे की ओर नहीं चल सकती। परमात्मा के भीतर सूर्य काम करता है। जिस समय सूर्य दस बजे का हो, यदि करोड़ आदमी या जगत् के बड़े-बड़े महाराजे यत्न

करे तो वह सूर्य ११ बजे या १२ बजे नहीं आ सकता। परमात्मा के नियम में विद्युत् चलती है। जो बड़ी से बड़ी वस्तु को फोड़कर निकल जाती है। कोई इसको रोककर उसको गति को बदल नही सकता। परमात्मा के नियम में वायु चलती है, जिस समय पूर्व की ओर चल रही हो। कोई उसको पच्छिम की ओर नही फेर सकता, परमात्मा के नियम में मौत काम करती है, जगत् के बड़े बड़े राजा, लाखो सेनाओं, गढ़ो, तोपों, डायनामेन्ट के गोलो की विद्यमानता में एक क्षण के लिये भी मौत को रोक नही सकते। मौत परमात्मा का ऐसा वारन्ट है कि सब से बड़े महाराजाओ को भी पकड़ ले जाता है। निदान परमात्मा के नियम को रोकने की शक्ति किसी में नहीं। यो तो परमात्मा के विरोधी बहुत से नास्तिक हो चुके हैं, अब विद्यमान भी है, और होगे भी, परन्तु यह शक्ति-किसी में नहीं कि परमात्मा के वारन्ट मौत से बच सके। सारी शक्ति और बल परमात्मा के नियम के भीतर ही काम दे सकता है। उसके नियम के विरुद्ध चलने से सब नष्ट हो जाता है।

प्रश्न—श्रुति ने बताया है कि बिजली परमात्मा के नियम में चलती है। परन्तु बहुत से मनुष्य है, जो पदार्थ विद्या के बल से विद्युत् से काम लेते हैं। उसको तार इत्यादि में बन्द करके निज नियम में चलाते हैं।

उत्तर—जिन पदार्थों में विद्युत् को कायम रखने की शक्ति परमात्मा ने रक्खी है, उससे वह काम लेते हैं। इसलिये वह परमात्मा के नियम के भीतर काम करते है, बाहर नही।

प्रश्न—बहुत से मनुष्य शस्त्र से किसी को मार देते है, यद्यपि उस समय उसकी मौत नहीं।

उत्तर—जिस समय मौत न आई हो, उस समय कोई शस्त्र काम नहीं देता। इसकी शाक्षी महारानी विक्टोरिया के जीवन से मिलती है, कि सैकड़ों लोगों ने गोलियाँ चलाईं, परन्तु एक भी न लगी। और फ्रांश के प्रेसीडेण्ट आदि एक ही गोली से मर गये।

मंत्र—इह चेदशकद्बोद्धुम्प्राक् शरीरस्य विस्रसः। ततः सर्गेषु लोकेषु शरीरत्वाय कल्पते ॥ ४ । १०५ ॥

(शब्दार्थ) इह=इस शरीर मे। चेत्=यदि मनुष्य। अशकत्=जान सके, सम्पूर्ण जगत् मे जो क्रिया हो रही है, वह सब ब्रह्म की शक्ति है। बाद्धुम्=जान। प्राक्=पहिले। शरीरस्य=शरीर के। विस्रसः=नाश होने के। ततः=इस ज्ञान से। सर्गेषु=जगत् के आरम्भ मे। लोकेषु=पृथ्वी आदि लोकों मे। शरीरत्वाय=शरीर के कामो मे। कल्पते= सामर्थ होता है।

(अर्थ) यदि मनुष्य में, इस जन्म में इस बात के जानने की योग्यता हो जावे कि सब जगत् में जो क्रिया (हरकत) हो रही है, वह ब्रह्म की शक्ति से हो रही है। क्योंकि वह प्रकृति स्वाभाविक क्रिया की दशा में नहीं मिल सकती। और न केवल स्थिर होने की दशा में मिल सकती है। इसलिए शरीर के नाश से पहले उसका ज्ञान लेना आवश्यक है। और जब तक मनुष्य उसको न जान जाय, तो उसका परिणाम यह होता है कि सृष्टि के आरम्भ में जब जगत् के बनाने का समय होता है और पृथ्वी आदि लोक बनते है, तो वह शरीर को धारण करता है। अर्थात् जो जान जाते है, वह तो मुक्त हो जाते हैं।

और जो नहीं जानते हैं, वह बार बार जन्म-मरण के चक्कर में घूमते हैं। वास्तव में मनुष्य का शरीर सृष्टि की अन्तिम (श्रेणी) सीढ़ी है। जो सब से नीचे पैदा होता है, और सब से पहले नाश होता है। यदि इस श्रेणी से मार्ग पर पहुंच गया, तो सफल हो गया। यदि गिर गया, तो नीचे मार्ग में जा पड़ा। इस कारण प्रत्येक मनुष्य को अवश्य विचार रखना चाहिये कि हम अन्तिम मार्ग पर आ पहुँचे हैं, जहाँ का थोड़ा सा आलस्य सब परिश्रम को निष्फल कर देगा। जितना भी शीघ्र सम्भव हो, परमात्मा का ज्ञान प्राप्त करना चाहिये। जितने प्राकृतिक पदार्थ है, वह न तो जीवात्मा के लिये कभी लाभकारी थे, न अब हैं, और न आगे होंगे। क्योंकि प्राकृतिक पदार्थों का प्रभाव आत्मा पर हो ही नहीं सकता, क्योंकि प्रकृति स्थूल और आत्मा सूक्ष्म है।

प्रश्न—सारे कर्म तो प्राकृतिक यन्त्रों से होते हैं फिर प्रकृति जीवात्मा के लिये क्यों लाभकारी नहीं।

उत्तर—कर्म का फल अन्तःकरण की शुद्धियाँ अपवित्र होती हैं। यदि कर्म बुरा किया जावेगा, तो मन पर अशुभ संस्कार पड़ेंगे, जिससे मन दूषित हो जावेगा। यदि कर्म शुभ और निष्काम होगा, तो मन शुद्ध हो जावेगा। यदि निष्काम और शुभ कर्म होंगे, तो संस्कार शुभ होंगे जिससे सांसारिक सुख होगा। कर्म से मुक्ति या आत्मा की उन्नति नहीं हो सकती। आत्मा की उन्नति केवल परमात्मा के ज्ञान और उपासना से होती है।

मन्त्र—यथाऽऽदर्शे तथाऽऽत्मनि यथा स्वप्ने तथा पितृलोके। यथाप्सु परीवददृशे तथा गंधर्व लोके छायातपयोरिव ब्रह्मलोके ॥ ५ । १०६ ॥

(शब्दार्थ) यथा=जैसे । आदर्शे=दर्पण में अपना मुख आदि देखता । तथा=वैसे ही । आत्मनि=शुद्ध निर्मल बुद्धि रूप अन्त करण में ध्यान योग से आत्मा देखता है। यथा= जैसे । स्वप्ने=स्वप्न अवस्था मे इन्द्रियो और वस्तु का सम्बन्ध होने पर भी पदार्थ प्रत्यक्ष जैसे दीखते वा सुन पड़ते है । तथा=वैसे । पितृलोके=ज्ञानी जनो के किये उपदेश में बँधे हुए ध्यान से आत्मा देखता । यथा=जैसे । आसु=जल मे । परीवदृदृशे=सब ओर से गोलाकार स्पष्ट अवयवों की प्रतीत के विना शरीर देखा जाता है । तथा=वैसे । गन्धर्व-लोके=गानेवालो ने किये, विज्ञान सम्बन्ध गान मे किये ध्यान से आत्मा देखा । छायातपयोरिव=जैसे छाया और घाम मे स्पष्ट भेद प्रतीत होता वैसे । ब्रह्मलोक=ब्रह्मांड मूर्द्धा मस्तक में किये निर्बीज, निर्विकल्प समाधि से बुद्धि और पुरुष और पुरुष का साफ भेद देख पड़ता है ।

(अर्थ) सब ध्यानों मे मूर्द्धा मे किया ध्यान ही सब से उत्तम है । वहाँ समाधि जहाँ ब्रह्मरूप आत्मा को स्पष्ट जान के मनुष्य मुक्त होता है ।

मंत्र--इन्द्रियाणां पृथग्भावमुदयास्तमयौ च यत् । पृथगुत्पद्यमानानां मत्वा धीरो न शोचति ॥ ६ । १०७ ॥

(शब्दार्थ) इन्द्रियाणां=आँख, नाक, कान इत्यादि ज्ञान इन्द्रियाँ और जिह्वा इत्यादि कर्म इन्द्रियों की । पृथग्भावम्= पृथक् सत्ता को अर्थात् यह जीवात्मा से पृथक् हैं, आत्मा नहीं । उदयास्तमयौ=उन्नति अवनति जन्म-मरण वाली । च=और । यत्=जो हैं अर्थात् इन्द्रिय उत्पन्न और नाश होती

है। पृथक्=अपने स्वरूप से पृथक्। उत्पद्यमानानां=पृथक् और उत्पन्न हुई वस्तु को। मत्वा=जान कर। धीरः=बुद्धिमान्। न=नही। शोचात=शोच करता है।

(अर्थ) जब तक मनुष्य इन्द्रियों को अपना स्वरूप जानता है, तब ही तक दुःख और शोक रहता है, क्योंकि इन्द्रियाँ उत्पन्न होने से विकारवाली हैं। जिस समय मनुष्य को यह विचार हो जाता है कि मैं जीवात्मा हूं, जो नित्य हूँ। और यह इन्द्रियाँ उत्पन्न और नाश होनेवाली हैं, यह मेरा स्वरूप किसी प्रकार नहीं हो सकता। अतः यह इन्द्रियाँ मेरे स्वरूप से पृथक् है। क्योंकि कोई उत्पन्न होनेवाली नित्य के स्वरूप में प्रविष्ट नही हो सकती। जब इन्द्रियाँ मुझ से पृथक् हैं, तो इनके विकारों से मेरी लाभ हानि हा क्या है। मैं नित्य हूं, मुझ मे तो कोई विकार नही, परन्तु यह शुद्ध और वह विकारवाली हैं। अतः मुझे अपने कर्तव्य का यथावत् पालन उचित है। इन्द्रियों के विकार में लिप्त होना नितान्त भूल है। निदान, वह शरीर और इन्द्रियों से निश्चिन्त हो जाता है नित्यात्मा की किसी प्रकार हानि नही हो सकती, क्योंकि समस्त क्लेश जन्म और मरण नाशवान् इन्द्रियों द्वारा ही है।

प्रश्न—इन्द्रियों को अपने स्वरूप से पृथक् किस प्रकार जान सकता है।

उत्तर—हम नित्यप्रति अपने जीवन मे दो अवस्थाओं का अवलोकन करते हैं। एक जागृतावस्था, इस अवस्था में इन्द्रियों को निज स्वरूप मानते है, तथा इनके विषयों को भोगते है। नेत्र से, सुन्दर रूप का अवलोकन करते हैं। श्रवण से, श्रेष्ठ शब्द सुनते हैं। नासिका से, सुगन्ध सूंघते हैं। रसना इन्द्रिय से, रस ग्रहण करते हैं। उस समय सम्पूर्ण क्लेश भी आ जाते

हैं। अर्थात् ईर्षा, द्वेष, तृष्णा, मैथुन इत्यादि और अन्य सुषुप्ति की अवस्था जिसमें कोई इन्द्रिय नहीं होती। तो उस समय किसी प्रकार का क्लेश और शोच नहीं होता। क्योंकि उस समय इन्द्रियाँ जो आत्मा के स्वरूप से पृथक् हैं। पृथक् होती हैं। उनसे आत्मा का सम्बन्ध नहीं होता। ईश्वरीय-नियम, इस उदाहरण से स्पष्ट कर दिया है कि जिस समय इन्द्रियों मे अहंकार होगा, अर्थात् जीव उनको मैं अथवा मेरा स्वीकार करेगा, तब सब प्रकार के क्लेश ग्रसित करेंगे। जहाँ उनके अहंकार का त्याग होगा, तो सब दुःख त्याग देंगे।

प्रश्न—इन्द्रियों के अनित्य और आत्मा के नित्य होने में क्या प्रमाण है?

उत्तर—इन्द्रियों में विकार है, जिससे उनकी शक्ति तारतम्य होती है और निर्विकार वाली से उत्पन्न होती है, क्योंकि षट्विकार हैं। प्रथम विकार उत्पन्न होना है, जन्म से ही वृद्धि हो सकती है, अन्य प्रकार से नही। और जीवात्मा विकारों से नितान्त शून्य है, अतः वह नित्य है।

प्रश्न—जीव की शक्ति में भी तारतम्य (कमी-वेशी) देखी जाती है। जिससे निश्चय होता है, यह भी उत्पन्न होनेवाला है।

उत्तर—चैतन्य की शक्ति यन्त्रों के साथ न्यूनाधिक विदित होती है, वास्तव में नहीं। दूरबीन के द्वारा नेत्र दूर की वस्तु देखते हैं। खुर्दबीन के द्वारा सूक्ष्म वस्तु देखते हैं। साधारण प्रकार से न सूक्ष्म दीखता है, न दूर। इससे आँख की शक्ति में कोई अन्तर नही आता, किन्तु यंत्रों में अन्तर है, और जीवात्मा अखंड है। इस कारण यंत्रों की तारतम्यता से कार्य में अन्तर आने से, वह विकारवाला नहीं कहला सकता।

मंत्र--इन्द्रियेभ्यः परं मनो मनसः सत्त्व-मुत्तमम् । सत्त्वादधि महानात्मा महतोऽव्यक्त मुत्तमम् ॥ ७ । १०८ ॥

(शब्दार्थ) इन्द्रियेभ्य=इन्द्रिय और इसके अर्थ से। परम्=सूक्ष्म है । मनः=मन से । मनसः=मन से। सत्त्वम्= बुद्धि । उत्तमम्=उत्तम है । सत्त्वात्=बुद्धि से । अधि= उत्तम या सूक्ष्म । महानात्मा=सृष्टि का मन है । महतः= सृष्टि के मन से । अव्यक्तम्=प्रकृति । उत्तमम्=उत्तम या सूक्ष्म है ।

(अर्थ) इन्द्रिय और विषयों से मन सूक्ष्म है । और मन से भी अधिक बुद्धि सूक्ष्म है, क्योंकि वह मन की प्रकृति है। और बुद्धि से सूक्ष्म ब्रह्मांड का मन है । और ब्रह्मांड के मन से सूक्ष्म प्रकृति है ।

प्रश्न -तुमने यहाँ मन के दो भेद किये हैं, एक शरीर का मन, दूसरे ब्रह्मांड का मन । यह विभाग किस प्रकार किया ?

उत्तर—एक स्थान पर छान्दोग्य ने मन का भोजन से बनना स्वीकार किया है। दूसरे सांख्य में मन का बनना प्रकृति से, जिसको महत् के नाम से कहा है । खुराक से बना हुआ मन छोटा और शरीर के भीतर हो सकता है , बाहर नहीं। और प्रकृति से बना हुआ मन, जिसके महापरिमाण वाला से, महत्त्व बन गया है अर्थात् जो ब्रह्मांड का मन होने से महत् नाम से युक्त है। परमात्मा को पुरुष कहते है, जिसका शरीर ब्रह्मांड कहला सकता है। इस ब्रह्मांड के शरीर में सांख्य-सिद्धान्तानुकूल जन्म के लिये अहंकार की

आवश्यकता है , और अहंकार मन का कार्य है। जब तक मन न हो, अहंकार हो नही सकता।

प्रश्न—ब्रह्म को अहंकार की क्या आवश्यकता है? ऐसा मानना ठीक नहीं।

उत्तर—बृहदारण्यकोपनिषद् मे बताया गया है कि इस सृष्टि से पहले ब्रह्म था, उसने आप को जाना कि मै ब्रह्म हूँ। जिसको लेकर आज कल के नवीन वेदान्ती यजुर्वेद का महा-वाक्य कहते हुए, जीवब्रह्म की एकता कहते हैं।

प्रश्न—क्या उपनिषद् ने अपनी ओर से ही लिख दिया, अथवा इसका मूल वेद से भी मिलता है।

उत्तर—यजुर्वेद अध्याय ४० के मन्त्र १७ में परमात्मा ने कहा है कि जो पुरुष सूर्य के भीतर भी प्रकाश करता है, वह मै हूं।

मंत्र—अव्यक्तात्तु परः पुरुषो व्यापकोऽलिङ्गः एव च। यज्ज्ञात्वा मुच्यते जन्तुरमृतत्वं च गच्छति ॥ ८। १०६ ॥

(शब्दार्थ) अव्यक्तात्=जगत के कारण प्रकृति से। तु=भी। परः=सूक्ष्म। पुरुष=परमात्मा है। व्यापकः=सब मे व्यापक अर्थात् सब के बाहर भीतर। अलिङ्गः=जो इन्द्रियो के विषयो से परे है। एव=भी। च=और। यत्=जिसको। ज्ञात्वा=जानकर। मुच्यते=छोड़ जाता है जन्तु=जीवात्मा। अमृतत्वं=अमृत पद को। च=और। गच्छति=जाता अर्थात् प्राप्त करता है।

(अर्थ) प्रकृति से सूक्ष्म परमात्मा है, और वह प्रकृति के

प्रत्येक परमाणु में व्यापक है। कोई वस्तु नहीं, जिसके भीतर बाहर परमात्मा विद्यमान न हो। वह सब से सूक्ष्म है, इस कारण उसका कोई चिन्ह इन्द्रियों से अनुभव नहीं हो सकता। केवल एक वही है, जिसके जानने से जीवात्मा मुक्ति प्राप्त कर सकता है, और अमृत अर्थात् मृत्यु-रहित अवस्था को प्राप्त करता है।

प्रश्न—मुक्ति को अमृत क्यों कहा? क्योंकि तुम मुक्ति से लौटना स्वीकार करते हो।

उत्तर—जीवात्मा की दो अवस्था हैं, एक वह जिसका परिणाम मौत होता है, जिसको मृत्यु कहा गया है। अर्थात् पुनर्जन्म के द्वारा शरीर में प्रवेश करना। दूसरे वह जिसका परिणाम जन्म है, मौत नहीं, जिसको अमृत कहा गया है। अर्थात् विना शरीर, भीतर रहनेवाले परमात्मा से जिसमें आनन्द प्राप्त किया जाता है, जिसको मुक्ति कहते हैं। यदि मुक्ति में शरीर होता, तो उसका परिणाम मौत होता। मुक्ति में प्राकृतिक शरीर नहीं होता, जिसके वियोग का नाम मौत हो, अतः उसका नाम अमृत रक्खा गया।

प्रश्न—बहुत से मनुष्य मुक्ति से लौटने से इनकार करते हैं, उनका कथन है, जिससे लौट आये, वह मुक्ति ही क्या है?

उत्तर—मुक्ति के अर्थ छूटना है, छूटता वह है जो पहले बँधा हो। बंधन के अर्थ बँधना है, बँधता वह है जो स्वतंत्र है। अतः यह शब्द ही बता रहे हैं कि मुक्ति बँधता है। यदि मुक्ति को बंधन न माना जावे, तो बंधन स्वाभाविक मानना पड़ेगा। इस कारण मुक्ति का होना असम्भव हो जावेगा। निदान, जो लोग मुक्ति से लौट आने को नहीं मानते, उन्होंने इस सिद्धांत का विचारा नहीं और शंकराचार्यादि मुक्ति से लौटना मानते हैं।

मंत्र—न सन्दृशे तिष्ठति रूपमस्य न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनम् । हृदा मनीषा मनसाभिक्लृप्तो य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥६।११०॥

(शब्दार्थ) न=नहीं । सन्दृशे=सामने । तिष्ठति=ठहरना, खड़ा होना । रूपम्=रूप । अस्य=उस ब्रह्म का । न=नहीं । चक्षुषा=नेत्र से । पश्यति=देखना । कश्चन=कोई मनुष्य । एनम्=उस ब्रह्म को । हृदा=राहे मे रहनेवाले । मनीषा= बुद्धि रूप । मनस =सत्यासत्य विचार शक्ति से । अभिक्लृप्त = प्रत्येक स्थान और दिशा से प्रकाशक परमात्मा जाना जा सकता है । य =जो मनुष्य । एतत्=इस परमात्मा को । विदुः=जान जाते है । अमृताः=मृत्यु रहित । ते वह पुरुष । भवन्ति=होते है ।

(अर्थ) किसी मनुष्य के नेत्रो के सम्मुख उस परमात्मा का कोई रंग और रूप दृष्टिगोचर नहीं होता । इसलिये, नेत्रो से कोई मनुष्य परमात्मा को देख नही सकता । क्योंकि नेत्र उसी वस्तु को देख सकते हैं, जिसमें रूप हो । किसी रूप से रहित वस्तु को नही देख सकते । अब प्रश्न उत्पन्न हुआ कि जब वह रूप से पृथक् है, तो जाना किस प्रकार जाता है ? इसके उत्तर में कहते हैं ।

नोट—श्री स्वामी दर्शनानन्दजी का किया हुआ भाष्य यहाँ पर समाप्त हो जाता है । इससे आगे पदच्छेद और भावार्थ दिया है, ताकि पाठकगण, सम्पूर्ण कठोपनिषद् का पाठ कर सकें । इसी प्रकार नं० ५ श्रुति का भी पदच्छेद भावार्थ दिया गया है ।

मंत्र- यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह । बुद्धिश्च न विचेष्टते तामाहुः परमां-गतिम् ॥ १० । १११ ॥

(शब्दार्थ) यदा=जब । पंच=पाँच । ज्ञानानि=योगाभ्यास द्वारा अपने-अपने देशों से हटाये गये, सर्वत्रादि ज्ञान इन्द्रिय। मनसा=मन के साथ । अवतिष्ठन्ते=चंचलता रहित स्थिति होते है । च=और जब । बुद्धि=सतोगुण युक्त बुद्धि । न विचेष्टते=कार्यों मे विरोध नही चलती, विद्वान् लोग । ताम्= उस । परमाम्=सर्वोत्तम । गतिम्=अवस्था को जीवन-मुक्ति दशा । आहुः=कहते है ।

(अर्थ) जब मनुष्य के इन्द्रिय रूप निकलनेवाली वाह्य वृत्ति और भीतर अन्तःकरण मे ठहरनेवाली बुद्धिरूप वृत्ति, सब उपद्रवो से रहित शान्ति स्थिति होती है, किसी प्रकार अपने नियत स्वभाव से विरुद्ध नही होती , तब जीवनमुक्त दशा को प्राप्त हुए ज्ञानी जीवात्मा के लिये, मुक्ति का द्वार खुला समझना चाहिये ।

मंत्र--तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रिय धारणाम् । अप्रमत्तस्तदा भवति योगो हि प्रभवाप्ययौ ॥ ११ । ११२ ॥

(शब्दार्थ) ताम्=उस । स्थिराम्=अचल । इन्द्रिय-धारणाम्=इन्द्रियो की धारण रूप दशा को ज्ञानी लोग । योगम्इति=योग सिद्धि या योग का फल है, ऐसा । मन्यन्ते= मानते है । तदा=तब योगी । अप्रमत्तः=प्रमाद रहित उदासीन ।

भवति=होता है। हि=जिस कारण। योग=योग सिद्धि होने पर। प्रभवाप्ययौ=पहले दुष्ट संस्कारों का विनाश और सतोगुण को वृद्धिकारक कल्याणकारी शुद्ध नवीन संस्कारों की उत्पत्ति होती है।

(अर्थ) जब योगाभ्यास से सब इन्द्रियाँ दृढ़ रूप से स्थिर हुई जीत ले जाती हैं, तब योग-सिद्धि होने का अनुमान निश्चय हो जाता है। योग की प्रवृत्ति में नवीन शुद्ध संस्कारों की प्रकटता और पहले दुष्ट संस्कारो का अन्तर्धान हो जाता है, तब स्वरूप में स्थित प्रमाद रहित द्रष्टा जीवात्मा यथार्थ रूप से सब को जानता है।

मंत्र—नैव वाचा न मनसा प्राप्तुं शक्यो न चक्षुषा। अस्तीति ब्रुवतो अन्यत्र कथं तदुपलभ्यते ॥ १२ । ११३ ॥

(शब्दार्थ) नैववाचा=न तो वाणी से। मनसा=न मन से। न चक्षुषा=न नेत्र से और न अन्य इन्द्रियो से ब्रह्म। प्राप्तुं=प्राप्त। शक्यः=हो सकता है किन्तु। अस्तीति=ब्रह्म है ऐसा। ब्रुवत.=कहते हुए से। अन्यत्र=दूसरे प्रसंग में। तत्=वह। कथम्=किस प्रकार। उपलभ्यते=प्राप्त होता है। अर्थात् किसी प्रकार नही अर्थात् कोई सब का नियन्ता, सब का उत्पादक, सब का आधार, सब का स्वामी है, जिसका स्वामी कोई न हो। क्योंकि यह काम विना कर्ता के नही हो सकते, इस प्रकार उसकी विद्यमानता का निश्चय कर ध्यान से वह ईश्वर को प्राप्त हो सकता है।

(अर्थ) शब्दादि विषय इन्द्रियों से ग्रहण किये जाते हैं।

और परमेश्वर शब्दादि विषयों में से कोई एक नहीं है, जो कि इन्द्रियो से ग्रहण किया जावे। आस्तिक लोग कहते हैं, कि परोक्ष परमात्मा कोई अवश्य है। क्योंकि वस्तुओ में बहु प्रकार का न्यूनाधिक भाव मिलता है, न्यूनाधिक होने की कहीं सीमा या समाप्ति नही देखी जाती और सीमा अवश्य होना चाहिये। संसार में एक से अधिक दूसरा विद्वान् वा धनवान् दिखाई देता है, जिससे अधिक विद्वान् अथवा ऐश्वर्यवाला कोई नही। जहाँ सब न्यूनाधिक भावो की सीमा या समाप्ति हो जाती है, वही परमेश्वर है। इस जगत् का कर्ता कोई अवश्य है। क्योकि जगत् एक प्रकार की बनावट है। घड़े आदि के तुल्य जैसे घट आदि बनावटी पदार्थ कुम्हार आदि बनानेवाले के विना, नहीं बन सकते। इससे कार्य होने से इस जगत् का कर्ता ईश्वर है। क्योकि अनन्त शिल्पकारी और नाना प्रकार की रचना से युक्त इस जगत् का बनाना किसी अल्पज्ञ मनुष्य का काम नहीं। इससे इस सब प्रत्यक्ष जगत् का रचनेवाला विद्वान् सर्वज्ञ सर्व शक्तिमान् जो कोई है, वही परमेश्वर है।

मंत्र—अस्तीत्येवोपलब्धव्यस्तत्त्वभावेन चोभयोः। अस्तीत्येवोपलब्धस्य तत्त्वभावः प्रसीदति ॥ १३ । ११४ ॥

(शब्दार्थ) उभयोः=होने न होने दोनों में। तत्त्वभावेन= आकाशादि पंचतत्त्व सम्बन्धी कार्य वस्तुओ की विद्य-मानता। च=और सतोगुण रूप सूक्ष्म बुद्धि से इस सबका नियन्ता परोक्ष कोई ईश्वर। अस्ति=है। इत्येव=इसी प्रकार उपलब्धव्यः=प्राप्त होने योग्य है, यदि न हो तो पच तत्त्व

किसी नियन्ता के विना निरालम्ब नियमपूर्वक कैसे ठहरें। अस्तीत्येव=है ऐसे ही विश्वास से । उपलब्धस्य=ध्यान से प्राप्त होनेवाले मनुष्य का। तत्त्वभावः=चेतन्य शरीर और इन्द्रियों का समुदाय। प्रसीदति=शोक मोह रहित प्रसन्न होता है।

(अर्थ) परमात्मा के ध्यान में निष्ठ आस्तिक पुरुष का ही चित्त प्रसन्न होता है। भगवद्गीता में कहा है कि चित्त की शुद्धि प्रसन्न होने से सब दुःखों की हानि हो जाती है। और जिसका चित्त प्रसन्न व निर्मल, निष्कलंक है, उसकी बुद्धि शीघ्र स्थिर हो जाती है। ऐसा होने से नास्तिक को सुख कदापि नहीं मिल सकता। इससे अस्ति-नास्ति दोनों में से अस्ति को मानता हुआ ही कल्याण का भागी होता है।

मंत्र—यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामायेऽस्य हृदिश्रिताः। अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते ॥ १४ । ११५ ॥

(शब्दार्थ) यः=जो। अस्य=इस जीवात्मा के। हृदि= अन्तःकरण मे। श्रिता=वासनाओं से बसाई हुई। कामः= मैथुन की अभिलाषा। सर्वे=सब है वे। प्रमुच्यन्ते=जब वैराग्य के सेवन से दूर हो जाती है। अथ=तब। मर्त्यः= मनुष्य। अमृतः=मुक्त। भवति=होता और। अत्र=इस मुक्त दशा मे। ब्रह्म=ब्रह्म को। समश्नुते=सम्यक् प्राप्त होता है।

(अर्थ) जब तक विषय भोगों में राग और उससे विपरीत में द्वेष की निवृत्ति नहीं होती, तब तक मुक्ति नहीं हो सकती। जब अनादि काल से संचित विषय की उत्कंठा योगाभ्यास

द्वारा हृदय से दूर हो जाती है, तब विवेकी पुरुष जन्म-मरण के प्रवाह रूप ग्राह से छूट ब्रह्म-लोक को प्राप्त होता है।

मंत्र--यदा सर्वे प्रभिद्यन्ते हृदयस्येह ग्रन्थयः। अथ मर्त्योऽमृतो भवत्येतावदनुशासनम् ॥ १५ । ११६ ॥

(शब्दार्थ) फिर इसी बात को दृढ़ करते हैं। यदा=जब। इह=इसी जन्म में। हृदयस्य=अन्तःकरण की। सर्वे=सब। ग्रन्थयः=गाँठे। (कि मैं बालक, युवा, वृद्ध, काना, गंजा, स्त्री, पुरुष, नपुंसक हूँ, मैं जन्मा हुआ मरूँगा और किसी को मार डालूँगा आदि वासना रूप रसों में दृढ़ता-पूर्वक लगी हुई) प्रभिद्यन्ते=छूट जाती है, तो विचारता है कि यह बाल्यादि शरीर के धर्म हैं, मैं जीवात्मा शुद्ध नित्य हूँ, मैं स्वरूप में विकारी नहीं होता, ऐसा ज्ञान गाँठों का छूटना है। अथ=तब। मर्त्यः=मनुष्य। अमृतः=मुक्त। भवति=होता है। एतावत्=इतना ही। अनुशासनम्=शास्त्र की शिक्षा व उपदेश है, ऐसा करने से अनिष्ट को छोड़कर इष्ट को प्राप्त होता है।

(अर्थ) जब मनुष्य के हृदय के बंधन छूट जाते हैं, तब वह मुक्त होता है। इससे हृदय के बंधन छूटने के लिये बड़ा प्रयत्न करना चाहिये, इससे परे ज्ञानी को कुछ कर्तव्योपदेश नहीं है।

मंत्र--शतं चैका च हृदयस्य नाड्यस्तासां मूर्द्धानमभिनिस्सृतैका । तयोर्ध्वमायन्नमृतत्व-

मेति विष्वङ्ङन्या उत्क्रमेण भवन्ति ॥ १६ ।
११७ ॥

(शब्दार्थ) हृदयस्य=हृदय मे ठहरनेवाली । शतम्=सौ । च=और । एका=एक । नाड्यः=नाड़ी मेँ । तासाम्=उनके बीच । एका=सुषुम्णा नाड़ी हृदय से चल के । मूर्द्धानम्=मस्तक मे । अभिनिस्सृताः=जा निकली है । तया=उस नाड़ी के साथ । ऊर्ध्वम्=एकादश द्वारोँ मे जो ब्रह्मांड का छिद्र रक्खा है, उसके द्वारा । आयन्=शरीर है, निकलता मरता हुआ जीवात्मा । अमृतत्वम्=मुक्ति को । एति=प्राप्त होता है, उस नाड़ी को छोड़ अर्थात् अन्य नाड़ी द्वारा मरा हुआ, संसार के प्रवाह को प्राप्त होता है ।

(अर्थ) अपने मरने का समय योगी पूर्व से ही जानता है । शरीर से निकलने का समय आने से पूर्व ही योगी अपने आत्मा को वश मे करके, सुषुम्णा नाड़ी के साथ युक्त करे । उस नाड़ी द्वारा शरीर से निकला हुआ जीवात्मा मुक्ति को प्राप्त होता है । जीव नाड़ियों के द्वारा ही निकलते है । अविद्या मे फँसे हुए नहीं जानते कि हम कौन है और कब और कैसे निकल जाते है । जिसने योगाभ्यास नही किया, वह मरण समय ब्रह्मांड द्वारा नही मर सकता, इस कारण पहिले ही योगाभ्यास करना चाहिये ।

मंत्र--अंगुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा सदा जनानां हृदये सन्निविष्टः । तं स्वाच्छरीरात्प्रवृहेन्मुंजा दिवेषीकां धैर्येण । तं विद्याच्छुक्रममृतं तं विद्याच्छुक्रममृतमिति ॥ १७ । ११८ ॥

(शब्दार्थ) अंगुष्ठमात्रः=उक्त प्रकार से अंगुष्ठमात्र स्थान में ठहरनेवाला। जनानाम्=प्राणियों के। हृदये=हृदय में। सदा=सदा। सन्निविष्ट=अवस्थित। पुरुषः=शरीर इन्द्रियों के समुदाय का रक्षक। अन्तरात्मा=जीवात्मा है। तम्=उसको। मुंजादिव=मुंज से जैसे। इषीकाम्=सींक व सिरकी को खींच लेते हैं। धैर्येण=प्रमाद रहित होके धीरे-धीरे। प्रवृहेत्=पृथक् कर। तम्=उस जीवात्मा को वास्तव स्वरूप से। अमृतम्=अविनाशी स्वभाव से राग द्वेषादि दोष रहित। शुक्रम्=पवित्र निर्मल। विद्यात्=जाने। यहाँ पर दो बार पाठ ग्रन्थ समाप्ति के लिये आया है।

(अर्थ) जीवात्मा को सब से अधिक प्रिय अपना शरीर है। अनादि काल से उस शरीर में सुख भोगे और भोगता है, इससे उसमें राग है, यही बन्धन और यही ग्रंथि है। अविद्या में ग्रसित यह जीव, शरीर से पृथक् होना नहीं चाहता और शरीर विवश छोड़ना पड़ेगा, ऐसा जान के बड़ा कष्ट मानता है। उस ऐसे हृदय में वास करते हुए अंगुष्ठमात्र स्थान में स्थित जीवात्मा को योगाभ्यासादि साधनों को करके शरीर के बन्धनों से छुड़ा दे, जिससे फिर शरीर धारण करने की इच्छा न करे, किन्तु घृणा करे। यह उपनिषद् यहीं समाप्त हो गया, यह दो बार पढ़ने से सूचित होता है।

मंत्र--मृत्युप्रोक्तां नचिकेतोऽथ लब्ध्वा विद्यामेतां योगविधिं च कृत्स्नम्। ब्रह्म प्राप्तो विरजोऽभूद्विमृत्युरन्योऽप्येवं यो विदध्यात्ममेव ॥ १८ । ११६ ॥

(शब्दार्थ) अथ=अब इस उपनिषद् में कही हुई ब्रह्मविद्या का फल कहते है। मृत्युप्रोक्ताम्=यमाचार्य ने कही। एताम्= इस। विद्याम्=ब्रह्मविद्या का। च=और। कृतस्नम्=सम्पूर्ण सांगोपांग। योगविधिम्=योग के विधान का। नचिकेताः= नचिकेता आचार्य से। लब्ध्वा=प्राप्त होके। ब्रह्मप्राप्तः=ब्रह्म को प्राप्त हुआ। विरजः=विरक्त और। विमृत्युः=मृत्यु रहित जीवन मुक्त। अभूत=हुआ। अन्य=और। अपि=भी। य एवंवित=जो इस उक्त प्रकार गुरु की सेवा से विद्वान्। अध्यात्ममेव=अध्यात्म विद्या को ही प्राप्त अर्थात् उक्त प्रकार इन्द्रियों की ब्रह्मशक्ति को रोक के भीतरी ध्यान में ही प्रवृत्त हो और विरक्त हुआ मुक्त होने योग्य है।

(अर्थ) नचिकेता गुरु के उपदेश से ब्रह्मविद्या और फल-सहित सम्पूर्ण योगाभ्यास के विधान को प्राप्त हुआ। अन्य भी जो ब्रह्मज्ञान की इच्छा करे, उसको चाहिये कि गुरु की सेवा-टहल से और दूसरे यथाशक्ति साधनों से ब्रह्मज्ञान को प्राप्त होके सब दुःखों से छूटे।

मंत्र--सह नावतु सह नौ भुनक्तु सह वीर्य्यं करवाव है। तेजस्विनावधीतमस्तु माविद्विषा-वहै ॥ १६ । १२० ॥

ओ३म् शान्तिः शान्तिः शान्तिः।

(शब्दार्थ) अब समाप्ति में प्रार्थना और शान्ति कहते है। नौ=हम दोनों गुरु शिष्यों को। सह=साथ ही परमेश्वर। अवतु=तृष्णा को छुड़ा के तृप्त सन्तुष्ट करे। नौ=हम दोनो की। सह=साथ। भुनक्तु=रक्षा करे। हे परमेश्वर आप की

कृपा से हम दोनों। वीर्यम्=ब्रह्मविद्या के अभ्यास से हुए, सुख दुःख इत्यादि द्वंद्व व सहन आदि रूप सामर्थ्य। सह= साथ। करवाव है=सिद्ध करें। नौ=हम दोनों का। अधीतम्= पढ़ना पढ़ाना। तेजस्वि=ब्रह्म के तेज से युक्त हों, हम दोनों। माविद्विषाव है=आपस में कभी द्वेष न करें। ओ३म्=परमात्मन् आप ऐसी कृपा करें, जिससे हमारे अध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक यह त्रिविधि दुःख, शान्त होकर अत्यन्त पुरुषार्थ के परिणाम रूप मोक्ष सुख को प्राप्त होवे।

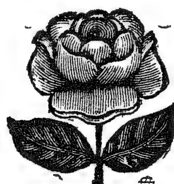
(अर्थ) सब कर्मों के आदि और अंत में परमेश्वर की प्रार्थना और उपद्रव और दुःखों को हटाने के लिये शान्ति कहनी चाहिये। जब गुरु और शिष्य के अन्तःकरण में लेशमात्र भी भेद न हो, किन्तु दोनों का अन्तःकरण शुद्ध परस्पर प्रीति बढ़ानेवाला प्रार्थना में रँगा कोमल हो, तब विद्या सफल होती है, जिससे अध्यात्मक, आधिदैविक, आधिभौतिक दुःखों की शान्ति हो।

नोट—इस मन्त्र में कर्त्ता क्रिया के दो वचन पढ़ने से, गुरु, शिष्य व स्त्री, पुरुष आदि दोनों को मिलकर ईश्वर की प्रार्थना और शान्ति कहनी चाहिये। ओ३म् शम्।

हिन्दी अनुवाद कठोपनिषद् का समाप्त हुआ।

ओ३म्

शान्तिः शान्तिः शान्तिः।



❁ ओ३म् ❁

प्रश्नोपनिषद्

का

हिन्दी अनुवाद



मंत्र—ओं सुकेशा च भारद्वाजः शैव्यश्च सत्य कामः सौर्य्यायणी च गार्ग्यः कौशल्यश्चाश्व- लायनो भार्गवो वैदर्भिः कबन्धी कात्यायनस्ते हैते ब्रह्मपरा ब्रह्मनिष्ठाः परं ब्रह्मान्वेषमाणाएष ह वै तत्सर्वं वक्ष्यतीति ते ह समित्पाणयो भगवन्तं पिप्पलादमुपसन्ना ॥ १ ॥

(शब्दार्थ) सुकेशा=यह नाम है। च=और। भारद्वाजः= भारद्वाज ऋषि की सन्तान मे। शैव्य.=शैव्य की सन्तान मे सदा होनेवाली। सत्यकामः=सत्य का नाम है। सौर्य्या- यणी=सूर्य की संतान मे से। च=और। गार्ग्यः=गर्ग ऋषि की सन्तान। कौशिल्या=कौशिल्या नाम। च=और। आश्व- लायन'=आश्वल ऋषि का पुत्र। भार्गवः=भार्गव ऋषि की संतान में। वैदर्भिः=विदुरभी नामवाले का पुत्र। कात्या- यनः=कथ ऋषि का बेटा। कबंधी=कबंधी नाम। तेह=यह

प्रसिद्ध तप करनेवाले। एते=यह पुरुष। ब्रह्मपरा=ब्रह्म के भक्त। ब्रह्मनिष्ठा=ब्रह्म की प्राप्ति मे लगे हुए। परम्=इन्द्रियों से पर। ब्रह्म=सर्व व्यापक परमात्मा को। अन्वेषमाणा=खोज करते हुए। एष=यह प्रसिद्ध ब्रह्मज्ञानी गुरु। वै=निश्चय पूर्वक। ततसर्वम्=सब के भीतर रहनेवाले आत्मा के उपदेश को प्राप्त करने के विचार से। वद्यतौ=उपदेश के योग्य समझकर समित्पाणयो=हाथ मे अग्निहोत्र की लकड़ियाँ लिए हुए। ते=यह ऋषि लोग। भगवन्तं=पूजने योग्य आचार्य। पिप्पलादम्=पिप्पलाद नामी ऋषि के पास उपदेश ग्रहण करने को। मुपसन्नाः=पधारे।

(अर्थ) श्रुति और स्मृति ने निर्णय कर दिया है कि जिस अधिकारी को ब्रह्म जानने की उत्कंठा हो, वह ब्रह्मज्ञाता गुरु के समीप जाकर उपदेश ग्रहण करे। परन्तु ब्रह्मज्ञानी गुरु के समीप भेंट लेजाना योग्य है। क्योकि महानुभाव महात्माओं के समीप विना भेंट जाना, उनका अनादर करना है। और ब्रह्मज्ञानी के समीप कोई बहुमूल्य वस्तु लेकर जाना भी उनका अपमान करना है। क्योकि ब्रह्मज्ञानी को किसी वस्तु की अभिलाषा कदापि नही होती। अतएव ऋषियो ने समिधा अर्थात् हवन करने की लकड़ियाँ हाथ में ले जाने का नियम नियत किया था। जिसके अर्थ यह थे कि मै तप इत्यादि यज्ञ करके निज अन्तःकरण को शुद्ध करके और बाहर के आडम्बरो को त्याग कर, केवल ब्रह्मज्ञान का जिज्ञासु होकर आया हूँ। जब तक इस प्रकार की जिज्ञासा और ब्रह्मज्ञान की भक्ति चित में उत्पन्न न हो, तब तक वह ब्रह्मज्ञान का अधिकारी नहीं। संसार के सब पदार्थ समिधाओ की भाँति ब्रह्मज्ञानि की अग्नि में भस्म करके, हम उसको जान सकते हैं। संसार के पदार्थ

जीव से बाहर हैं और ब्रह्म का दर्शन जीव के भीतर होता है, इस कारण एक ही समय में जीव भीतर-बाहर देख नहीं सकता। अत जो मनुष्य, संसारी वासनाओं में लिप्त हैं, जो मनुष्य विषय भोग में लवलीन है, जिनको यश, प्रतिष्ठा और शासन की वासना जकड़े हुए है, वह ब्रह्मज्ञान के मार्ग के मार्ग पर जाने-योग्य नहीं। इस मार्ग पर वह मनुष्य पहुँच सकते हैं, जो प्रत्येक बाह्य-बन्धन से स्वतन्त्र हो, जिनको बाह्य अभिलाषा कुछ भी न हो।

मन्त्र—तान् ह स ऋषिरुवाच भूय एव तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धयासंवत्सरं संवत्स्यथ, यथाकामं प्रश्नान् पृच्छथ, यदि विज्ञास्यामः सर्वं ह वो वक्ष्याम इति ॥ २ ॥

(शब्दार्थ) तान्=उनको। ऋषिरुवाच=ऋषि ने कहा। भूयएव=तुम दो बार। तपस्या=तप करते हुए। ब्रह्मचर्येण= ब्रह्मचारी होकर। श्रद्धया=श्रद्धा से। संवत्सरं=एक वर्ष तक। संवत्स्यथ=मेरे समीप रहो फिर। यथाकामम्=यथा कामना। प्रश्नान्=प्रश्नों को। प्रच्छतु। पूछो। यदि=यदि। विज्ञास्यामः= मैं जानता होऊँगा। सर्वं ह=तो सभी। वो तुम्हारे लिये। वक्ष्यामः=कहूँगा अर्थात् उपदेश करूँगा।

(अर्थ) उनको जब तपस्वी के तप को जानते हुए भी पिप्पलाद ऋषि ने परीक्षार्थ एक वर्ष तक उनको तप और ब्रह्मचारी होकर अपने समीप रहने का आदेश किया। और कहा, इतना तप करने के पश्चात्, जिस प्रकार के प्रश्न करने की इच्छा हो करना। यदि मैं जानता होऊँगा, तो तुमको ठीक बता दूंगा। इस कथा से क्या परिणाम निकलता है? जो लोग

तप और ब्रह्मचर्य्याश्रम से शून्य हैं, वह ब्रह्मविद्या जानने के अधिकारी नही । वर्तमान समय में जो मनुष्य अनधिकारी होकर ब्रह्मविद्या के ग्रंथो को पढ़ते और ब्रह्मज्ञान के सम्बन्ध मे प्रश्न करते हैं, उससे व्यर्थ समय नष्ट होने के अतिरिक्त और कोई फल नहीं निकलता । जिस प्रकार बिना जोती हुई भूमि में जिसमे कभी हल न चलाया गया हो, जो बीज बोया जाता है, वह कभी फल नही लाता । इसी प्रकार जिसने ब्रह्मचर्य और तप न किया हो, उसको ब्रह्मविद्या के उपदेश से कोई लाभ नही होता । ऋषि लोग सत्य कथन करते हैं, यदि मुझे आता होगा, तब मै तुमको सब बता दूंगा । जिससे स्पष्ट प्रकट है कि वह आज कल के अविद्वान् मनुष्यों की भाँति सर्वज्ञ होने का मिथ्या पक्ष लेने के प्रकृति वाले नही थे , किन्तु प्रत्येक पक्ष करने के साथ निज-शक्ति का भी विचार रखते थे । ऋषि स्पष्ट शब्दो मे कहता है कि मैं सर्वज्ञ नही हूँ परन्तु उनके चित्त की वृत्ति को जानता हुआ कि यह ब्रह्मविद्या के उपदेश को आये हैं । कहता है कि तुमको जो इच्छा है, उसके सम्बन्ध मे जो प्रश्न करोगे, उसको मैं अपने ज्ञानानुकूल बताऊँगा । यह सत्यता का सर्वोत्तम समय था, जब कि मिथ्या अभिमान से समय शून्य था । जब तक मनुष्यों में सत्यता न हो, तब तक धर्म के कार्य यथावत् नहीं चल सकते । और जब तक धर्म प्रत्येक के साथ न हो, तब तक सफलता से सुख और शान्ति का मुख देखना दुस्तर है ।

मंत्र--अथ कबन्धी कात्यायन उपेत्यपप्रच्छ भगवन् ! कुतो ह व इमाः प्रजाः प्रजायन्त इति ॥ ३ ॥

(शब्दार्थ) अथ=एक वर्ष बीत जाने के पश्चात् । कबन्धी=कबन्धी नाम । कात्यायनः=जो कथ ऋषि के कुल में उत्पन्न हुआ था । उपेत्य=पिप्पलाद ऋषि के समीप आकर । पृच्छ=पूछता है । भगवन्=हे गुरु महाराज । कुतः=कहाँ से या किससे । ह वा=पूर्व सृष्टि की उत्पत्ति को ध्यान पूर्वक कहिये । इमाः=यह जो प्रत्यक्ष दीखता है । प्रजा=मनुष्य पशु आदि जीव जन्तु और निर्जीव । प्रजायन्त= उत्पन्न हुए है ।

(अर्थ) यहाँ प्रश्न यह किया कि यह प्रत्यक्ष देखने योग्य सृष्टि का कर्ता कौन है । क्योंकि जो वस्तु को ज्ञानानुकूल बनाता है, वही उसकी अवस्था को जानता है । और जो उसकी अवस्था ठीक प्रकार जानता है, वही उसको ठीक सुधार सकता है । अतएव संसार के सुधार के लिये, संसार के निर्माण कर्ता का जानना अवश्य है । जो सृष्टि के रचयिता को नही जानता, वह संसार का सुधार नहीं कर सकता। क्योकि जब तक यह न मालूम हो कि निर्माण कर्ता ने इसको किस अर्थ से बनाया है, तब तक उस वस्तु से ठीक काम नहीं लिया जाता । क्योंकि निर्माण-कर्ता के आशय के अनुकूल काम लेना ही ठीक कार्य कहला सकता है , और उसके विरुद्ध कार्य करना, उसको हानि पहुंचाना है । यथा हम जानते हैं कि नेत्र परमेश्वर ने मार्ग देखकर चलने को दिये हैं । यदि हम नेत्र बंद करके चलते हैं, तो नेत्र निर्माण-कर्ता के सिद्धान्त के विरुद्ध काम करते है, जिससे ठोकर खाकर कष्ट सहन करते हैं । यहाँ प्रजा से वास्तविक तात्पर्य शरीर तथा इन्द्रियो का है । यदि हम को विदित हो जावे कि यह शरीर और इन्द्रियाँ किसने किस अर्थ से निर्माण की हैं, तो हम इस शरीर से उचित लाभ

उठा कर सन्मार्ग पर पहुंच जाते हैं। यदि न मालूम हो कि कर्ता कौन है और उसका अर्थ बनाने से क्या है, तो मार्ग पर पहुंचना असम्भव होता है। अतएव, ऋषियों ने सब से प्रथम प्रश्न यही करना उचित समझा कि इस जगत् का कर्ता कौन है। ऋषि उत्तर देते है।

मंत्र--तस्मै स होवाच-प्रजाकामो वै प्रजापतिः स तपोऽतप्यत, स तपस्तप्त्वा स मिथुनमुत्पादयते। रयिञ्च प्राणांचेत्येतौ मे बहुधा प्रजाः करिष्यत् इति॥ ४॥

(शब्दार्थ) तस्मै = उस कात्यायन। सह = वह पिप्पलाद ऋषि। होवाच = स्पष्ट कहने लगे। वै = जब। प्रजा कामः= प्रजा के अर्थ से। प्रजापतिः=सब जीवो का नित्य राजा जो परमात्मा है। सः=उसने। तप=क्रिया देनेवाली शक्ति से। उत्पत्ति=क्रिया अर्थात् हरकत दी। स =उसने। तपस्तप्त्वा= हरकत देकर। मैथुनम्=दो प्रकार की जोड़ी को। उत्पादयते= उत्पन्न किया। रयिंच=एक तो भोगने योग्य जड़ से। प्राणंच= दूसरा भोगनेवाला प्राण। इत्यतो=यह दोनो भोगने योग्य और भोगनेवाले। मे=मेरे। बहुधा=बहु प्रकार की। प्रजा= जीवो के शरीरो का। करिष्यत्=करेगे। इति=समाप्ति का शब्द।

(अर्थ) जब न्यायकारी और दयालु परमात्मा ने अपनी जीव रूप अनादि प्रजा के आनंदार्थ अपने स्वाभाविक न्याय और दया से जगत् बनाने के अर्थ प्रकृति जो उसकी अनादिकाल से सम्पत्ति है, उसको क्रिया (हरकत) देकर दो प्रकार

का बनाया। एक तो जीव सगति चेतन्य-सृष्टि, जो विशेष प्राणो के साथ तीन प्रकार की शक्ति रखती है, अर्थात् करने न करने और उलटा करने से जिसमे कि इच्छा रखनेवाली चेतनता प्रकाश हो सके। दूसरे जीवो से रहित भोगने के योग्य विशेष प्राणो से पृथक् जड़-सृष्टि, जिसका चेतन्य-सृष्टि भोग करती है, जिसमें चेतनता नही, किंतु प्रबन्धक चेतन्य है। इस दो प्रकार की सृष्टि से ही परमात्मा की प्रजा (जीव) बहुत प्रकार के फल कर्मो के अनुकूल भोग सकते है। जिनमें इच्छा रखनेवाली चेतन्य और विशेष प्राण है, वह भोगनेवाली सृष्टि है, जिसको चेतन्य-सृष्टि कहते है। जिससे मनुष्य चतुष्पद, पखेरू, कृमि इत्यादि जीवधारी, अन्य जो भोगार्थ बने है, यथा वनस्पति, मिट्टी इत्यादि इन दो प्रकार की सृष्टि के नाम जड़ और चेतन्य, स्थावर, जंगम, चराचर भोगता, भोग्य इत्यादि है। इस जोड़ी से ही यह सम्पूर्ण जगत् भरा हुआ है, कही चेतन्य हैं, कही जड़, निदान, प्रजापति परमात्मा ने ही इसको उत्पन्न किया है और उसी के नियम में यह कार्य कर रहे है। उसके नियम के विरुद्ध होना अर्थात् चेतन्य का जड़ हो जाना और जड़ का चेतन्य होना असम्भव है।

प्रश्न—अन्य मनुष्य तो इसका पदार्थ यह करते है, कि प्रजा की इच्छा से परमात्मा ने यह जगत् बनाया है।

उत्तर—परमात्मा में यह इच्छा हो नहीं सकती, क्योंकि इच्छा प्राप्त इष्ट व लाभदायक की होती है। लाभदायक वह वस्तु होती है, जो न्यूनता को पूर्ण करे या दोष को दूर करे। परमात्मा में न न्यूनता है, न दोष है, फिर इच्छा किस प्रकार हो सकता है। दूसरे इच्छा से जगत् की उत्पत्ति मानने में लगातार दोष लगता है, क्योंकि जिस वस्तु की उत्पन्न करने

की इच्छा हो, तो उसका लाभदायक और प्राप्त होना अवश्य है। लाभदायक होने के ज्ञान के वास्ते उस वस्तु का होना आवश्यक है। जब वह वस्तु उपस्थित है, तो उत्पन्न करने का विचार किस प्रकार होगा। और वह वस्तु भी उत्पन्न होने की इच्छा से उत्पन्न हुई होगी, जिसके लिये फिर वही क्रम का चक्र लगा रहेगा।

प्रश्न—इसका क्या प्रमाण है कि जीवों के हेतु सृष्टि परमात्मा ने रची।

उत्तर—प्रजापति शब्द ही बताता है कि परमात्मा उत्पन्न करने से पूर्व भी प्रजापति था। और जो अतिरिक्त जीव रूप प्रजा के और हो नहीं सकता।

प्रश्न—यदि यह मान लिया जावे कि प्रजापति नाम परमात्मा का उत्पन्न करने के पश्चात् हुआ।

उत्तर—परमात्मा का कोई गुण जिसके पश्चात् नाम रक्खा जावे, हो नहीं सकता, क्योंकि उसके सब गुण कर्म स्वाभाविक है। अब इसकी व्याख्या करते हैं।

मंत्र—आदित्यो ह वै प्राणो रयिरेव चन्द्रमाः रयिर्वा एतत्सर्वं यन्मूर्तञ्चामूर्तञ्च तस्मान्मूर्त्तिरेव रयिः ॥ ५ ॥

(शब्दार्थ) आदित्यः=सूर्य जो सब वस्तुओं का विनाश करता है। रयि=स्पष्ट। प्राणः=प्राण है अर्थात् सम्पूर्ण पदार्थों का भोगनेवाला है। रयि भोगने योग्य। एव=ही। चन्द्रमाः=चन्द्रमा है। रयि=और भोगने। एव=अथवा। ◦तत् सर्वम्=यह सब जगत्। यत्=जो। मूर्त्तम्=मूर्त्तीवाला है। अमूर्तंच=मूर्त्ती से रहित अवस्था है। च=और। तस्मात्=

इस कारण से। मूर्त्ति=मूर्त्ति अर्थात् ठोस वस्तु। एव=ही। रयि=भोगन योग्य वस्तु है।

(अर्थ) संसार के जड़ पदार्थों में विनाश और न्यूनता को देखा जाता है, उसको भोगनेवाला प्राण सूर्य है। जिसके कारण से प्रत्येक पदार्थ प्राण होकर नाश होता है। सूर्य प्रत्येक वस्तु के भीतर से पानी को किरणों से खींचकर भोगता है, जिससे पदार्थ नाश होते हैं। और जिसको भोगता है, वह चन्द्रमा है, अर्थात् जल का मुख्य भाग है। कारण यह है कि उष्णता जो सूर्य की है, वह भोगनेवाली है। और शीतलता जो चन्द्रमा की है, वह भोग्य है, जिसको गरमी भोगती है अथवा जितने मूर्त्तिमान द्रव्य है। मूर्त्ती का लक्षण यह है कि जिसके खंड मूछित अर्थात् ज्ञान से शून्य हो और वह संयोगावस्था मे हो। अतः ठोस वस्तुएँ मूर्त्तिवाली और द्रव और गैसवाली अमूर्त्ति में। यह सब भोगने योग्य पदार्थ हैं और इनको भोगनेवाला आदित्य (सूर्य प्राण) है।

प्रश्न—सूर्य को प्राण अर्थात् भोगनेवाला क्यों कहा? क्योंकि वह भी तो अग्नि का बना हुआ शरीर है।

उत्तर—सूर्य से वर्षा होती है और वर्षा से सब प्रकार की वनस्पति अर्थात् अन्न इत्यादि उत्पन्न होते है और सूर्य की किरणे वायु के साथ मिलकर प्राण उत्पन्न करती हैं, जिससे क्षुधा, तृषा, मालूम होती है। निदान, भोक्ता सूर्य ही है, चैतन्य जीवात्मा तो केवल भोग का ही भागी होता है। अब उसकी व्याख्या करते है।

मंत्र—अथादित्य उदयन्यत्प्राचीं दिशं प्रविशति, तेन प्राच्यान्प्राणान् रश्मिषु सन्निधत्ते।

की विपरीत सतोगुणी शक्ति अग्नि की है, जो नित्य पृथिवी के विरुद्ध चलती है। क्योंकि उसका भन्डार सूर्य पृथिवी से विपरीत दिशा में रहता है। इस कारण अग्नि प्रत्येक वस्तु को अपने भन्डार (सूर्य) की ओर ले जाना चाहता है। इस कारण अग्नि और पृथिवी में हर समय संग्राम लगा रहता है। यदि भूमि की शक्ति अग्नि से अधिक हो, तो वस्तु पृथिवी से पृथक् न हो सके। यदि अग्नि की शक्ति पृथिवी से अधिक हो तो वस्तुएँ सीधी ऊपर को चली जावें। अतः सर्व व्यापक सर्वज्ञ परमात्मा ने ऐसा प्रबन्ध कर दिया है कि शक्ति तो अग्नि मे पृथिवी से अधिक है, जिससे वह प्रत्येक वस्तु को पृथिवी से पृथक् कर लेती है। परन्तु पृथिवी की सहायता के लिये जल को नियत कर दिया है कि वह पृथिवी को सहायता करके वस्तुओं को पृथिवी से पृथक् न होने दे। अतः जब पाँव पृथिवी से उठ जाता है, तो झट पानी पड़कर अग्नि की शक्ति को निर्बल कर देता है। जिससे वस्तु पृथिवी पर फिर आ जाती है। अग्नि इस पानी को विनाश करके फिर वस्तु को उठाती है, फिर और जल आकर उसको निर्बल करके रोक देता है। इस प्रकार यह पदार्थ न तो पृथिवी के साथ ही चिपटे रहते हैं और न सूर्य की ओर जाने पाते है; अत वायु उनको हरकत देकर पृथिवी के साथ साथ चलाती है। इस उपचार से पानी बराबर स्टीम बनकर उड़ जाता है। अब यह शक्ति प्राण-शक्ति कहलाती है कि जो सूर्य्य की किरणों से उत्पन्न होकर सब जगत् को भोग रही है। इस कारण वेदान्त के विद्वान् मानते हैं कि क्षुधा और तृषा प्राणो का धर्म है, अर्थात् प्राण हर समय भोजन और जल के अवयवों को भीतर से निकालते रहते है। जब तक प्राणो का प्रभाव भोजन पर

पड़ा रहता है, तब तक कोई कष्ट मालूम नहीं होता। परन्तु जब प्राण भीतर के निकलनेवाले भोजन को और जल को समाप्त करके शरीर के अवयवों में जो खाना और पानी मिला हुआ है, उस पर प्रभाव डालना आरम्भ करते है, तो पानी पर प्रभाव डालने का नाम तृषा है। और खुराक पर प्रभाव डालने का नाम भूक है। अर्थात् जो कुछ हमारे शरीर मे या ब्रह्माण्ड में भोगा जा रहा है, वह सूर्य ही भोग रहा है। यह क्रिया (हरकत) प्रत्येक दिशा और कोण में सूर्य की किरणो से ही स्थित होती है। यदि सूर्य की किरणों से फैली हुई अग्नि जो प्राण बनाती है, विद्यमान् न हो, तो सब जीव जन्तु मर जावे। शुष्क पृथिवी में जो वायु चलती है, उसको अग्नि के परमाणु अधिक मिलते हैं, इस कारण वह मनुष्यो को अधिक आरोग्यदायक होती है। जो भूमि नम है, वहाँ की वायु को अग्नि के परमाणु कम मिलते है। अतः वह आरोग्यता के लिये हानिकारक है। निदान, प्रत्येक वस्तु को कितनी प्राणो की आवश्यकता है, यदि उतने प्राण मिल जावे तो वह भले प्रकार उन्नति करते हैं। जहाँ प्राणों की शक्ति निर्बल मिली, वह बिगड़ जाती है। यदि भूमि गीली है, तो अग्नि के कम मिलने से प्राण ठीक काम नहीं कर सकते, जिससे मनुष्य की आरोग्यता बिगड़ जाती है। यदि पीने को जल न मिले, तो सूर्य की किरणें पृथिवी से शक्तियुक्त होकर शरीर के अवयवो को फैला देती हैं, जिससे वस्तु विनाश हो जाती है। इसकी और भी व्याख्या करते हैं।

मंत्र--स एष वैश्वानरो विश्वरूपः प्राणोग्निरुदयते। तदेतदृचाभ्युक्तम् ॥ ७ ॥

(शब्दार्थ) स=वह सूर्य जिसका वर्णन आ चुका है। एष=जो प्रत्यक्ष नेत्र से दीखता है। वैश्वानरः=सम्पूर्ण संसार के प्राणो को चलानेवाला। विश्वरूपः=सब जगत् में भोग करनेवाली शक्ति रूप से प्रकाशित। प्राण=जिसका नाम प्राण जो अन्न आदि उत्पन्न करता है। अग्निः=गरमी को। उदयतः=प्रकट करता है। तत्=उसका। एतत्=यह। ऋचाभ्युक्तम्=ऋग्वेद के मंत्र में भी कहा है।

(अर्थ) यह सूर्य जो प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होता है, उसकी किरणो से जो अग्नि फैलकर जगत् में प्राण शक्ति उत्पन्न करके अन्न को बढ़ाती और दूसरे जीव जन्तुओ को उत्पन्न करती और नियम से जलाती है। इस कारण चराचर जगत् के शरीरों में जो क्रिया (हरकत) हो रही है, सब उसी सूर्य की है, जो जगत् मात्र का प्राण है। अतः जगत् में प्राण-शक्ति दो प्रकार से काम करती है। एक तो सामान्य, जिसके द्वारा ६ विकार होते हैं, उत्पन्न होना, बढ़ना, एक सीमा तक बढ़कर रुक जाना, आकृति बदलना, घटना, नाश। इन षट् विकारो का कारण सामान्य प्राण अर्थात् सूर्य की किरणो से उत्पन्न होनेवाली सामान्य हरकत (प्राण) है। और जानवाले में जहॉ विशेष प्राण अर्थात् करने न करने और उलटा आदि करने की शक्ति पाई जाती है, उसमे प्राणों के अतिरिक्त जीवात्मा भी होती है, जो उन प्राणो को अपनी इच्छानुकूल चलाती है। बढ़ना आदि काम जो प्राणो के हैं, वह सामान्य और विशेष प्राण दोनो में समान पाये जाते है। परन्तु विशेष प्राण वहाँ होंगे जहॉ जीव और प्राण दोनो होगे। और सामान्य प्राण वहॉ होंगे, जहाँ केवल प्राण होगे, वास्तव में प्राणों से प्रेरणा (हरकत) होती है। प्राण ही खाते पीते हैं, जीव तो

केवल नियम में चलाता है, यथा इंजन में ड्रायवर। यह हर दो प्रकार के चाहे विशेष प्राण से हो, या सामान्य प्राण से, सूर्य की किरणों से उत्पन्न हुए प्राण ही करते हैं। बढ़ना घटना आदि सब काम प्राणों से होते है। जीव का इनसे कोई संबन्ध नहीं। प्राण परमात्मा के नियम से जो उसने सूर्यवालों आदि में नियत कर दिया है, अपना काम कर रहे है। निदान, प्राण ही जगत् को भोगनेवाला है।

मंत्र—विश्वरूपं हरिणं जातवेदसं परायणं ज्योतिरेकं तपन्तम् । सहस्ररश्मिः शतधा वर्तमानः प्राणः प्रजानामुदयत्येष सूर्यः ॥ ८ ॥

(शब्दार्थ) विश्वरूपं=समस्त भोगनेवाली शक्ति रूप। हरिणं=किरणवाला। जातवेदसं=जिससे वेद अर्थात् ज्ञान उत्पन्न होता है। परायणं=जो सब प्राणियो में रहता है। तपन्तम्=जो भले प्रकार गरम हो रहा है। ज्योतिः=प्रकाशक सूर्य। एकम्=जो इस लोक मे एक है। सहस्ररश्मिः=जिसकी अनन्त किरणे है। शतधा=सौ प्रकार से। वर्त्तमानः=काम करती हुई विद्यमान रहनेवाली। प्राण=जीवन का कारण। प्रजानाम्=सब प्राणियो। उत्पत्तिः=प्रकाश करता है। एष=यह। सूर्यः=सूर्य।

(अर्थ) जो सूर्य है, जिसकी आभास अनन्त है, जो सैकड़ों प्रकार की वर्त्तमान प्रजाओ का प्राण होकर इनको जीवन दे रहा है; जो सब जगत् के भीतर काम करता हुआ और किरणोंवाला है। जो रूप जिससे पदार्थों का ज्ञान नेत्रों को होता है, उसको उत्पन्न करनेवाला और प्रत्येक प्राणी में एक ही ज्योति या प्रकाश से विद्यमान और तप रहा है, इन

सबका कारण है । इससे स्पष्ट विदित हो गया कि जगत् में जो क्रिया (हरकत) हो रही है, उसका कारण सूर्य है । अब भोग्य कृत की व्याख्या करते हैं ।

मंत्र–संवत्सरो वै प्रजापतिस्तस्यायने दक्षिणां चोत्तरञ्च । तद्ये ह वै तदिष्टापूर्त्ते कृतमित्युपासते । ते चान्द्रमसमेव लोकमभिजयन्ते । तएव पुनरावर्त्तन्ते, तस्मादेते ऋषयः प्रजाकामा दक्षिणां प्रतिपद्यन्ते । एष ह वै रयिर्यः पितयाणः ॥ ६ ॥

(शब्दार्थ) संवत्सरः = वर्ष । वै = निश्चय । प्रजापतिः = जगत् की रक्षा करनेवाला है, प्रत्येक वस्तु की रक्षा समय पर होती है । तस्य = उस वर्ष के । आयेन=उस वर्ष के वास-स्थान मे घर है । दक्षिण = एक दक्षिणायन जब सूर्य दक्षिण की ओर जाने लगता है । च = और । उत्तरम् च = दूसरे उत्तरायन जब सूर्य उत्तर की ओर जाने लगता है । तत्= उनमें । इह वै=जो मनुष्य निश्चय करके । इष्टपूर्ति=वेदानुकूल यज्ञ, बावली, कूप, सर आदि लगाने । कृतम्=उनके फल की इच्छा रखते हुए । उपासते=करते हैं । ते=वह लोग । चान्द्रंसम्=भोग शक्ति प्रधान । एव=है । लोकम्= शरीर को । अभिजंततय=विजय करते अर्थात् प्राप्त करते हैं । ते=वह । एव=है । पुनरावर्त्तन्ते=बार-बार जन्म लेते हैं । तस्मात्=इन कर्मों से । एते=यह । ऋषयः=ऋषि लोग । प्रजाः कामा = संतान की इच्छा रखते हुए । दक्षिणं = निचला

अर्थात् कुमार्ग पर। प्रतिपद्यन्ते=कर्म करते है। यः=जो। पितृयाण=जो बार-बार जन्म देनेवाला पितादि। एष=यह। ह=किया हुआ। वै=निश्चय। रयि=भोगने-योग्य वस्तु है।

(अर्थ) वर्ष अर्थात् समय का एक भाग प्रजापति है, इसके जाने के दो मार्ग हैं। एक दक्षिण दूसरे उत्तर आदि है। वर्ष तक सूर्य पृथिवी के भूमध्यरेखा से उत्तर की ओर रहता है। अर्द्ध वर्ष तक दक्षिण की ओर अर्थात् प्रजा भी दो प्रकार के काम करती है। एक वह काम जिसका फल जन्म-मरण है, जिसकी अभिलाषा मनुष्यो मे लगी हुई है, जो कर्म प्रत्यक्ष वस्तु के प्राप्त करने के लिये किये जाते है। जिससे यज्ञ करना, कूप, सरित, बावली, वाटिका, उपवन इत्यादि बनवाना। इस तात्पर्य से कि दूसरे जन्म में भी ऐसा मिले, तो मन में इनके संस्कारो के स्थित रहने से अवश्य है। माता, पिता के द्वारा उन पदार्थों को भोगने के अर्थ जन्म लेना पड़ता है। स्वार्थ-वाले कर्म का फल चन्द्रलोक में सफल है। यहाँ चन्द्रलोक से तात्पर्य वह शरीर है जिसमें भोग भोगा जावे इस स्वार्थ से कर्म करनेवाले मनुष्य बार-बार इस ससार मे जन्म लेते हैं, एक शरीर छूटता है, दूसरा तुरन्त मिल जाता है। इस कारण जो ऋषि सन्तानार्थ कर्म करते है वह मुक्ति के अर्थ निष्काम कर्म करनेवाले की अपेक्षा नीच कहलाते है। यद्यपि पाप की अपेक्षा स्वार्थ-कर्म भी जो शुभ है उत्तम है, परन्तु उन कर्मों से जो किसी प्रत्यक्ष स्वार्थ से नहीं किये जाते है, जो केवल धर्म समझ कर किये जाते हैं, उनकी अपेक्षा स्वप्न मे उत्तम कर्मों के अर्थ उत्तर और नीच के लिये दक्षिण का शब्द प्रयोग किया गया है। निदान, जो पितृयाण बार-बार जन्म लेता है और शरीर के भोग को भोगता है, यही भोग्य है, इसको रयि कहा गया है।

मन्त्र--अथोत्तरेण तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया विद्ययात्मानमन्विष्यादित्यमभिजयन्ते । एतद्वै प्राणानामायतनमेतदमृतमभयमेतत् परायण-मेतस्मान्न पुनरावर्त्तन्त इत्येष निरोधस्तदेषः श्लोकः ॥ १० ॥

(शब्दार्थ) अथ=उसके बाद । उत्तरेण=शुभ और उत्तम कर्मों से या ज्ञान-कर्म को दक्षिण मानकर ज्ञान से । तपसा=गरमी सरदी, मान-अपमान, भूक-प्यास और सतादि व्रतो के पालन में जो कष्ट होता है, उस । ब्रह्मचर्येन=वेदानुकूल इन्द्रियों को वश मे रखने से । श्रद्धया=श्रद्धा से । विद्यया=ज्ञान से । आत्मनम्=परमात्मा या जीवात्मा को । अन्विष्या=जानकर । आदित्यम्=सूर्य लोक को । अभि-जयन्त=वश मे करते है । एतत्वै=यही भोगता अर्थात् भोगनेवाले का स्वरूप है । प्राणानाम्=प्राणो को । आय तनम्=ठहरने की जगह है, इसके आधार प्राण स्थित रहते है । एतत्=यही । अमृतम्=नाश रहित । अभयम्=भय रहित । एतत्=यही । प्रायणम्=ज्ञान का अंतिम मार्ग । एतस्मात्=इस आत्मज्ञान से । न=नहीं । पुन आवर्त्तन्त=इस कल्प में लौटते है । इति=अंतिम् । एष=यह निरुद्ध ज्ञान का अन्त है । तत्=उसका वर्णन करनेवाला । एष=यह । श्लोक.=श्लोक है ।

(अर्थ) जो मनुष्य दूसरे नियम पर जिसको देवयान् अर्थात् विद्वानों का मार्ग कहा गया है ; कर्म करके, शीतोष्ण, क्षुधा, तृषा मानापमान को सहन करता हुआ, ब्रह्मचर्य व्रत को

वेदाज्ञानुकूल पालन करने से इन्द्रियो को वश मे रखकर गुरु आज्ञा में श्रद्धा रखता हुआ, रात दिन विचार करके और सत् विद्या के द्वारा आत्मा को जान लेता है, वह आदित्य अर्थात् भोगता के ज्ञान को प्राप्त कर लेता है। यही भोगता अर्थात् जीवात्मा और परमात्मा का ज्ञान है, मनुष्य जीवन का उद्देश मार्ग है। वहाँ पर पहुँच कर प्राणो का काम समाप्त हो जाता है। यही अमृत अर्थात् मुक्ति है। और यही दशा प्रत्येक प्रकार के भय से रहित है। यह इस ब्रह्माण्ड के भीतर ज्ञान की सब से अंतिम पदवी है। जिसके जानने के पश्चात् फिर कुछ जानना शेष नही रहता। जिस प्रकार प्रत्येक जन्म मरकर जन्म लेना पड़ता है और जन्म के पश्चात् मौत आती है। यहाँ पहुँच कर वह क्रम टूट जाता है। इसको प्राप्त करके इस संकल्प के भीतर फिर जीवात्मा जन्म नही लेता। यही ज्ञान इस जन्म मरण के चक्कर का जिसमे फँसा हुआ जीवात्मा दुख उठा रहा है, समाप्त है। इस श्लोक मे इस बात का वर्णन है।

प्रश्न -जबकि जीवात्मा नित्य है, तो वह सदा अमर है। इस दशा में अमृत क्यों कहा गया, जबकि सदा ही अमृत है।

उत्तर—जन्म के अर्थ, जीव और शरीर का संयोग है, और मौत का अर्थ, जीव और शरीर का वियोग है। फिर जन्म के पश्चात् मौत और मौत के पश्चात् जन्म होता है। परन्तु मोक्ष वह अवस्था है, जो मरकर नहीं छूटती, किन्तु जन्म से छूटती है। इसी कारण प्रत्येक योनि मरने से छूटती है और मोक्ष जन्म से छूटता है।

प्रश्न—इस दशा मे मौत और मोक्ष में क्या भेद है, क्योंकि मोक्ष भी जन्म लेने से छूटती है और मौत भी जन्म लेने से।

उत्तर—मौत के समय कर्म विद्यमान होते हैं, जिनके कारण

से भोग-योनि या उभय योनि में जाना अवश्य होता है। परन्तु मोक्ष में कर्म नहीं होते। दूसरे मौत के समय सूक्ष्म शरीर संस्कारों के सहित विद्यमान होता है। परन्तु मोक्ष में सूक्ष्म शरीर और संस्कार विद्यमान नही होते, केवल कर्म-योनि में से मोक्ष से लौटकर जीव आते है।

प्रश्न—बहुत से मनुष्य मोक्ष में भी सूक्ष्म शरीर मन और इन्द्रियों को जीव के साथ मानते हैं।

उत्तर—सूक्ष्म शरीर दो प्रकार का है। एक तो सत्रह तत्त्वो का योग, जो भूतो के अंशो से बना हुआ है। दूसरा जीवात्मा की स्वाभाविक शक्तिरूप सूक्ष्म भूतों का बना हुआ तो पुनर्जन्म में साथ रहता है. परन्तु मुक्ति में दूसरा स्वाभाविक शरीर रहता है, भौतिक नही रहता।

प्रश्न—बहुत मनुष्य भौतिक सूक्ष्म शरीर को भी मुक्ति में जीव के साथ मानते है।

उत्तर—यह केवल अविद्या है, क्योंकि यदि भौतिक शरीर मुक्ति मे भी नाश न हो, तो बंधन में किस प्रकार नाश हो सकता है। क्योकि उस समय कर्मों के संस्कार जो भोगने योग्य है, मन मे मौजूद होते है। जो मुक्ति और बंधन दोनों दशाओं मे नाश न हो, वह नित्य हो जावेगा। जब सूक्ष्म शरीर नित्य हो गया, तो वह भौतिक कहला नहीं सकता। क्योंकि भौतिक उसे कहते है, जो भूतों के अंशो से बना हो। जो बना है, वह नित्य कहला नही सकता। सम्भव है, बहुत से मनुष्य कहने लगे कि जिस प्रकार वेद बने है और नित्य भी हैं, इसी प्रकार सूक्ष्म शरीर बना भी है और नित्य भी है। परन्तु यह विचार सत्य नही, क्योंकि वेद गुण है। परमात्मा ज्ञान स्वरूप का गुण का गुणी के साथ समवाय सम्बन्ध होता है। अतः जब से परमात्मा तब से उसका ज्ञान वेद भी है।

प्रश्न—जब से परमात्मा है, यदि तब ही से वेद भी है, तो वेद ईश्वर कृत है, क्यों कहते हैं ?

उत्तर—ईश्वर का ज्ञान अनन्त है, उसमे जीवों की मुक्ति के योग्य ज्ञान परमात्मा वेद के द्वारा देते है। अपने अनंत ज्ञान में से विभाग करने के कारण वह वेद के कर्ता कहलाते हैं। विभाग से उत्पन्न हुए से कहलाये और इस उत्पत्ति से पूर्व वैसे ही (जैसे है) विद्यमान होने के कारण नित्य हो सकते है। परन्तु भौतिक सूक्ष्म शरीर संयोग से उत्पन्न होता है। संयोग से उत्पन्न हुई कोई वस्तु नित्य हो ही नही सकती।

मंत्र--पंचपादम् पितरं द्वादशाकृतिं दिव आहुः परे अर्द्धेपुरीषिणाम। अथेमेऽन्य उ परे विचक्षणं सप्तचक्रे षडरआहुरर्पितमिति ॥११॥

(शब्दार्थ) पंचपादम्=पंच ऋतु जिनके पाँव के अनुकूल। द्वादशाकृति=द्वादश मास जिसकी आकृति। पितरम्=रक्षा करनवाले। दिवा=सूर्य से ऊपर का आकाश। आहुः=कहते है। परे=परली ओर के। अर्द्धे=अर्द्ध भाग में। पुरीषिणम्=जिसके साथ जल का कारण कार्य भाव का सम्बन्ध है अर्थात् वर्षा का कारण है। अथ=अब और। अन्ये=दूसरे विद्वान्। परे=उस वर्ष को जो काल का उत्तम भाग है। विचक्षणं=जो विशेषता के साथ दूसरों को दिखला सकता है सप्तचक्रे=जो भू आदि सप्त लोको मे घूमता है अथवा सात रंगों की जिसकी किरणे है। षडर=षटऋतु जिस वर्ष के अङ्ग है। आहुः=कहते हैं। अर्पितम्=रथ मे जिस प्रकार नाभी लगी होती है, ऐसे लगा हुआ।

(अर्थ) जिस वर्ष को प्रजापति बताया था, अब उसका लक्षण बताते है कि वह संसार में पंच ऋतुओं को पिता की भाँति उत्पन्न करता और रक्षा-पूर्वक नियम में चलाता है। यद्यपि ऋतुएँ षट् हैं, परन्तु यहाँ शरद ऋतु को हेमन्त में संयुक्त कर दिया है, क्योंकि दोनो में शीत होता है। केवल न्यूनाधिक का अंतर है, जिसकी आकृति द्वादश मास को एकत्रित करने से प्रकट होती है अर्थात् द्वादश मास का वृत्तान्त है। जिसका वर्षा के साथ उत्पन्न करने का सम्बन्ध अर्थात् जो वर्षा को उत्पन्न करता है। जिसके ऊपर के अर्द्ध भाग में सूर्य के ऊपर का भाग है। दूसरे विद्वान् लोग इस प्रकार भी विभाग करते हैं कि वह काल का उत्तम भाग है, जो षट् ऋतुओं का योग है। जिस प्रकार सूर्य आदि सप्त लोको को अपने सामने घुमाता है और जिस प्रकार रथ की नाभि में आरे लगे होते हैं। उसी प्रकार इस वर्ष के चक्र में यह सब ऋतुएँ और मास इत्यादि लगे हुए हैं।

प्रश्न—लक्षण तो वर्ष का करने लगे थे, परन्तु वर्णन बहुत कुछ सूर्य की परिक्रमा का कर दिया।

उत्तर—सूर्य के परिक्रमा से ही काल अर्थात् समय का विभाग होता है, इस कारण दिन, रात, मास, वर्ष सूर्य की चाल से ही प्रकट होते है।

प्रश्न—क्या सूर्य घूमता है, या पृथिवी? क्योंकि रात दिन इत्यादि भूमि की चाल से उत्पन्न हुए माने जाते हैं। इसे सूर्य की चाल क्यों लिखा?

उत्तर—यहाँ उपचार से दिखलाया है, जैसे रेल में बैठकर जब लाहौर पहुंचते हैं, तो कहते हैं लाहौर आ गया। यहाँ आना लाहौर में है, या रेल में? आना रेल में है, परन्तु कह लाहौर में देते हैं।

मंत्र--मासो वै प्रजापतिस्तस्य कृष्णपक्ष एवरयिः। शुक्लः प्राणस्तस्मादेते ऋषयः शुक्ल इष्टिं कुर्वन्तीतर इतरस्मिन् ॥ १२ ॥

(शब्दार्थ) मासा=मास जो है। व=निश्चय करके। प्रजापतिः=प्रजा का स्वामी उत्पत्ति कर्ता है। तस्य=उसका। कृष्णपक्ष=अँधेरा पक्ष जो है। एव=है। रयि=भोगने योग्य वस्तु है और। शुक्लपक्ष=चंद्रपक्ष। प्राणः=भोगता है। तस्मात्=इस कारण से। एते ऋषयः=यह ऋषि लोग। शुक्ले=उजाला पक्ष। इष्टि=यज्ञ को। कुर्वन्ती=करते हैं। इतरे=जो वेद के ज्ञान से शून्य है। इतरस्मिन्=कृष्ण पक्ष मे यज्ञ करते है।

(अर्थ) जो गुण अवयवों मं न हो, वह कुल में हो नहीं सकता। अतिरिक्त पॉच गुणों के इस हेतु वर्ष के भाग मास है। उनसे प्राण अर्थात् भोगता योग्य वस्तु की तकसीम दिखाते हैं कि कृष्णपक्ष है और शुक्लपक्ष प्राण है। तात्पर्य यह है कि जिसमें ज्ञान है, वह भोगता, और जो ज्ञान से रहित है, वह भोगने योग्य वस्तु है। जो मनुष्य वेदों के ज्ञाता है, वह ज्ञानानुकूल यज्ञादि सब कार्य करते हैं। वह शुक्लपक्ष में यज्ञ आदि कर्म करते हैं और जो मनुष्य ज्ञान से रहित है, वह वेद के विरुद्ध कर्म करके दुख पाते हैं। क्योंकि जो अँधेरे में चलता है, वह निश्चय मार्ग पर नहीं पहुँच सकता, प्रायः ठोकर खाता है। और जो प्रकाश में अर्थात् उद्देश और पथ को देखकर कर्म करता है, वह सफलता को प्राप्त होता है। देखकर चलनेवाले को ठोकरें भी नही मिलतीं। तात्पर्य यह है, दो शक्तियें मार्ग पर ले जानेवाली होती हैं। एक नेत्र, दूसरे सूर्य। जो इन दोनो

को काम में लाता है, वह दुःखों से बच जाता है। जो अँधेरे में चलता है, या दिन के समय नेत्र बन्द करके चलता है, दोनों दशाओं में हानि उठाता है। इस हेतु आत्मिक मार्ग समाप्त करने के हेतु वेद और बुद्धि दोनो के अनुकूल कर्म करना चाहिये। यदि वेद के अर्थों को विना बुद्धि से काम लिया जावे या बुद्धि को विना वेद के काम में लाया जावे, तो दोनों अवस्थाओं में सफलता नही हो सकती। ऐसी भूल में सम्पूर्ण संसार के मनुष्य लिप्त हुए दुख पा रहे है।

मंत्र—अहोरात्रो वै प्रजापतिस्तस्याहरेव प्राणो रात्रिरेव रयिःप्राणं वा एते प्रस्कन्दन्ति। ये दिवा रत्या संयुज्यन्ते, ब्रह्मचर्यमेव तद्य-द्रात्रौ रत्या संयुज्यन्ते ॥ १३ ॥

(शब्दार्थ) अहोरात्रः=दिन रात। वै=निश्चय करके। प्रजापतिः=संसार के प्रबंध के चलानेवाले है। तस्य=उसका। अहएव=दिन ही। प्राण=प्राण अर्थात् भोगता शक्ति है। एव=ही। रात्रि=रात। रयि=भोगने योग्य वस्तु है। प्राणं=प्राणो को। दिवा=जो मनुष्य। एते=यह। प्रस्कन्दन्ति=सुखाते या विनाश करते है। यः=जो। दिवा=दिन। रत्या=स्त्री से। संज्यन्ते=सम्बन्ध करते है। ब्रह्मचर्य=ब्रह्मचर्य। एव=भी है। तत्=वह। यत्=जो। रात्रौ=रात के समय। रत्या=स्त्री से। सयुज्यन्ते=सम्बन्ध करते है।

(अर्थ) अब रात्रि दिवस और दिवस को जो सूर्य के सम्मुख पृथिवी के परिक्रमा से उत्पन्न होते हैं, प्रजापतिः मान कर कहते हैं कि इनमें से दिन प्राण है, अर्थात् भोगता है, जो

इस भोगनेवाले दिन में भोग करता है, वह अपने प्राणों को हानि पहुंचाता है, अर्थात् जीवन को न्यून करता है। इस कारण दिन के समय भोग करना पाप है। जो मनुष्य रात्रि को सम्बन्ध करते हैं, वह एक प्रकार के ब्रह्मचारी है। क्योंकि इनमे अर्द्ध रात्रि तक विषय-वासना को रोकने की शक्ति है। जितना मन और इन्द्रियों पर अधिकार रख सके और वेदाज्ञानुकूल कर्म करे, यही ब्रह्मचर्य। और जितना वेद-आज्ञा के विरुद्ध इन्द्रियों का दास बनकर कर्म करे, यहीहानिकारक है। निदान, दिन में विषय भोग आत्मा के बल को हानि पहुंचानेवाला है. या शरीर को रोग ग्रसित करनेवाला है। जितना रोका जावे, उतना लाभकारी है। सूर्य या दीपक किस प्रकाश की दशा मे यह प्राणो को हानिकारी है।

मंत्र—अन्नम् वै प्रजापतिस्ततो ह वै तद्रेतस्त-स्मादिमाः प्रजाः प्रजायन्त इति ॥ १४ ॥

(शब्दार्थ) अन्नम् वै=यह गोधूम माष, चावल इत्यादि जो अन्न है। प्रजापतिः=सब जगत् की उत्पत्ति और जीवन का हेतु होने से प्रजापति कहलाता है। ततो हवै=उस प्रसिद्ध अन्न से ही। तत्=उससे। रेतः=स्त्री पुरुष का रज वीर्य्य उत्पन्न होता है। तस्मात्=उस रज वीर्य्य से। इमाः प्रजा =यह जीवयुक्त संसार। प्रजायन्त=उत्पन्न होती है।

(अर्थ) सब जगत् की उत्पत्ति और जीवन का हेतु होने के जैसे अन्न ही प्रजापति है, उस अन्न के खाने से स्त्री और पुरुष जीवों में वीर्य्य और रज उत्पन्न होता है। जिससे सम्पूर्ण प्रत्यक्ष दृष्टि आनेवाली जगत् की उत्पत्ति होती है। क्योंकि विना रज वीर्य्य के संयोग के सृष्टि उत्पन्न होती दृष्टि नहीं आती।

प्रश्न—क्या आदि सृष्टि में जो ऋषि उत्पन्न हुए या यवन-मत के अनुसार जो पैगम्बर उत्पन्न हुए, वह किसके रज-वीर्य से उत्पन्न हुए।

उत्तर—दो प्रकार से सृष्टि उत्पन्न होती हुई दृष्टि आती है। यथा कोई साँचा बनाता है, तो वह साँचे से साँचा नहीं बनाता। किन्तु पहला साँचा हाथ से बनाता है, फिर साँचे से साँचा बनता है। इसी प्रकार आदि सृष्टि में जो मनुष्य उत्पन्न होते हैं, वह प्रकृति माता और परमात्मा पिता के कारण ईश्वर की शक्ति के साथ से उत्पन्न होते हैं। पश्चात् जब मनुष्य साँचा में बन जाता है, तो उनके रज-वीर्य के साथ उत्पत्ति का क्रम आरम्भ होता है।

प्रश्न—क्या, इन ऋषियों को पृथिवी उगल देती है, जो एक साथ युवा उत्पन्न हो जाते है?

उत्तर—रज-वीर्य भोजन से उत्पन्न होता है। भोजन में कहाँ से आता है? परमाणुओं से। अतः परमात्मा क्रिया (हरकत) देकर रज वीर्य बनने योग्य परमाणुओं को नियम से मिला देते हैं, जिससे वह शरीर बन जाते है।

प्रश्न – यह बात समझ में नहीं आती कि एक दम से युवा कैसे उत्पन्न हो जाते है?

उत्तर—जब सूर्य चन्द्र या और पृथिवी जैसे बड़े-बड़े लोक बनते हुए मानते हो, क्या सूर्य थोड़ा-थोड़ा सा मिलकर बना है, अथवा एक दम से? यदि थोड़ा-थोड़ा सा बनता, तो सूर्य सम्बन्धी लोक कभी स्थित नहीं होता। जिस प्रकार यूरुप मे एंजन ढालनेवाले कार्यालय है। एक दम से इतना बड़ा एंजन बड़े-बड़े गार्डर इत्यादि ढल जाते हैं। परन्तु भारतवर्ष में नहीं ढलते। तो क्या यह विचार करना चाहिये कि यह पूर्व बहुत

छोटे उत्पन्न होते है, पुनः पालन पोषण से इतने बढ़ जाते है। यह समझ में न आना केवल परमात्मा की शक्तियो को न जानने का फल है। एक ओर तो बड़े आम की गुठली से आम का वृक्ष होता है, दूसरी ओर बूहर अत्यन्त छोटे बीज से आम से भी बड़ा वृक्ष उत्पन्न हो जाता है।

मंत्र--ये वै ह तत्प्रजातिव्रतं चरन्ति ते मिथुन-मुत्पादयन्ते। तेषामेवैष ब्रह्मलोको येषां तपो ब्रह्मचर्यं येषु सत्यं प्रतिष्ठितम् ॥ १५ ॥

(शब्दार्थ) तत्=वह उपरोक्त कथित। ह=प्रसिद्ध। ये=जो मनुष्य इन्द्रियो को वश मे रखनेवाले। प्रजापतिवर=प्रजा के रक्त व्रत को अर्थात् नियम पूर्वक गर्भाधान आदि। चरन्ति=करते है। ते=वह लोग। मिथुनम्=पुत्र पुत्री दानो प्रकार की संतान को। उत्पादयन्ते=उत्पन्न करते है। तेषाम्=उनके अर्थ ही। ब्रह्मलोक=ब्रह्मज्ञान का दर्शन होता है। येषाम्=जिनका मन। तप=तप। ब्रह्मचर्यम्=इन्द्रियों को रोककर नियम पूर्वक वेदो की शिक्षा पाना। येषु=जिनमें। सत्यं प्रतिष्ठितम्=सत्यव्रत अटल जिनका व्रत कभी न टले।

(अर्थ) जो मनुष्य नियमानुसार इस संसार में संतान उत्पन्न करते हैं अर्थात् व्यभिचार आदि से रहित होकर जो नियम-पूर्वक ग्रहस्थाश्रम करते है, उनकी संतान दोनो प्रकार की होती है। जो मनुष्य नियम-विरुद्ध व्यभिचार आदि करते है, वह सन्तान रहित इस संसार से चल देते हैं। वही मनुष्य ब्रह्मज्ञान के द्वारा मुक्ति के आनन्द को प्राप्त करते है, जो पूर्व ब्रह्मचर्याश्रम नियमानुकूल करके और विद्या से आत्मा को दृढ़ बना लेते हैं, अथवा तप से। और ब्रह्मचर्याश्रम और गृहस्था-

श्रम, बानप्रस्थाश्रम इन तीनों को वेद के अनुकूल दृढ़ व्रत होकर करते है। जिनके भीतर ईश्वर-विश्वास दृढ़ता पूर्वक स्थित होता है कि जिसको कोई गिरा ही न सके। ईश्वर-विश्वास संन्यासाश्रम में दृढ़ होता है। अतः मुक्ति के परमानन्द को वही मनुष्य प्राप्त करते हैं, जो चारो आश्रम ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, बान-प्रस्थ और संन्यास वेद की आज्ञानुकूल मार्ग से न गिरते हुए कर्म करते हैं। और जो मनुष्य आश्रम व्यवस्था को तोड़ने अथवा अवैदिक रीति से आश्रम ग्रहण करने हैं, वह मुक्ति को प्राप्त नहीं कर सकते।

मंत्र—तेषामसौ विरजो ब्रह्मलोको न येषु जिह्ममनृतं माया चेति ॥ १६ ॥

(शब्दार्थ) तेषाम् = उन मनुष्या के लिये। असौ = उपरोक्त शरीर छोड़ने के पश्चात् प्राप्त होनेवाला। विरजः = सब प्रकार के दोषों से रहित। ब्रह्मलोको = ब्रह्म देश है। न = नही। येषु = जिनमें। जिह्म = छल कपट धूर्तता इत्यादि। अनृतम् = मिथ्या काम। न = नही। माया = आत्मा के विरुद्ध। च = और। इति = यह प्रथम प्रश्न समाप्त हुआ।

(अर्थ) वही मनुष्य परमात्मा के दर्शन करने के योग्य है कि जो छल कपट धोका आदि हर प्रकार से रहित हैं, न जिनमें पालसी है। जो किसी प्रकार के मिथ्या कर्म करते हैं, विना ज्ञान के अन्य पदार्थों की उपासना करते है, और न आत्मा के विरुद्ध मानते और न करने को उद्यत होते हैं। जो मनुष्य इन दोषों से रहित होकर चारों आश्रमों को पूरा करते हैं, वह मुक्ति को प्राप्त कर सकते है, अन्य नहीं।

अथ द्वितीय प्रश्न

मंत्र–अथ हैनं भार्गवो वैदर्भिः पप्रच्छ । भगवन् ! कत्येव देवाः प्रजां विधारयन्ते कतर एतत् प्रकाशयन्ते, कः पुनरेषां वरिष्ठ इति ॥ १ । १७ ॥

(शब्दार्थ) अथ=कात्यायन के प्रश्नोत्तर के पश्चात् । एनं=इन पिप्पलाद ऋषि को । भार्गवः=भार्गव ऋषि के गोत्र में उत्पन्न हुआ । वैदर्भि=वैदर्भि के पुत्र ने । पिप्रच्छ=पूछा । भगवन्=हे गुरु महाराज । कति=कितने । एव=ही । देवाः=देवता । प्रजा=प्रजा को । विधारयन्ते=स्थापित रखते हैं । कतरः=कितने । एतत्=इस जगत् को । प्रकाशयन्ते=प्रकाशक । कः=कौन । पुनः=फिर । एषाम्=इनमें । वरिष्ठ=उत्तम है । इति=इस प्रकार पूछा ।

(अर्थ) जब कात्यायन के प्रश्न का उत्तर पिप्पलाद ऋषि दे चुके, तो भार्गव गोत्र में उत्पन्न हुआ वैदर्भि नामी ऋषि ने प्रश्न किया कि महाराज इस जगत् को विशेष धारण करनेवाले कितने देवता हैं? क्योंकि कोई वस्तु स्वयम् विना कर्ता के कभी स्थित नही हुआ करती और जो उत्पन्न होती है, वह किसी के विना रह नहीं सकती । कौन से देवता हैं, जो मुक्ति रूप होकर उस प्रजा की अनेक प्रकार की आकृति को स्थित रखते हैं और कौन उसको प्रकाशित करते है ? फिर उन देवताओं में सर्वोत्तम कौन सा देवता है । इस एक प्रश्न में तीन प्रश्न हैं । प्रथम इस जगत् की आकृति कौन धारण करता है, अर्थात् इस जगत् का

उपादान कारण क्या है ? द्वितीय यह कि कौन इसको प्रकाशित करता है, अर्थात् इसमें जो ज्ञान है, उसका साधन क्या है ? तृतीय इन सब देवताओं में सब से उत्तम देवता कौन है ? इसका उत्तर ऋषि देते है।

मंत्र--तस्मै स होवाचाकाशो ह वा एष देवो वायुरग्निरापः पृथिवी वाङ्मनश्चक्षुः श्रोत्रञ्च। ते प्रकाश्याभिवदन्ति वयमेतद्बाणमवष्टभ्य विधारयामः ॥ २ । १८ ॥

(शब्दार्थ) तस्मै=उस वैदर्भि को। स=वह पिप्पलाद ऋषि। हो वाच=स्पष्ट कहने लगे। हुवै=निश्चय करके आकाशः=आकाश। एष देव=यह प्रकाश मान। वायु:= वायु। अग्निः=अग्नि। आपः=जल। पृथिवी=भूमि। वाक्= जिह्वा। मन=मन। चक्षु=नेत्र। श्रोत्रम्=कान। च=और। ते=वह। प्रकाश्य=निज महिमा को प्रकाशित करते हुए। अभिवदन्ति=कहते है। वयम्=हम भी। एतत्=इसके। बाणम्=इसके ठहरने मे संदेह है। अवष्टभ्य=रोककर। विधारयामः=विशेषता के सहित धारण करते है।

(अर्थ) पिप्पलाद ऋषि ने स्पष्ट उस वैदर्भि ऋषि से कहा, निश्चय करके पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाश यह पंचतत्त्व इस शरीर के उपादान हैं। और वाक्, हस्त, पाद, उपस्थ तथा लिंगेन्द्रिय मिलाकर पाँच कर्मेन्द्रियाँ और मन अर्थात् चारों प्रकार के अन्तःकरण जिसे मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार कहते है, जो मन की चार प्रकार की अवस्था हैं। और आँख, कान, नाक, रसना, त्वचा इत्यादि ज्ञानेन्द्रियाँ यह अभिमान से कहते

हैं कि जिस प्रकार उस मकान की छत को जिसके गिरने का संदेह हो, शहतीर के थुने देकर स्थित रखते है। ऐसे ही हम इस शरीर को स्थित रखते है। यद्यपि मन और इन्द्रियाँ प्राण सब जड़ हैं, परन्तु अलंकार रूप से जो उनका शास्त्रार्थ है, उसको प्रकाशित करते है, जिससे सत्यज्ञान के जाननेवालो को विदित हो जावे कि आन्तरिक अवस्था क्या है। इस कारण इस प्रश्न के उत्तर में ऋषि प्राण और इन्द्रियों का शास्त्रार्थ दिखलाते हैं।

प्रश्न—श्रुति ने केवल वाणी पृथक् इन्द्रिय लिखी। तुम ने पाँचो कर्म इन्द्रियाँ किस प्रकार ग्रहण की और मन लिखा है। उसके चारों प्रकार के अन्त.करण और आँख कान से सब कर्म इन्द्रियाँ कैसे ग्रहण कीं ?

उत्तर—लक्षण आदि से उस प्रकार की वस्तुओं का ग्रहण होता है। इसलिये उपपक्ष अर्थात् एक एक दो दो वर्णन करके आगे श्रुति ने सब का लक्षण दे दिया है। जिससे सब कर्म-इन्द्रियाँ, ज्ञान इन्द्रियाँ और चारो प्रकार के अन्तःकरण लिये जा सकते है।

प्रश्न—जड़ इन्द्रियो में अभिमान कैसे हो सकता है ? जब अभिमान हो ही नही सकता, तो अभिमान से कहना क्यों लिखा ?

उत्तर—अभिमान न तो चेतन्य अर्थात् ज्ञान स्वरूप को होता है और न जड़ को होता है। किन्तु सदा न्यून विद्यावाले को होता है। सो यह इन्द्रियाँ, जो अल्पज्ञानी जीवात्मा की शक्ति से क्रिया (हरकत) पाती हैं, अहंकारी अर्थात् अभिमानी कहला सकती है।

मंत्र--तान् वरिष्ठः प्राण उवाच मा मोहमा-

पद्यथाऽहमेवै तत्पञ्चधाऽऽत्मानं प्रविभज्यैतद्बाण-मवष्टभ्य विधारयामीति ॥ ३ । १६ ॥

(शब्दार्थ) तान्=उन इन्द्रिय रूप देवतो को। वरिष्ठः=इनमे सब से उत्तम । प्राणः=प्राणों ने । उवाच=कहा । मा=मत । मोहं=मोह । आपद्यथ=अभिमान से भूल मत करो । अहम्=मै । एव=है । एतत्=इस प्रत्यक्ष। पंच धात्मानं=इस पॉच प्रकार के प्राण अर्थात् प्राण, अपान, समान, उदान व्यान । प्रविभज्य=विभाग करके। एतत् = इस। बाणम् = शरीर को । अवष्टभ्यः = रोककर । विधारयामि = धारण करता हूँ।

(अर्थ) इन्द्रियो के इस अभिमान को देखकर उनमें से सब से श्रेष्ठ जो प्राण है, उसने कहा—हे इन्द्रिय रूप देवतों ! तुम अज्ञान से भूल में मत पड़ो। इस शरीर को तुम धारण नही करते कि तुम्हे स्वयम् आपको पाँच प्रकार से विभाजित करके अर्थात् एक प्राण, द्वितीय अपान, तृतीय व्यान, चतुर्थ समान, पंचम उदान रूप होकर, इस शरीर को गिरने से रोक कर धारण करता हूँ। तुम इसको धारण करनेवाले नहीं किंतु मैं हूँ। अब यह शास्त्रार्थ आरम्भ हुआ कि शरीर को धारण करनेवाला कौन है ? इन्द्रियो का पक्ष है कि शरीर हमारे कारण से स्थित है। और प्राणों का पक्ष है कि शरीर हमारे कारण से स्थित है। आगे चलकर प्रमाणों से निर्णय होगा। क्योंकि इस सिद्धान्त के साथ मनुष्य-जीवन का बहुत बड़ा सम्बन्ध है कि मनुष्य का इन्द्रियों के विषयो के भोगने से जीवन होता है । अथवा प्राणों की रक्षा। प्राणायाम इत्यादि और प्राणो को ठीक रखनेवाला भोजन हो। और अन्य सामान से आगे इस विचार को देखते हैं।

मंत्र—तेऽश्रद्दधाना वभूवुः सोऽभिमानादूर्ध्व-मुत्क्रमत इव तस्मिन्नुत्क्रामत्यथेतरे सर्व एवो-त्क्रामन्ते तस्मिथ्ंश्च पतिष्ठमानेसर्व एव प्राति ष्ठते। तद्यथा मक्षिका मधुकरराजान मुत्क्रामन्तं सर्वा एवोत्क्रामन्ते तस्मिथ्ंश्च पतिष्ठमाने सर्वा एव प्रातिष्ठन्त एवं, वाङ्मनश्चक्षुः श्रोत्रञ्च ते प्रीताः प्राणं स्तुन्वन्ति ॥ ४ । २० ॥

(शब्दार्थ) ते=वह इन्द्रिय रूप देवता। अश्रद्दधाना = श्रद्धा से शून्य। वभूवु=हो गये या उन्होंने अपना काम छोड़ दिया, जिससे शरीर नष्ट हो जावे, इस पर वह प्राण। अभि-मानात्=अभिमान से। उर्ध्वमुत्क्रमतः=शरीर को छोड़कर चल दिया। तास्मिन्=उस प्राण। उत्क्रामयथ=उठकर जाने से। इतरे=अन्य सब देवता अर्थात् इन्द्रियाँ। सर्व एवोत्क्रा-मन्ते=सब छोड़कर चल दिये। तस्मिनप्रतिष्ठमाने=उसके आ जाने पर। सर्व=सब इन्द्रियाँ। एव=है। प्रातिष्ठते=ठहर गये। तत्=वह। यथा=जैसे। मक्षिका=मधु मक्खी। मधुकर राजान= मक्खियों के राजा के। उत्क्रामन्त=उठत ही। सर्वा=सब। एव=ही। उत्क्रामन्ते=उठकर चल देती है। च=और। तस्मिन्=उसके। प्रतिष्ठमाने=ठहरने पर। सर्व=सब। एव= ही। प्रातिष्ठते=ठहर जात है। एवम्=इसी प्रकार। वाक्= वाणी। मनः=मन। चक्षुः=नेत्र। श्रोत्रम्=कान। च= और। ते=वह। प्रीताः=प्राण को अपना जीवन समझकर। प्राणः=प्राण को। स्तुवन्ति=प्रशंसा करते है।

(अर्थ) जब प्राण ने कहा कि मै इस शरीर को रोकनेवाला हूँ। तब इन्द्रियों ने इसको बड़ा मानकर, निज कार्य को त्याग दिया, यह शरीर नेत्र के जाने से अन्धा हो गया, परन्तु जीवित रहा। कान के काम न करने से बधिर हो गया, परन्तु जीवित रहा। वाणी के काम न करने से गूंगा हो गया, परन्तु जीवित रहा। हाथ के काम न करने से लूला हो गया, परन्तु जीवित रहा। इसी प्रकार प्रत्येक इन्द्रिय के काम त्याग देने से जीवित बना रहा। इन्द्रियों की इस दशा को देखकर प्राण ने अपना बल दिखलाने के अर्थ अभिमान से शरीर को त्याग दिया। क्योंकि विना प्राण के इन्द्रियों को रक्षार्थ जिस रस की आवश्यकता है, वह रस किस प्रकार मिल सकता था। प्राण ही भोजन को पचा करके सम्पूर्ण शरीर को विभाजित करता है, जिससे इन्द्रियाँ भी जीवित रहती हैं। जब प्राण के साथ ही इंद्रियाँ शरीर को त्याग कर चली गई तो प्राण फिर शरीर में आ गया। जिसके साथ ही इन्द्रियाँ पुनः आ गई। क्योंकि इन्द्रियाँ विना प्राणों कुछ कर ही नहीं सकतीं। जिस प्रकार मधु के छत्ता मे जो मक्षियों की रानी होती है, जब तक वह छत्ते में रहती है, तब तक मक्खियाँ बैठी रहती है और जब वह रानी छत्ते को त्याग कर चल दे, साथ ही मक्खियाँ भी चली जाती है। जहाँ रानी बैठजावे, वहीं सब बैठ जाती हैं। ऐसा ही सम्बन्ध प्राण और इन्द्रियों का है। जहाँ प्राण होगे, वही इन्द्रियाँ काम कर सकती हैं। यदि प्राण न हों, तो इन्द्रियाँ कुछ कर ही नही सकतीं। मन और इन्द्रियों को वश में करने के लिये प्राणों को वश में करना आवश्यक है। जब तक प्राण वश में न आ जावें, मन और इन्द्रियाँ वश में आ ही नहीं सकतीं। प्रत्येक कर्म जो इस शरीर से होता है, उसका मूल प्राण है। क्योंकि प्राण ही से सम्पूर्ण शरीर क्रिया करता है। जब इन्द्रियों ने देखा कि

हमारा तो जीवन ही प्राणों के साथ है, जब तक प्राण रहेंगे तब ही तक हम जीवित रह कर काम कर सकती है। और जहाँ प्राण पृथक् हुए, हम इस शरीर में रह ही नहीं सकती। तब प्राणों को अपना जीवन समझ कर उसकी प्रशंसा (बड़ाई) करने लगीं। ब्रह्मविद्या के जाननेवालों ने इस ज्ञान से भी इसे योग दिया कि हम प्राणायाम आदि करके जीवन को भी स्थित रख सकते है। और मन तथा इन्द्रियों के द्वारा जो दोष उत्पन्न होते है, उनको भी रोक सके।

मन्त्र—एषोऽग्निस्तपत्येष सूर्य एष पर्जन्यो मघवानेष वायुरेष पृथिवी रयिर्देवः सदसच्चाऽमृतंचयत् ॥ ५ । २१ ॥

(शब्दार्थ) एष=भोगनेवाले प्राण। अग्नि=आग हो कर। तपति=तपता है, यदि प्राण अर्थात् वायु न हो, तो अग्नि नहीं जल सकती। एष=यही। सूर्यः=सूर्य ही। एष पर्जन्यो=इस प्राण के कारण से वर्षा होती है। एष=यही प्राण। मघवान्=अनेक प्रकार के धन को उत्पन्न करता है। एष= यही। वायुः=ले जानेवाला वायु है। एष=यही प्राण। पृथिवी=पृथिवी की भाँति प्रत्येक वस्तु को रोकता है। अयिर्देवः=यही सब को भोगता है। सत्=कारण रूप। असत=कार्य रूप। अमृतम्=नाश से रहित कारण रूप। च=और। यत्=जो है।

(अर्थ) प्राण का लक्षण करते हैं कि यह अन्न ही अग्नि की गरमी का कारण है। क्योंकि वायु से ही अग्नि उत्पन्न होती है। जहाँ प्राण वायु न हो, वहाँ अग्नि जल ही नहीं सकती। यदि, घड़े के भीतर जहाँ वायु न लगे, दीपक जलाकर रख दिया जावे,

तो बहुत शीघ्र (तुरन्त ही) बुझ जाता है। कारण यह है कि प्राण वायु इधर उधर से अग्नि के परमाणुओं को लाकर सम्मिलित नहीं करता। सूर्य तो प्राणरूप है, क्योंकि सूर्य भी अग्नि का बीज है और अग्नि प्राण से उत्पन्न हुई। अतः सूर्य भी प्राण से ही उत्पन्न हुआ है। यही प्राण वायु स्वरूप है और इसके कारण से पृथिवी स्थित है, यही प्राण पृथिवी का काम देता है। क्योंकि सब शरीरों को जिस प्रकार पृथिवी स्थित रखती है, इसी प्रकार प्राण ही शरीरों के धारण करनेवाला है। निदान, जो कारण कार्यरूप अर्थात् मूर्त्ति से रहित और मूर्त्तिमान या गैस द्रव और ठोस जगत् है, उस कारण का कारणरूप प्राण है।

मंत्र–अराइव रथनाभौ प्राणे सर्वं प्रतिष्ठितम्। ऋचो यजूꣳषि सामानि यज्ञः क्षत्रं ब्रह्म च ॥ ६ । २२ ॥

(शब्दार्थ) अराइव = जैसे आरे। रथनाभौ = रथ की नाभि में लगे होते हैं। प्राणे = प्राणों में। सर्वं = सब। प्रतिष्ठितम् = ठहरे हैं। ऋचः = स्तुति। यजूंषि = कर्मकाण्ड। सामानि = उपासना। यज्ञ = देव-पूजा, दान आदि। क्षत्रं = बल। च = और। ब्रह्म = ज्ञान।

(अर्थ) जिस प्रकार रथ के पहियों की नाभि में आरे लगे होते हैं, जो नाभि के बिना स्थित नहीं रह सकते। ऐसे ही सम्पूर्ण पदार्थ प्राणों से स्थित रहते हैं। ऋग्वेद जिससे स्तुति की जाती है, वह प्राणों से स्थित है। यजुर्वेद जिससे क्रिया होती है, वह भी प्राणों ही से स्थित है। और सामवेद जिससे उपासना होती है, वह भी प्राणों के कारण से है। यज्ञादि कर्म भी प्राणों ही के द्वारा होते हैं। शरीर में जो बल स्थित है, वह

भी प्राणो के ही कारण से है। निदान, बाह्य पदार्थों का ज्ञान जिससे ब्राह्मण बनते हैं, वह भी प्राण वायु के ही आधार से है। तात्पर्य यह है कि चाहे किसी प्रकार का काम या ज्ञान करना हो, वह प्राणधारी जीव ही कर सकता है, प्राण से रहित जीवात्मा सब कामो से शून्य होता है। अर्थात् वह कुछ काम नही कर सकता। ज्ञान, बल, यज्ञ, स्तुति, कर्म, उपासना सब प्राणों से ही हो सकते है। अर्थात् जो जीव का लक्षण है कि वह ज्ञान तो स्वाभाविक रखता है, अन्य कामो को यंत्रो से कर सकता है। जिस यंत्र से जीव काम करता है, वह प्राण ही है। अतएव प्रत्येक योनि में रहता हुआ जीव, प्राणी कहलाता है। जो कुछ वृद्धि, क्षय, उत्पत्ति, कमी इत्यादि विकार है, सब प्राणो के कारण से ही हैं।

मंत्र—प्रजापतिश्चरसि गर्भे त्वमेव प्रतिजायसे। तुभ्यं प्राणः ! प्रजास्त्विमा वलिं हरन्ति यः प्राणैः प्रतितिष्ठसि ॥ ७। २३ ॥

(शब्दार्थ) प्रजापतिः=सम्पूर्ण उत्पन्न हुए संसार के पालन कर्ता होने से प्रजापति प्राण का नाम है। चरसि= क्रिया करता है या रहता है। गर्भे=माता के गर्भ। त्वमेव=तू ही। प्रतिजायसे=तूही संतान रूप में उत्पन्न होता है। तुभ्यं=तेरी रक्षार्थ। प्राण=हे प्राण। प्रजाः= संसार। त्वं=तू भी। इमा=यह। वलिम्=ग्रास। हरान्ति= खाते हैं। यः=जो। प्राणे=पाँच प्रकार के प्राणों रूप से अर्थात् प्राण, अपान, समान, उदान, व्यान, रूप से शरीर में। प्रतितिष्ठसि=स्थित होकर रह सकते है।

(अर्थ) इस शरीर में जितने काम होते हैं, उन सब का

कारण प्राण है । जीव तो केवल नियम मे रखनेवाला है, शेष सब क्रिया प्राणों से होती है । प्राण ही माता के उदर में जाकर लोथड़ा बनाते हैं, प्राण ही पुत्र पुत्री के रूप में उत्पन्न होकर बाहर दृष्टि पड़ने हैं । यह सब जगत् पशु और पक्षी तथा जीव जन्तु प्राणो की रक्षार्थ ही भोजन करने है, क्योकि क्षुधा, तृषा प्राणों का ही धर्म है । यदि प्राणों को उसकी भोग वस्तु न दी जावे, तो भूख, प्यास से शरीर समाप्त हो सकता है , प्राण ही खानेवाला है ।

मंत्र—देवानामसि वह्नितमः पितृणां प्रथमा स्वधा । ऋषीणां चरितं सत्यमथर्वाङ्गिर-सामसि ॥ ८ । २४ ॥

(शब्दार्थ) देवानाम्=देवतो मे । असि=है । वह्नितम= बहु प्रकार के कामो को चलानवाला। पितृणां=उत्पन्न करनेवालों मे । प्रथमा=सब से पहला । स्वधा=कल्याण-कारक । ऋषीणां=ऋषियो मे । चरितं=कर्म काण्ड । सत्यं= सत्य । अथर्व अंगिरसाम=निश्चयात्मक ज्ञानवाले तपस्वी मनुष्यों मे। असि= है ।

(अर्थ) जितने वसु, रुद्र, आदित्य देवता है, उनमें तू सब से अधिक आवश्यक है । क्योकि विना तेरे उनकी सत्ता से जीवों को लाभ नहीं पहुंच सकता । जितने देवता हमको लाभ पहुँचाते हैं, वह तब ही हो सकता है, जब कि शरीर में प्राण हो । क्योंकि प्राणों के विना शरीर शिथिल रहता है । और संतान उत्पन्न करनेवाला पुत्रों में भी तुही सब से प्रथम है । क्योंकि प्राण के विना संतान उत्पन्न नहीं हो सकती । जिसमें प्राण हैं, वही संतान पैदा कर सकता है । और ऋषियों

में तप और कर्म किया जाता है, वह भी प्राणों के द्वारा ही होता है। सब से श्रेष्ठ कर्मयोग है, वह प्राणों के रोकने और नियम के अनुकूल चलाने के विना नहीं हो सकता। अर्थात् ऋषि प्राणों से ही बनते हैं। और जो मनुष्य अंगिरा ऋषि पर प्रकट होनेवाले अथर्ववेद से सत्य को निश्चय करते हैं, इसमें भी यही कारण है।

प्रश्न—यहाँ सत्य के साथ अथर्ववेद का क्यों सम्बन्ध प्रकट किया ?

उत्तर—ऋग्वेद पदार्थों का डेफीनेशन अर्थात् लक्षण बताता है। जिसको जागृतावस्था श्रवण ज्ञानकांड और ब्रह्मचर्याश्रम के साथ उपमा दी गई है। और यजुर्वेद यज्ञ आदि कर्मों की विधि को बतलाया है। जिससे उससे स्वप्न अवस्था में कर्मकाण्ड और गृहस्थाश्रम के साथ अनुकूलता बतलाई है। वेद उन कर्मों के फलों का गान करता है, जिससे उसे सुषुप्ति अवस्था निधिध्यासन, उपासना काण्ड और वानप्रस्थ आश्रम से प्रकट किया गया। अथर्ववेद उन सबकी रक्षा का विधान बताया है। जिस कारण तुरियावस्था साक्षात्कार विज्ञान काण्ड और संन्यास-आश्रम के साथ विदित किया गया है। साक्षात्कार विज्ञान सत्य है, इस कारण अथर्ववेद के सम्बन्ध से प्रकाश किया गया है।

मंत्र--इन्द्रस्त्वं प्राण ! तेजसा रुद्रोऽसि परिरक्षिता। त्वमन्तरिक्षे चरसि सूर्यस्त्वं ज्योतिषां प्रतिः ॥ ६ । २५ ॥

(शब्दार्थ) इन्द्रः=वर्षा करनेवाला। त्वम्=तू ही। प्राण=हे प्राण। तेजस =तेज शक्ति के कारण से। रुद्र =रुलाने

वाला। असि=है। परिरक्षिता=सब प्रकार रक्षा करनेवाला तू है। जब तक प्राण है, तब तक कोई मर ही नहीं सकता। त्वम्=तू। अंतरिक्षे=आकाश मे। चरासि=हरकत करता है। ज्योतिषांप्रतिः=चन्द्र, सूर्य, तारे इत्यादि जितने प्रकाशक पदार्थ हैं, उन सब का पति अर्थात् रक्षक सूर्य रूप तुही (परमात्मा) है।

(अर्थ) संसार में जिस प्रकार की क्रिया (हरकत) पाई जाती है, वह सब प्राणों के कारण से है। प्राण दो प्रकार के हैं, एक सामान्य, दूसरे विशेष प्राण। सामान्य प्राण से सामान्य क्रिया का और विशेष प्राण से विशेष क्रिया का प्रकाश होता है। और वर्षा सामान्य प्राण से होती है, और उसके कारण का नाम इन्द्र रक्खा गया है। इस कारण कहते हैं कि हे प्राण! वर्षा के हेतु तू इन्द्र है। और जितने जीव होते है, वह सब मृत्यु के कारण रुदन करते हैं, और मृत्यु प्राण के कारण से होती है। जब नियमित प्राण समाप्त हो जाते हैं, तब जीव शरीर से पृथक हो जाता है, जिसका नाम मृत्यु है। और मौत के भय से मनुष्य रुदन करते है। इस हेतु हे प्राण! तू अपनी महान् शक्ति रुदन कर्ता है। और जब तक प्राण विद्यमान है, जीव शरीर को त्याग नहीं सकता। इस कारण जीव के रहने का स्थान जो शरीर है, उसका रक्षक भी हे प्राण! तू ही है। हे प्राण! तू आकाश में घूमनेवाला और सम्पूर्ण सूर्य, चन्द्र, तारे इत्यादि पदार्था का पति है। अर्थात् सामान्य प्राण के द्वारा ही इन सब की सत्ता स्थित है।

मंत्र–यदा त्वमभिवर्षस्यथेमाः प्राण! ते प्रजाः। आनन्दरूपास्तिष्ठन्ति कामायान्नं भविष्यतीति ॥१०। २६॥

(शब्दार्थ) यदा=जब। त्वम्=तू। अभिवर्षस्य=बादलों के जल को पृथ्वी पर डालता ह। अथ=तब। इमाः=यह संसारिक मनुष्य। प्राण=हे प्राण। ते=तेरे। प्रजाः=प्रजा। आनन्दरूपाः=प्रसन्नता की दशा में आकर। तिष्ठन्ति=स्थित होती है। कामायः=आवश्यकता के हेतु। अन्नम्=अन्न। भविष्याति=उत्पन्न हो जावेगा। इति=इस कारण।

(अर्थ) हे प्राण! जब तू बादल से बादल को टकराकर जल को पृथिवी पर गिराता है, तो उस समय सम्पूर्ण जीव चाहे मनुष्य हो, अथवा पशु अन्य जीव जन्तु पक्षी इत्यादि सम्पूर्ण तेरी प्रजा आनन्द स्वरूप हो जाती है। क्योंकि इनको अपने मार्ग पर पहुँचने के लिये जीवन की आवश्यकता है। और जीवनार्थ भोजन की आवश्यकता है। और वर्षा से प्रत्येक जीव की खुराक उत्पन्न होती है। क्योंकि वह देखते हैं कि वर्षा हो गई, अब अन्न घास इत्यादि बहुत हो जावेंगे।

प्रश्न—जो पशु वनस्पति इत्यादि खाते है, उनको तो वर्षा से खुराक पैदा होने की प्रसन्नता होती है। परन्तु मांस भक्षक पशुओं को वर्षा से क्या सम्बन्ध है?

उत्तर—जब घास न हो, तो घास खानेवाले जीव जीवित ही न रहें, तो मांस-भक्षक किसका मांस खावें। अतः सब का जीवन वर्षा पर निर्भर है। जिन देशों में घास उत्पन्न नहीं होती, वहाँ घास भक्षक जीव भी नहीं होते। और जहाँ यह पशु न हों, तो वहाँ मांस भक्षक किस प्रकार रह सकते हैं। अतः कुल संसार वर्षा से प्रसन्न होता है।

मंत्र—व्रात्यस्त्वं प्राणैकऋषिरत्ता विश्वस्य

सत्पतिः । वयमाद्यस्य दातारः पिता त्वं मातरिश्वनः ॥ ११ । २७ ॥

(शब्दार्थ) व्रात्य=संस्कार न करने योग्य । त्वम्=तुही । प्राण=हे प्राण । एक=बहुत से जीवो मे एक आकार का । ऋषि=हर समय चलनेवाला । अत्ताः=प्रत्येक वस्तु का भक्षक । विश्वस्य=सब जगत् का । सत्पतिः=ठीक-ठीक रक्षक । वयम्=हम को । आद्यस्य=अन्न आदि भोजन का । दातारः=दाता । पिता=उत्पादक । त्वम्=तुही । मातरिश्वनः=हे प्राण वायु ।

(अर्थ) हे प्राण ! तू पृथिवी, जल, अग्नि से सूक्ष्म है और उनके गुण तुझ में आ नहीं सकते, इस हेतु संस्कारो की आवश्यकता से रहित है । और तू बहुत से जीवों में एक ही रूप से विद्यमान है । अतः प्रत्येक समय क्रिया (हरकत) करनेवाला और अपने साथ अन्य वस्तुओं को हरकत देनेवाला है, और समस्त जगत् का रक्षक है । यदि तू न हो, तो कोई जीव जीवित नहीं कहला सकता । क्योंकि प्राण का नाम ही जीवन है । और सब इन्द्रियों का पोषक पिता हे प्राणवायु ! तुही है ।

प्रश्न—हम तो वायु को दुर्गंध तथा सुगंध युक्त देखते हैं, फिर वायु को संस्कार क्यो नहीं ?

उत्तर—वायु, जल और मिट्टी के परमाणुओं को उठाकर चलती है, तो वह सुगंध तथा दुर्गंध उन परमाणुओ में है न कि वायु में । क्योंकि सूक्ष्म वायु के भीतर यह दोष नहीं आ सकता ।

मंत्र--या ते तनूर्वाचि प्रतिष्ठिता या श्रोत्रे

या च चक्षुषि । या च मनसि सन्तता शिवां तां कुरु मोत्क्रमीः ॥ १२ । २८ ॥

(शब्दार्थ) या=जो । ते=तेरा । तनुः=विस्तार फैला। वाचि=वाणी । प्रतिष्ठिता=तिष्ठित है । या=जो । श्रोत्रेः=कानो मे । चक्षुषि=नेत्रों मे हें । या=जो । च=और। मनसि=मन मे । सन्तता=मन की वृत्तियो में फैला हुआ है।शिवां = कल्याण-कारक। ताम् = उसको । कुरु = कर । मा = मत । उत्क्रमीः= वहाँ से पृथक् ।

(अर्थ) प्राण ! तेरा जितना विस्तार वाणी में स्थित है, जितना श्रोत्र, नेत्र इत्यादि ज्ञानेन्द्रियो में फैला हुआ है और जितना मन की वृत्तियो में फैला हुआ है, इसी से हमारा कल्याण अर्थात् जीवन है , तू इसको इस स्थान से मत हटा। तात्पर्य यह, ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों में जो काम होता है, वह उसके भीतर रहनेवाले प्राणों के द्वारा होता है। यदि प्राण उस स्थान से पृथक् हो जावें, तो इन्द्रियाँ कुछ भी काम नहीं कर सकतीं अतएव, तुम यदि इन्द्रियों को विषयो से रोकना चाहते हो, तो प्राणो को रोको । क्योंकि प्राणों के रुकने से इन्द्रियाँ रुक जाती है और प्राणो के रुकने से मन भी रुक जाता है । विना प्राणो के रोकने के इनका रोकना कठिन ही नहीं किन्तु असम्भव है ।

मंत्र--प्राणस्येदं वशे सर्वं त्रिदिवे यत्प्रतिष्ठितम् । मातेव पुत्रान् रक्षस्व श्रीश्च प्रज्ञां च विधेहि न इति ॥ १३ । २९ ॥

(शब्दार्थ) प्राणस्य = प्राणों के । इदम् = यह । वशे = वश मे है । सर्वम् = सब कुछ जा । त्रिदिवे = तीन प्रकार के लोकों मे । यत् = जो । प्रतिष्ठतम् = जो स्थित हैं । माता इव = माता की भाँति । पुत्रान् = बेटों को । रक्षस्व = रक्षा कर । श्रीश्च = धर्म की शोभा । प्रज्ञाम् = ज्ञान या बुद्धि । विधेहि = धारण कर । न = हमको । इति = बस ।

(अर्थ) तीनों प्रकार के लोक अर्थात् कर्मयोनि, भोगयोनि, उभययोनि, ऊपर, नीचे या मध्य में जो कुछ स्थित है, वह सब प्राणों के वश में है । किसी योनि को प्राण त्याग आवे, वह अपने काम से रुक जावेगी । रक्त-भक्षण सिंह तब ही तक जीवित है, जब तक उसमें प्राण है । यदि सिंह के शरीर से प्राण पृथक् हो जावें, तब अपना कार्य नही कर सकता । दुग्ध दाता परोपकारी पशु, तब ही तक उपकार कर सकते हैं, जब तक उनमें प्राण है । यदि उनमें प्राण न हो, तो वह कर्म नही कर सकते । मनुष्य तब ही तक शुभाशुभ कर्म कर सकते हैं, जब तक उनमें प्राण है । जब प्राण निकल गये, तब बली, निर्बल, विद्वान् और अविद्वान्, नृप और अनाथ सब समान हो जाते हैं । प्राण तुम्हारे वश में नही, किंतु तुम प्राणों के वश में हो । कोई बड़े से बड़ा राजा कितना ही प्रबंध क्यों न करे, कैसे ही भवन क्यों न बनावे कितनी ही सेना क्यों न रक्खे, प्राणो के आवागमन को रोक नहीं सकता । जब चाहे, प्राण उसके ऐश्वर्य, शासन तथा बल की समाप्ति कर सकते हैं । प्राण इस प्रबन्ध में चलते हैं, जैसे एंजन के भीतर जो ड्रायवर होता है, एंजन की स्टीम उसके वश में होती है । और एंजन स्टीम के वश में होता है । और सब गाड़ियाँ एंजन के आधीन होती हैं । और गाड़ियों पर बैठनेवाले, गाड़ियों के भीतर होते हैं । निदान, प्राणों के आधीन

सब जगत् है। और प्राण, प्राणों के प्राण परमात्मा के आधीन हैं, जिसका विचार वेदान्त-दर्शन और केनोपनिषद् मे कर चुके है। अब दूसरा प्रश्न समाप्त हुआ।

अथ तृतीय प्रश्न

मंत्र—अथैनं कौशल्यश्चाऽश्वलायनः पप्रच्छ। भगवन्! कुत एष प्राणो जायते कथमायात्यस्मिन् शरीरे आत्मानं वा प्रविभज्य कथं प्रातिष्ठते केनोत्क्रमते कथं बाह्यमभिधत्ते कथमध्यात्ममिति ॥ १ । ३० ॥

(शब्दार्थ) अथ=उस वैदर्भि के प्रश्न के पश्चात्। एनम्=उस पिप्पलाद ऋषि को। कौशल्य आश्वलायन=कौशल्य नामी अश्वबल के पुत्र ने। पप्रच्छ=प्रश्न किया। भगवन्=हे गुरु। कुतः=कहाँ से। एष=यह। प्राणः=प्राण। जायते=उत्पन्न होते है। कथम्=कैसे। अथाति=आता है। अस्मिन् शरीरे=इस शरीर मे। आत्मानम्=अपने को। वा=या। प्रविभज्य=विभाग करके। कथम्=कैसे। प्रतिष्ठते=स्थित रहता है। केन=किसके। उत्क्रामते=शरीर को त्याग कर निकलता है। कथम्=कैसे। बाह्यम्=बाहर की वस्तुओ को। अभिधत्ते=धारण करता है। कथम्=कैसे। अध्यात्मम्=भीतरी वस्तुओं को। इति=यह।

(अर्थ) प्रथम तो आचार्य से यह प्रश्न किया कि इस प्रजा को कौन उत्पन्न करता है। फिर पूछा कि इनमें कौन इस

शरीर को स्थित रखता और प्रकाश करता, और कौन सा सब से श्रेष्ठ देवता है। इसके पश्चात् अब प्रश्न हुआ कि यह प्राण जिसको महाश्रेष्ठ बताया है, किससे उत्पन्न होता है। और किस प्रकार इस शरीर मे आता है और किस प्रकार प्राण, अपान, व्यान, समान और उदान होकर किस-किस स्थान मे स्थित होता है। और किसकी शक्ति से शरीर से निकलता है, और किस प्रकार बाह्य पदार्थों को धारण करता है, और किस प्रकार शरीर के भीतर की वस्तु को। इस प्रश्नोत्तर के क्रम से विदित होता है कि प्राचीन काल के विद्वान् किस उत्तम विधि से ज्ञान के मार्ग को पूर्ण करते थे। जिस प्रकार वर्त्तमान काल में अज्ञानी मनुष्य ज्ञानी होने का अभिमान रखते हैं, यह दशा उस समय न थी।

मंत्र--तस्मै स होवाचातिप्रश्नान्प्रच्छसि। ब्रह्मिष्ठोऽसीति तस्मात्तेऽहंब्रवीमि ॥ २ । ३१ ॥

(शब्दार्थ) तस्मै=उसको कौशल को। सः=वह पिप्पलाद ऋषि। होवाच=कहने लगे। इति प्रश्नान्=बहुत कठिन प्रश्नों को। प्रच्छसि=तू पूछता है। ब्रह्मिष्ठ=तू ब्रह्मज्ञान की इच्छा रखनेवाला। असि=है। तस्मात्=इस कारण से। त=तुझको। अहम्=मैं। ब्रवीमि=बताता हूँ।

(अर्थ) इन प्रश्नो को श्रवण कर कौशल से पिप्पलाद मुनि ने कहा कि तुम बहुत कठिन प्रश्नो को पूछते हो और तुम ब्रह्मज्ञान के पूर्ण अभिलाषी तथा अधिकारी हो। अर्थात् इन प्रश्नों को समझने योग्य हो। इस कारण इनका उत्तर तुमको देता हूं। जो जिसके योग्य हो, वह उसको देना आवश्यक है।

इससे स्पष्ट विदित होता है कि अधिकारी को ही उपदेश देना उचित है। जो योग्य नही, उसको उपदेश देने से कोई लाभ नहीं होता। क्योंकि ठीक आशय को तो वह समझ नहीं सकता और जो अर्थ उस उपदेश से निकालना है, निकाल नही सकता, किंतु २ शब्दों को तोते की भाँति उच्चारण करने लगता है। दूसरे मनुष्य उसे ज्ञानी समझते हैं, वास्तव मे ज्ञानी न होने से वह उस कर्म से वंचित रहता है। क्योंकि जिस ज्ञान को निश्चय कर लिया हो, उसी को कर्म द्वारा करते है। क्योंकि बिना निश्चय ज्ञान के कभी कर्म नही होता। नित्यप्रति हम देखते है कि मनुष्य नित्य उपदेश श्रवण करते हैं, परन्तु कर्म उसके विरुद्ध करते है। अन्यों को वैराग्य का उपदेश करने-वाले साधु, स्वयम् धन को जमा करते हैं। पिप्पलाद ऋषि यह उत्तर देते हैं।

मंत्र—आत्मन एष प्राणो जायते। यथैषा-पुरुषे छायैतस्मिन्नेतदाततं मनोकृतेनाऽऽयात्य-स्मिन् शरीरे ॥ ३ । ३२ ॥

(शब्दार्थ) आत्मन=उस सर्व व्यापक परमात्मा से। एष=यह। प्राण.=प्राण। जायते=उत्पन्न होते हैं। यथा=जैसे। एष=इस। पुरुष=पुरुष के होने से। छाया=छाया होता है, और नही होने से नही होता। तस्मिन्=इस प्राण में एतत्=यह आत्मा। आततम्=व्यापक हो रहा है। मनोकृतेन=मन के किये हुए शुभाशुभ वासना से। आयति=आता है। अस्मिन्=इस। शरीरे=शरीर मे।

(अर्थ) पिप्पलाद ऋषि कहते हैं कि इस प्राण का उत्पन्न करनेवाला परमात्मा है। जिस प्रकार शरीर के होने से छाया

होना है और शरीर के न होने से छाया नहीं होता। इसी प्रकार परमात्मा की शक्ति से यह प्राण उत्पन्न होता है, अर्थात् परमात्मा प्रकृति में से प्राण बनाते हैं। जड़ प्रकृति के भीतर संयोग की शक्ति होने से प्राण बनने के नहीं। प्राणों के भीतर परमात्मा व्यापक हो रहा है। जहाँ सामान्य प्राण हैं, वहाँ परमात्मा। और जहाँ विशेष प्राण हैं, वहाँ जीवात्मा, परमात्मा दोनों विद्यमान हैं। और इस शरीर में प्राण मन की शुभाशुभ वासनाओं से आया है। दूसरे स्पष्ट शब्दों में बता दिया है कि उस परमात्मा से ही प्राण, मन और सम्पूर्ण इन्द्रियाँ उत्पन्न हुईं। बिना परमात्मा के प्राण कर्म नहीं कर सकता। सम्पूर्ण जगत् में प्राण व्यापक है, क्योंकि वह जगत् से सूक्ष्म है। परन्तु आत्मा में प्राण व्यापक नहीं, किन्तु प्राणों में आत्मा व्यापक है। और आत्मा ही प्राणों को विभाग करके इस शरीर की घटिका को चलाता है।

प्रश्न – किस प्रकार माने कि प्राणों को आत्मा ने उत्पन्न किया?

उत्तर – प्राण संयोग है, अर्थात् अग्नि से मिश्रित वायु है। संयोग वस्तु बिना मिलाप के हो नहीं सकती। और योग (मिलाप) या तो परमाणु का स्वभाव स्वीकार किया जावे, अथवा नैमित्तिक, यदि परमाणु का स्वभाव संयोग हो, तो कर्म के बिना हो नहीं सकता। अतः परमाणु स्वाभाविक ही संयोग अवस्था में होनेवाले होंगे, अर्थात् स्वयम् क्रिया (हरकत) करते होंगे। जब सब परमाणु गतिमान होंगे, तो उनकी शक्ति परमाणु होने से समान होगी, जिससे क्रिया (हरकत) सम होगी। हरकत के सम होने से उनके मध्य जो अन्तर था, वह कभी दूर नहीं हो सकता, जिससे वह मिल नहीं सकते। यदि

एतान् ग्रामानेतान् ग्रामानधितिष्ठस्वेत्येवमेवै-षप्राणः इतरान्प्राणान् पृथक् पृथगेव सन्नि-धत्ते ॥ ४ । ३३ ॥

(शब्दार्थ) यथा = जैसे। सम्राट् = चक्रवर्ती राजा। अधि-कृतान् = स्वाधीन राजाओं को। अभियुक्तान् = नियत करता है। एतान् = इन । ग्रामान् = इन गाँवो को। एतान् ग्रामान् धितिष्ठस्व = नियम पूर्वक ठहर कर प्रबन्ध करो। इति = ऐसे ही। एवंयन = इस शरीर में। एष = यह । प्राणः = प्राण। इतरान् = दूसरे। प्राणान् = प्राणों। पृथक् = पृथक्। एव = है। सन्निधत्ते = स्थित करता है।

(अर्थ) जिस प्रकार गवर्नमेंट या चक्रवती राजा अपने आधीन राज, या सूबों और रजवाड़ों की सीमा नियत करके उससें प्रबध का काम लेता है। प्रत्येक थानादार अपने थाना की सीमा के भीतर और तहसीलदार तहसील की सीमा में, डिप्टी कमिश्नर प्रांत की सीमा मे, लफटंट गवर्नर देश की सीमा में रहकर सब प्रबन्ध करते हैं, और अपनी पदवी की आज्ञा के अनुकूल ही काम करते हैं। इसी प्रकार सामान्य प्राण शरीर के भीतर अनेक स्थान में अनेक प्राणो को स्थित करके उनसे शरीर के प्रबन्ध का काम लेते हैं। प्रत्येक अपनी-अपनी सीमा मे ही काम करता है। सामान्य प्राण सारे संसार में चक्रवर्ती राजा की भाँति काम करता है और विशेष प्राण अपने-अपने शरीर के भीतर अपने नियमित स्थान पर ही काम करते हैं। तात्पर्य यह है कि आँख, नाक, कान, वाणी, त्वचा, हाथ, पाँव इत्यादि जितनी इन्द्रियाँ काम कर रही हैं, उन सब के भीतर चलानेवाले प्राण ही काम कर रहे हैं। विना प्राणो के

इन्द्रियाँ स्वयम् कुछ काम नही कर सकती, क्योंकि वह जड़ है। जिस प्रकार एंजन में स्टीम को ड्रायवर कायम करता है और प्राण इन्द्रियों को हरकत देते है, उससे सब काम बाहर भीतर के होते है।

मन्त्र–पायूपस्थेऽपानं चक्षुः श्रोत्रे मुखनासिकाभ्यां प्राणः स्वय प्रातिष्ठते मध्ये तु समानः। एषह्येतद्धुतमन्न समं नयति तस्मादेताः सप्तार्चिषो भवन्ति ॥ ५ ॥ ३४ ॥

(शब्दार्थ) पायुपस्थे = उपस्थ और लिंगन्द्रिय। अपानम् = अपान प्राण रहता है। चक्षुः = नेत्र में। श्रोत्र = कान। मुखनासिकाभ्यां = मुख और नाक में। प्राणः = प्राण। स्वयं = स्वयम्। प्रातिष्ठते = स्थित होता है। मध्येत = मध्य मे। समानः = समान वायु रहता है। एष = यह। हि = निश्चय करके एतत् = इसमें। हुतम् = भोग्य। अन्नम् = अन्न। समुत् = सम भाग। नयति = पहुचता है। तस्मात् = इस कारण से। एतत् = यह। सप्त = सात। आर्चिष = प्रकाशक। भवन्ति = होते हैं।

(अर्थ) शरीर में गुदा तथा मूत्र-स्थान में अपानवायु होती है, जो मल मूत्र आदि को नीचे की ओर निकालती है। और नेत्र नासिका, श्रोत्र, मुख में स्वयं प्राण भीतर से बाहर जाता और बाहर से भीतर आता अर्थात् प्राण के आवागमन का यह मार्ग है। और उदर के समीप इनके मध्य समानवायु रहती है। जिससे खाया हुआ भोजन रस बनकर समभाग कुल इन्द्रियों को विभाजित होता है। जो जिस इन्द्रिय का भाग

है, उसको वैसा ही समानवायु के द्वारा मिलता है। उसका नाम समान इसी कारण से है कि वह सब को समान दृष्टि से रस पहुँचाती है। जिस प्रकार सप्तमार्ग जल के निकलने के होते हैं, इसी प्रकार प्राणवायु के निकास के सप्त मार्ग हैं। दो कान, दो नेत्र, दो नासिका, एक मुख, इन सात मार्गों से प्राण शरीर में प्रवेश होता और निकलता है।

मंत्र—हृदि ह्येष आत्मा अत्रैतदेकशतं नाडीनां तासां शतं शतमेकैकस्यां द्वासप्ततिर्द्वासप्ततिः प्रतिशाखानाडीसहस्राणि भवन्त्यासु व्यानश्चरति ॥ ६ । ३५ ॥

(शब्दार्थ) हृदि=हृदय में। हि=निश्चय करके। एष=यह। आत्मा=आत्मा के देखने का स्थान अर्थात् नाभि कमल है। अनु=इस नाभि कमल में। एतत्=इन। एकशतम्=एक सौ एक नाड़ियों का सम्बन्ध है। तासाम=उन नाड़ियों का। शतं=सौ-सौ। एकैकस्यां=फिर उन में से एक एक का। द्वासप्तनिर्द्वासप्तति=बहत्तर-बहत्तर। प्रतिशाखा नाड़ीसहस्राणि=उसकी सहस्रों प्रति शाखा। भवति=होती है। आसु=नाड़ियों में। व्यान=व्यानवायु। चरति=हरकत करता है।

(अर्थ) शरीर के भीतर हृदय आकाश में जहाँ आत्मा का दर्शन होता है, वहाँ नाड़ियों का एक चक्कर होता है, जिसमें १०१ नाड़ी हैं। उन एक सौ एक नाड़ियों के आगे-आगे सौ-सौ शाखें हैं, जो दश सहस्र एक सौ हैं और उनकी ७२,७२ शाखें हैं, फिर उनकी १०००, १००० शाखें हैं। इन कुल ७२७२१०२०१ शाखा में व्यानवायु चक्कर खाता हुआ इस शरीर की रक्षा करता है।

प्रश्न—यहाँ शरीर में इतनी नाड़ियाँ बताईं, इनका प्रमाण क्या? इनको किसी ने देखा है? इनकी गणना भी कठिन है।

उत्तर—शरीर के भीतर का ठीक हाल योगियों को मालूम होता है और इन उपनिषदों के बनानेवाले योगी हैं।

प्रश्न—यहाँ आत्मा को शरीर के एक स्थान मे माना है और छान्दोग्योपनिषद् मे जब शरीर के एक भाग को जीव छोड़ता है, तब वह सूख जाता है। जब दूसरे को छोड़ देता है, तब वह सूख जाता है। जब तीसरे को छोड़ देता है, तब तीसरा सूख जाता है। जब सब शरीर को छोड़ता है, तब सम्पूर्ण शरीर सूख जाता है। जीव के पृथक् हो जाने से यह शरीर मरता है, जीव नही मरता। जिससे जीव शरीर के प्रत्येक भाग में होना पाया जाता है। इन दोनों में कौन सी बात सत्य है?

उत्तर—आत्मा शब्द ही से उसका शरीर में व्यापक होना विदित होता है, परन्तु 'रोहे' वह स्थान है जहाँ पर मन के शुद्ध होने पर उसको देख सकते हैं। इस विचार से उसको हृदय के अंगुष्ठ समान स्थान मे बताया है। यद्यपि पृथिवी के नीचे प्रत्येक स्थान मे जल है, परन्तु लाने को कुआँ, सरिता, नहर इत्यादि ही बताते है, क्योकि और स्थान से मिल नही सकता। सूर्य का प्रतिबिम्ब कुल देश में पड़ता है, परन्तु देखने को शुद्ध दर्पण तथा जल ही बताते हैं।

मंत्र—अथैकयोर्ध्व उदानः पुण्येन पुण्यं लोकं नयति। पापेन पापमुभाभ्यामेव मनुष्य लोकम् ॥ ७ । ३६ ॥

(शब्दार्थ) अथ=इन नाड़ियों में से। एक या=एक में से। ऊर्ध्व=जो तालु से ऊपर की है। उदानः=उदानवायु

रहती है। पुण्येन=अच्छे कर्मों से। पुण्य लोकम्=जिस शरीर में शुभ कर्मों का फल मिलता है अर्थात् विद्वान् कर्मकाण्डी के शरीर में या योगियों के घर में। नयति=ले जाता है। पापेन=पाप करने। पापम्=पाप का फल भोगनेवाली पशु आदि की भोग योनियों में। उभाभ्याम्=यदि पाप अर्थात् शुभाशुभ कर्म दोनों समान हों। एव=इसी प्रकार। मनुष्य लोकम्=मनुष्य के शरीर को प्राप्त करता है।

(अर्थ) इन एक सौ एक बड़ी नाड़ियों में से एक नाड़ी के भीतर उदानवायु चलता है अर्थात् जो नाड़ी नाभि-चक्र से सीधी सर की ओर जाती है जिसको सुखमना नाड़ी के नाम से योगी जन वर्णन करते हैं। उसके द्वारा प्राण जिसका नाम उदान है चलता है और सूक्ष्म शरीर को लेकर शरीर से निकलता है। और इस पर आरूढ़ होकर सूक्ष्म शरीर-सहित जीवात्मा, परमात्मा के नियमानुकूल जिस प्रकार के कर्म होते हैं, उसी प्रकार के शरीर को प्राप्त कर लेता है। जिस मनुष्य ने पुण्य अधिक किये हैं और पाप कम, उसको देवताओं के घर ले जाता है। और जिसने पाप अधिक किये हैं, उसको पशु, पक्षी, कीट, पतंगादि की भोग-योनि में ले जाता है। और जिसके दोनों समान हैं, उसको साधारण मनुष्यों का जन्म मिलता है। इस स्थान पर ऋषि कर्मों का फल भी प्रकाशित करते हैं और विधान भी बताते हैं।

प्रश्न—क्या शुभ कर्मकारक देवता नहीं होते! क्योंकि बहुत से मनुष्य बताते हैं कि जो मनुष्य परोपकार और यज्ञादि शुभ कर्म करते हैं वह स्वर्ग में देवता योनि को प्राप्त होते हैं।

उत्तर—देवता दो प्रकार के हैं, एक तो जड़, दूसरे चेतन देवता। जड़ देवताओं की योनि में तो जीवात्मा जा ही नहीं

सकता, केवल चेतन्य देवताओं के शरीर में ही जायगा। क्योंकि चेतन्य का जड़ हो जाना अपने स्वाभाविक गुण का नाश करना है, जो असम्भव है।

प्रश्न—जड़ देवता कौन से हैं और चेतन्य देवता कौन से हैं?

उत्तर—वसु, रुद्र, और आदित्य आदि ३३ देवता प्रसिद्ध ही जड़ हैं, इनके अतिरिक्त और भी कोई हों। और जितने ज्ञानी पुरुष चेतन्य देवता हैं, जिनके अर्थ विद्वान् ही देवता हैं। शतपथ ब्राह्मण ने बताया है और महाभाष्यकार पातंजलि और उसके टीकाकार कैयट ने भी स्वीकार किया है कि चेतन्य देवता सत्यासत्य के ज्ञाता पंडित हैं। और शंकराचार्य आदि ने बृहदारण्यकोपनिषद् के भाष्य में लिखा है।

प्रश्न—जड़ और चेतन्य दो प्रकार के देवता क्यों स्वीकार करें?

उत्तर—देवता बनानेवाला सतोगुण है, जिन सांसारिक वस्तुओं में सतोगुण के काम अथवा सतोगुण विशेष हों, वह जड़ देवता हैं। और जिन जीवों का मन सतोगुणी हो, वह चेतन्य देवता हैं।

प्रश्न—यदि महाभाष्यादि में विद्वानों को देवता स्वीकार किया गया हो, तो भी वह अप्रसिद्ध देवता हैं। वास्तव में इन्द्रादि ही देवता हैं, जो प्रसिद्ध हैं। अतएव, प्रसिद्ध अर्थ को ही लेना उचित है।

उत्तर—वास्तव में विद्वान् देवता ही प्रसिद्ध अर्थ है, इंद्रादि शब्द प्रसिद्ध हैं। जब सूर्यादि जड़ देवतों का नाम लेते हैं, तो यह प्रसिद्ध तो होता है, परन्तु वह कोई योनि नहीं। कोई मनुष्य मरकर सूर्य नहीं हो सकता और न चन्द्र बन सकता है और न रुद्र बन सकता है, न वसु; क्योंकि वह नियमित हैं,

अधिक हो ही नहीं सकते। इसलिये, वह देवता जो मरकर होते हैं, वह तो विद्वानों का ही नाम है।

मन्त्र--आदित्यो हवै बाह्यः प्राण उदयत्येष ह्येनं चाक्षुषं प्राणमनुगृह्णानः। पृथिव्यां या देवता सैषा पुरुषस्यापानमवष्टभ्यान्तरायदाकाशः स समानो वायुर्व्यानः॥ ८। ३७॥

(शब्दार्थ) आदित्य = सूर्य। हवै = निश्चय करके। बाह्य प्राण = शरीर से बाहर जो सामान्य प्राण हैं। उदेति = प्रकाशकारक। एष = यह सूर्य। हि = निश्चय करके। एनम् = इसको। चाक्षुषम् प्राणम् = नेत्र के साथ सम्बन्ध रखनेवाले प्राण को। अनुगृह्णान = प्राप्त करने के पश्चात् ही। पृथिव्याम् = पृथिवी में। यः = जो। देवता = प्रकाशकारक हैं। सः = वह। एषः = इस। पुरुषस्य = इस शरीरधारी जीव का। अपानम् = अपान को। अवष्टभ्य = रोककर। अन्तरा = शरीर के मध्य। यत् = जो। आकाशः = आकाश है। सः = वह। समानः = समान है। वायुः = वायु। व्यानः = व्यान है।

(अर्थ) प्रथम भीतरी प्राणों का वर्णन करके अब बाह्य प्राणों का जिससे भीतरी प्राण सहायता पाकर ही काम कर सकते हैं, वर्णन करते हैं। सूर्य के प्रकाश से किरणों के द्वारा नेत्र के भीतर रहनेवाले प्राणों को सहायता मिले बिना, प्रकाश के नेत्र देख नहीं सकते। पृथिवी में रहनेवाले प्राणों से अपान वायु को सहायता मिलती है, जिससे सहायता पाकर अपान मल, मूत्र को पृथिवी की ओर को निकालते हैं। जहाँ मल, मूत्र के निकलने में किसी प्रकार का अन्तर आ जावे वहीं

आरोग्यता बिगड़ जाती है। समानवायु को आकाश से सहायता मिलती है। यदि भीतर ठसाठस भर दिया जावे और उदर में स्थान समानवायु को न रहे, तो भी आरोग्यता के बिगड़ने का वैसा ही संदेह है। और व्यानवायु जो इस शरीर को चलाती है, उसका उठा ले जानेवाली वायु से सहायता मिलती है, अर्थात् कोई इन्द्रिय अथवा प्राण बाहर की सहायता के बिना जीवित नहीं रह सकते। जिस प्राण की सहायता में त्रुटि हो जावे, उसके कामों में अन्तर आ जाता है।

मंत्र--तेजो ह्वै उदानस्तस्मादु पशान्ततेजाः। पुनर्भवमिन्द्रियैर्मनसि सम्पद्यमानैः ॥ ६ । ३८॥

(शब्दार्थ) तेजः = सर्व व्यापक अग्नि। ह्वै = निश्चय करके। उदानः = उदानवायु से। तस्मात् = इस कारण से। उपशान्त तेजाः = जब भीतर की सामान्य अग्नि शांत हो जावे। पुनर्भवम् = अन्य जन्म में प्राप्त होनेवाले शरीर को। इन्द्रियैः = नेत्र, कान इत्यादि। मनसि = मन के साथ। सम्पद्यमानै = प्रविष्ट होकर।

(अर्थ) सारे जगत् में व्यापक जो गरमी है, वह गले में रहनेवाली उदानवायु की सहायक है। और उस गरमी से सहायता पाता हुआ उदान ही जीवों को जीवित रखता है। जब तक बाहर से गरमी पहुँचती रहती है, तब तक मनुष्य जीवित रहता है। यदि बाहर से ऊष्णवायु के स्थान में जल के परमाणुओं से संयुक्त वायु बराबर पहुँचे, तो उदान की सहायता बन्द हो जाती है। उस दशा में उदान जीव को इन्द्रियों और मन के सहित लेकर दूसरे शरीर में चला जाता है। और

यह प्रसिद्ध बात है कि बाहर से जो वायु भीतर जाती है, उसमें केवल अग्नि और वायु सम्मिलित होती है और वह भीतर से जल के परमाणुओं को लेकर बाहर मिलती है। अग्नि से मिली हुई वायु में तो पाचक-शक्ति होती है, परन्तु जिस वायु में जल और पृथिवी के परमाणु भी सम्मिलित हो गये हैं, उसमें पाचक शक्ति नहीं रहती, क्योंकि जितना जल और पृथिवी के परमाणुओं को प्राण में रहनेवाली वायु उठा सकती थी, वह उसके पास पहले विद्यमान है। इस कारण जिस मकान में स्थान कम और मनुष्य अधिक हों अथवा भूमि जलवाली होने से भीतर जानेवाली वायु अग्नि के परमाणुओं को त्याग, जल के परमाणु को लेकर जावे, वहाँ अवश्य ही आरोग्यता बिगड़ जावेगी। जिन मकानों में अधिक काल से अग्नि न जली हो या सूर्य का प्रकाश न जाता हो, तो वह भी आरोग्यता को निर्बल करते हैं, अर्थात् वह मकान भी हानिकारक होते हैं।

प्रश्न—जब जीव शरीर को त्याग कर जाता है, उसके लिये कौन से पदार्थ जाते हैं?

उत्तर—सूक्ष्म शरीर कर्मों के संस्कारों सहित जीव के साथ जाता है और उन संस्कारों के कारण से कर्म का फल मिलता है।

मन्त्र—यच्चित्तस्तेनैष प्राणमायाति प्राणस्तेजसायुक्तः। सहात्मना यथासंकल्पितं लोकं नयति ॥ १० । ३६ ॥

(शब्दार्थ) यच्चित्तः=कर्मों के संस्कार से जिस जन्म के योग्य चित्त में वासना होती है। तेन=उससे। एष=यह। प्राणम्=प्राण। आयाति=शरीर को ग्रहण करता है। प्राणः=प्राण। तेजः=बाह्य तेज से सहायता प्राप्त युक्त उदान के साथ। युक्तः=मिलकर। सहात्मना=जीवात्मा के साथ।

यथा=जैसा । संकल्पितं=कर्मों के कारण जैसा शरीर बना है । लोकम्=उस शरीर को । नयति=प्राप्त होता है ।

(अर्थ) जो कुछ मनुष्य कर्म करता है, उसके दो प्रकार के अंकुर होते हैं । एक का नाम अवरिष्ट और दूसरे का नाम संस्कार । जिस प्रकार का अवरिष्ट होता है, उस प्रकार की वासना अंतिम आयु में जीव के मन में उत्पन्न होती है । और जिस प्रकार की वासना होती है, उस प्रकार का शरीर परमात्मा के नियम से बनता है । और जिस किसी मनुष्य या पशु से कर्म का सम्बन्ध होता है, वही पर जाकर जीव कर्मों का फल भोगता है । अतः कर्मों के अनुसार जो शरीर परमात्मा ने बना दिया है, उसमें उदानवायु सूक्ष्म शरीर और आत्मा को ले जाकर पहुँचा देती है । इसलिये प्रायः विद्वानों का विचार है कि जब किसी मनुष्य को मरना होता है, उससे षट् मास पूर्व उसकी प्रकृति परिवर्तन हो जाती है । अर्थात् जैसा फल उसको मिलनेवाला होता है, वैसे ही उसके विचार हो जाते हैं ।

मंत्र—य एवं विद्वान् प्राणम् वेद । न हास्य प्रजाहीयतेऽमृतो भवति तदेव श्लोक ॥११।४०॥

(शब्दार्थ) यः=जो । एवम्=इस प्रकार । विद्वान्=ज्ञाता । प्राणं=प्राणों । वेद=जानता है । न=नहीं । हास्य=उस विद्वान् की । प्रजा=संतान । हीयते=नाश होती है अर्थात् उसके संतान (कुल) का नाश नहीं होता । अमृत=नाश रहित । भवति=होता है । तत्=उसके अर्थ । एष=यह । श्लोकः= श्लोक वर्णन किया है ।

(अर्थ) जो विद्वान् इस प्राण की विद्या को ठीक प्रकार समझ कर वैसा ही आचरण करता है अर्थात् दिन में और

काम नहीं करता और कोई भी काम वेद के विरुद्ध नहीं करता। सत्य बोलता, विद्याभ्यास करता और उपकार में लगा रहता है, उसके कुल अर्थात् संतान का नाश नहीं होता। क्योंकि संतान दो प्रकार की होती है, एक जन्म से, जैसे बेटे पोते आदि। दूसरे शिक्षा और उपदेश से। इन दोनों प्रकार की संतान में से उसका कोई न कोई उत्तराधिकारी बना ही रहता है। चाहे उसके शिष्य संसार में शिक्षा दे रहे हों, चाहे उसकी संतान कुल-वृद्धि कर रही हो। अर्थात् नाम को स्थिर रखने के लिये श्रम करने में उनको चाहिये कि विद्वान् बनकर जीवन व्यतीत करें। आज गौतम जीवित है, क्योंकि करोड़ों न्याय के जानने और माननेवाले उसकी संतान हैं। कणादि जीवित है, कपिल और पातञ्जलि जीवित हैं, जैमिनि और व्यास नहीं मरे, क्योंकि उनका काम और नाम दोनों शेष हैं, अतः वह अमर हैं।

मंत्र--उत्पत्तिमायतिं स्थानं विभुत्वञ्चैव पञ्चधा। अध्यात्मंचैव प्राणस्य विज्ञायाऽमृतमश्नुते, विज्ञायाऽमृतमश्नुत इति ॥ १२ । ४१ ॥

(शब्दार्थ) उत्पत्ति=परमात्मा के द्वारा प्राण की उत्पत्ति। आयतम्=शरीर में आने को। स्थानम्=प्राणों के रहने के जो स्थान बताए हैं। विभुतम्=सामान्य प्राण के सर्व व्यापक होने का। च एव=और भी। पंचधा=शरीर के भीतर पाँच प्रकार के विभाग को अर्थात् प्राण, अपान, व्यान, समान, उदान को। अध्यात्मम्=शरीर के भीतर प्राणों के काम को। च एव=और भी व्याख्या को। विज्ञायः=ठीक-ठीक जानकर। अमृतम्=मोक्ष को। अश्नुते=भोग करता है अर्थात् दुखों से

से छूटकर आनन्द को प्राप्त करना। दो बार प्रश्न के समाप्ति को लिखा।

(अर्थ) अन्त में पिप्पलाद ऋषि इस फल को बताते हैं। जो इस प्राण-विद्या को इस प्रकार जानता है कि प्रथम प्राण कहाँ से उत्पन्न होते हैं, अर्थात् प्राणों की उत्पत्ति का कारण परमात्मा है। परमात्मा के अतिरिक्त और कोई शक्ति प्राणों को उत्पन्न नहीं कर सकती, क्योंकि औरो को स्वयम् प्राणों की आवश्यकता है। यद्यपि चेतन्य जीवात्मा को काम करने की शक्ति है, परन्तु वह प्राणों के द्वारा इन्द्रियों को हरकत देकर ही काम कर सकती है। दूसरे प्राण इस शरीर में क्योंकर आता है, अर्थात् कर्म-फल की या वासना की डोर से बँधा हुआ। जिससे पता लगता है कि यह शरीर एक प्रकार का फल है, इसमें कर्मों का फल भोगने को ही जीव आता है। जिस प्रकार अपराधी बँधुओ को कारागार की रक्षार्थ प्रबंध की कोई आवश्यकता नही, किंतु उनको कारागार से मुक्त होने का प्रयत्न करना चाहिये। यदि हम इस बात को ठीक-ठीक समझ जावें, तो संसार में से किसी दशा में हमें दुख और असफलता न हो और प्राणों का स्थान अर्थात् शरीर के भाग में कौन सा प्राण रहता है। चतुर्थ यह अन्तर एक तो सामान्य प्राण हैं, जो सारे संसार में व्यापक जिनसे परमात्मा सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के नियम चलाता है। दूसरे विशेष प्राण जो इस शरीर के भीतर अपने-अपने स्थान पर स्थित हैं। और उन प्राणों की तकसीम जो पाँच प्रकार से की गई है, उनके पृथक्-पृथक् काम। तात्पर्य यह कि प्राण शरीर के भीतर तो जीव के विशेष प्राण द्वारा काम करते हैं और बाहर सर्व व्यापक परमात्मा के दिए हुए सामान्य प्राण (हरकत इंतिज़ामी) से काम करते हैं अर्थात् सामान्य

प्राण के द्वारा निर्जीव पदार्थों में षट विकार उत्पन्न होते हैं। और जीव अर्थात् चेतन्य सृष्टि के भीतर विशेष प्राण से तीन प्रकार के प्राण (हरकत) अर्थात् करना, न करना, उलटा करना है। चेतन्य और जड़-सृष्टि का भेद जानने के अर्थ प्राण-विद्या अर्थात् सामान्य और विशेष प्राणो की विद्या जानना अत्यावश्यक है। और जो इन भेदों को ठीक प्रकार जान जाते हैं, वह मुक्ति को प्राप्त कर सकते हैं। प्राण-विद्या को ठीक जानने से परमात्मा का ज्ञान हो सकता है।

अथ चतुर्थ प्रश्न

मंत्र--अथ हैनं सौर्यायणी गार्ग्यः पप्रच्छ। भगवन्नेतस्मिन् पुरुषे कानि स्वपन्ति कान्यस्मिन् जाग्रति कतर एष देवः स्वप्नान् पश्यति कस्यैतत् सुखं भवति कस्मिन्नु सर्वे सम्प्रतिष्ठिता भवन्तीति ॥ १ । ४२ ॥

(शब्दार्थ) अथः=कौशल्य के प्रश्न का उत्तर सुनने के पश्चात्। ह=प्रथम कथा को चलाने के लिये। एनं=उस पिप्पलाद ऋषि को। सौर्यायणी=सूर्य के पोते की लड़की। गार्ग्य=गर्ग गोत्र में उत्पन्न हुआ। पप्रच्छ=पूंछा। भगवन्=हे गुरु महाराज। एतस्मिन्नपुरुषे=इस शरीर के भीतर अर्थात् प्राणेन्द्रिय और मनादि में। कानि=कौन। स्वपन्ति=सोते हैं। कानि=कौन। अस्मिन्=इस शरीर के भीतरवाले प्राणेन्द्रियों में। जाग्रति=जागता है। कुत्र=कहाँ। एष=यह। देवः=देवता। स्वप्नान्=स्वप्न को। पश्यति=देखता है। कस्य=

किसको । एतत्=यह । सुखं=सुख । भवति=होता है। कस्मिन्=किसमें । नो=और । सर्वे=सब । सम्प्रतिष्ठिता=ठीक प्रकार स्थित । भवन्ति=होते हैं । इति=यह प्रश्न है ।

(अर्थ) जब पिप्पलाद ऋषि कौशल्य का उत्तर दे चुके, तब सूर्य नामी ऋषि के पोते की लड़की ने जो गर्ग-गोत्र में उत्पन्न हुई थी यह प्रश्न किया—हे गुरु महाराज ! इस शरीर के भीतर जो प्राणेन्द्रिय मन इत्यादि हैं, कौन सोता है, कौन जागता है और कौन स्वप्न को देखता है, कौन इसमें सुख को भोगता है और किसमें सब ठीक प्रकार ठहरते हैं , अर्थात् पाँच प्रश्न किये । प्रथम इस शरीर में कौन सोता है, द्वितीय कौन जागता है, तृतीय स्वप्न कौन देखता है, चतुर्थ सुख भोगता है, पंचम किसमें यह सब इन्द्रिय मन इत्यादि ठीक ठीक स्थित होते है । ऋषि उत्तर देते हैं ।

मंत्र--तस्मै स होवाच । यथा गार्ग्य ! मरीचयोऽर्कस्यास्तं गच्छतः सर्वा एतस्मिंस्तेजोमण्डल एकीभवन्ति । ताः पुनः पुनरुदयतः पचरन्त्येवं हवै तत्सर्वं परे देवे मनस्येकी भवति । तेन तर्ह्येष पुरुषो न शृणोति न पश्यति न जिघ्रति न रसयते न स्पृशते नाभिवदते नाऽऽदत्ते नाऽऽनंदयते न विसृजते न नेयायते स्वपितीत्या चक्षते ॥ २ । ४३ ॥

(शब्दार्थ) तस्मै=उस गार्गी को । सः=वह पिप्पलाद

ऋषि। ह उवाच=यह कहने लगे। यथा = जैसे। गार्ग्य = हे गार्गी। मरीचयो=सूर्य की किरणें। अर्कस्य=सूर्य के। अस्तं-गच्छत = छुप जाने पर। सर्वा = वह सब किरणें। एतास्मिन्न= उस। तेजो मंडल=तेज के भंडार सूर्य में। एकः= एकत्रित। भवन्ति=होती हैं। ताः=वह किरणें। पुन पुनः= बार-बार। उदत्यातः=सूर्य के उदय होने के साथ ही। प्रचरन्ति=फैलती हैं। एवम्=इस प्रकार। हवै=निश्चय करके। तत्=वह। सर्वम्=सब इन्द्रियाँ। परे=अपने से सूक्ष्म। देवः=देवता। मनसि=मन में। एकः=एकत्रित। भवति=होती है। तेन=इस कारण से। तर्हि=उस समय। एष=यह। पुरुषः=जीवात्मा। न=नहीं। शृणोति=सुनता। न = नहीं। पश्यति = देखता। न = नही। जिघ्रति=सूंघना। न= नहीं। रसयते=रस लेना। न=नहीं। स्पृशते=स्पर्श करना। न= नहीं। अभिवदेत=बात चीत करना। नादत्ते=न ग्रहण करता है। नानन्दयते=न आनन्द को प्राप्त होता है। न विसृजते= न छोड़ता है। न=नहीं। यायते=पाँव से चलना। स्वपित= सोता है। इति=इस दशा में। आचक्षते=कहते हैं जागने-वाले मनुष्य।

(अर्थ) गार्गी के प्रश्न के उत्तर में पिप्पलाद ऋषि ने कहा-हे गार्गी! जिस प्रकार सूर्य की किरणें सूर्य के अस्त होने के समय इसी तेज के भंडार में एकत्रित हो जाती हैं, सूर्य के उदय होने पर फैल जाती हैं। इसी प्रकार सम्पूर्ण इन्द्रियाँ विषयों के प्रकाश करनेवाले ज्ञान के कारण मन में एकत्रित हो जाती हैं। इसी कारण से इस समय यह मनुष्य न तो किसी बाह्य शब्द को सुनता है और न बाह्य रूप को देखता है और न बाहरी गंध को सूंघता है और न रसना इन्द्रिय से किसी वस्तु का रस लेता

है, न किसी वस्तु को स्पर्श करता है और न वाणी से कुछ कहता है और न विषय-भोग करता है और न शौच जाता और न हाथ से पकड़ता और न पाँव से चलता है। उस दशा को देखनेवाले मनुष्य कहते हैं कि यह सो रहा है।

प्रश्न—क्या इन्द्रियों का प्रकाशक मन है, या मन की प्रकाशक इन्द्रियाँ हैं? क्योंकि विषय बाहर से मन पर जाते हैं, यदि नेत्र बन्द हों, तो रूप का ज्ञान मन को नहीं हो सकता।

उत्तर—यदि मन का सम्बन्ध न हो, तो नेत्र प्रकाश की दशा में भी नहीं देख सकते। जैसा कि प्रायः देखा जाता है कि चित्त के साथ सम्बन्ध न होने से जब पूछते हैं देखा, तो उत्तर मिलता है कि मेरा चित्त इस ओर नहीं था। क्योंकि इन्द्रियों में जो ज्ञान की शक्ति आती है, वह भीतर रहनेवाले आत्मा से आती है। और इन्द्रियाँ बिना मन के सम्बन्ध से आत्मा से सम्बन्ध नहीं कर सकतीं। अतः इन्द्रियों का प्रकाशक मन है, मन का प्रकाश करनेवाली इन्द्रियाँ नहीं। बाहर तो जानने योग्य वस्तु है, जाननेवाली शक्ति बाहर नहीं। वस्तुओं के भीतर मालूम होने का स्वभाव है और मालूम होने का स्वभाव आत्मा में है। अतएव प्रकाशक मन है, इन्द्रियाँ नहीं।

प्रश्न—निद्रा किस प्रकार से आती है?

उत्तर—जब मन और इन्द्रियों के मध्य तमोगुण का परदा आ जाता है, तब बाहर के विषयों का प्रतिबिम्ब मन पर नहीं पड़ता, जिससे मन को किसी वस्तु का ज्ञान नहीं रहता।

प्रश्न—क्या सोने की दशा में जीव बाहर के ज्ञान से शून्य होता है, अथवा नितान्त ज्ञान का अभाव हो जाता है?

उत्तर—ज्ञान जीव का स्वाभाविक धर्म है, इस कारण उसका अभाव तो हो नहीं सकता। केवल नैमित्तिक ज्ञान जो मन और

इन्द्रियों के द्वारा उत्पन्न होता है, मन और इन्द्रियों के सम्बन्ध न रहने से उत्पन्न नहीं होता। इस कारण इसका अभाव होता है।

प्रश्न—योगदर्शन में तो लिखा है कि ज्ञान का अभाव जिस वृत्ति का आश्रय है, वह वृत्ति अभाव है।

उत्तर—यहाँ भी बाह्य ज्ञान अर्थात् नैमित्तिक ज्ञान के अभाव से ही तात्पर्य है।

मंत्र—प्राणाग्नय एवैतस्मिन् पुरे जाग्रति। गार्हपत्यो ह वा एषोऽपानो व्यानोऽन्वाहार्यपचनो यद्गार्हपत्यात्प्रणीयते प्रणयनादाहवनीयः प्राणः ॥ ३ । ४४ ॥

(शब्दार्थ) प्राणाग्नयः=जीवन प्रकाशक प्राण। एव=है। एतस्मिन्=इस नव द्वारवाले। पुरे=नगर में अर्थात् शरीर में। जाग्रति=जागते हैं। गार्हपत्या=विवाहित स्त्री का स्वामी जिस अग्निहोत्र की अग्नि को स्थित करता है। ह=निश्चय। वा=यह। अपानः=अपानवायु। व्यानः=व्यानवायु। अन्वाहार्यपचनः=दक्षिणाग्नि जो शरीर की खुराक पचाती है। यत्=जो। गार्हपत्यात्=जो गृहस्थाश्रम में स्थित अग्नि है। प्रणीयते=सम्बन्ध रखता है। प्रणयनाद्=सम्बन्ध से या कारण से। आहवनीयः=ब्रह्मचर्याश्रम की अग्नि जिसको अग्निहोत्र के लिये ब्रह्मचारी स्थित करता है। प्राणः=प्राणवायु है।

(अर्थ) जब सम्पूर्ण बाह्य इन्द्रियाँ सो जाती हैं, तो शरीर की रक्षार्थ प्राण-अग्नि जो शरीर की रक्षा का काम देती है, जागती है। जैसे जब प्रजा सो जाती है, तो उनके माल की रक्षार्थ, राजा रक्षक नियत करता है; वह रात्रि भर जागते हुए

प्रजा के धन और जीवन की रक्षा करते हैं। इसी प्रकार स्वप्नावस्था में शरीर तथा इंद्रियों की रक्षा करता है, इस हेतु घर का रक्षक प्राण है। जो गृहस्थाश्रम में तान आदि की उत्पत्ति से सुख होता है, वह अपानवायु के द्वारा से होता है। और जो प्रकृति के सुखों से बढ़कर ईश्वर की उपासना, ध्यान, समाधी आदि, वह सारे शरीर में व्यापक व्यान के द्वारा से होते हैं। अतः ब्रह्मचर्याश्रम ऋग्वेद श्रवण, जाग्रत अवस्था ज्ञानकाण्ड, प्राण-वायु ग्रहस्थाश्रम व यजुर्वेद में स्वप्नावस्था, कर्मकाण्ड अपानवायु, वानप्रस्थाश्रम सामवेद, निदिध्यासन सुषुप्ति अवस्था, उपासना कांड, व्यानवायु, तीनों आश्रमों की अग्नि का नाम आहोन्य, गार्हपत्य और अन्वाहार्य है।

प्रश्न—जब इंद्रियाँ और मन सो गये, तो प्राण किस प्रकार शरीर की रक्षा करता है?

उत्तर—जब तक शरीर में प्राण रहते हैं, तब तक प्रत्येक जीव इसको जीवित जानकर इससे डरता है। यदि प्राण न रहे, तो मृतक जान करके उसको नाश करनेवाले जीव समाप्त कर देते हैं। प्राण की विद्यमानता, जीवन के विचार से शरीर की रक्षा करते हैं।

प्रश्न—स्वप्नावस्था में समानवायु और उदानवायु क्या करते हैं?

मंत्र—यदुच्छ्वास निश्वासावेतावाहुती समं नयतीति स समानः। मनो ह वाव यजमान इष्टफलमेवोदानः स एनं यजमानमहरहर्ब्रह्म गमयति ॥ ४ । ४५ ॥

(शब्दार्थ) यत्=जो । उच्छ्वासनिश्वासो=श्वास का बाहर से भीतर जाना और भीतर से बाहर आना है। आहुती=जो एक बार अग्निहोत्र में सामिग्री डाली जाती है, उसे आहुती कहते हैं। समम्=समान । नयति=करती है । इति=इससे । सः=वह नाभि में रहनेवाला प्राण। समान.=समान कहलाता है । मनः=मननशक्ति वाला जीवात्मा या मनकरण। हवाव=और। यजमानः=इस ज्ञन यज्ञ को करनेवाला इष्ट फलम्=जिस फल की इच्छा से यज्ञ किया जाता है, जो स्वार्थ से किसी काम को आरम्भ किया जावे। एव=है । उदान =उदानवायु । स=वह उदानवायु । एनं=इस । यजमानम्=यज्ञ करनेवाले यजमान अर्थात् जीवात्मा को। अहरहर=प्रति दिन। ब्रह्म=परमात्मा को। गमयनि=प्राप्ति करता है।

(अर्थ) नाभि से जो वायु ऊपर और नीचे को जाती है, जिसके समान ही रहने से मनुष्य जीवित रहता है, और जिस की अवस्था में अन्तर आ जाने से, मौत आने का अनुमान होता है, वह समानवायु है। और मनन करने की शक्ति से जो मन रूपी करण से काम लेनेवाला जीवात्मा है, वह यज्ञ करनेवाला यजमान कहलाता है। और जिस आशय से यज्ञ किया जाता है, वह उदानवायु है । वह उदान प्रति दिन इस जीवात्मा को ब्रह्म के पास ले जाता है अर्थात् जिसे सुषुप्ति कहते हैं।

प्रश्न—मन का अर्थ तो मनकरण है, जिससे कर्म-इन्द्रियों और ज्ञान-इन्द्रियों के साथ जीवात्मा का सम्बन्ध होता है, तुमने इसका अर्थ जीवात्मा किस प्रकार किया ?

उत्तर—मन दो हैं ; एक मनकरण, दूसरे मन-शक्ति। इसी

कारण शास्त्रों ने मन को नित्य और अनित्य बताया है। जिस शास्त्र ने मन शक्ति का विचार किया है, उसने मन को नित्य माना है। जैसा कि वैशेषिक दर्शन। और जिस शास्त्र ने मन-करण का विचार किया है, उसने मन को अनित्य बताया है। जैसा कि सांख्यदर्शन और छांदोग्योपनिषद् इत्यादि।

प्रश्न—वैशेषिक दर्शन ने तो मन को द्रव्य बताया है। तुम मन-शक्ति कहते हो, द्रव्यकरण तो हो सकता है, शक्ति नहीं हो सकती। क्योंकि शक्ति द्रव्य के आश्रय रहती है।

उत्तर—वैशेषिक का तात्पर्य्य मन से; मन-शक्ति वाला जीवात्मा ही प्रयोजन है। यदि जीव में मन-शक्ति न हो तो वह मनकरण से किस प्रकार काम ले सकता है।

मंत्र-अत्रैष देवः स्वप्ने महिमानमनुभवति। यद्दृष्टंदृष्टंमनुपश्यति श्रुतंश्रुतमेवार्थमनुशृणोति देशदिगन्तरैश्च प्रत्यनुभूतंपुनःपुनः प्रत्यनुभवति दृष्टंचादृष्टं चश्रुतं चाश्रुतं चानुभूतं चाननुभूतं सच्चासच्च सर्वं पश्यति सर्वः पश्यति ५।४६॥

(शब्दार्थ) अत्र=यहां। एष=यह। देवः=प्रकाशक जीवात्मा। स्वप्ने=स्वप्न में। महिमानम्=अपनी महिमा को। अनुभवति=अनुभव करता है, जानता है। यत्=जो। दृष्टं दृष्टं=देखा हुआ है और इसको देखा हुआ। अनुपश्यति=मालूम करता है अर्थात् मित्र, शत्रु, स्त्री, पुत्र इत्यादि को प्रत्यक्ष की भांति मालूम करता है। श्रुतं=सुनते हुए को। श्रुतं=सुनते हुए। एव=ही। अर्थम्=अर्थ को एक बार जिस को देखा या सुना है बार-बार। अनुशृणोति=फिर सुनता

है। देशदिगन्तरैश्च=दूसरे देश और दूसरे दिशा की वस्तुओं को। प्रत्यनुभूतं=अनुभव किये हुये को। पुनः पुनः=बार बार। प्रत्यनुभवति=अनुभव करता है अर्थात् जानता है। दृष्टञ्चदृष्टं=चाहे इस कारण देखने योग्य हो या न हो। श्रुतं च श्रुतं च=चाहे इस जन्म में न सुना हो, चाहे इस जन्म में सुना हो। अनुभूतं च चाननुभूतं=चाहे इस जन्म मे उसका अनुभव किया हो अथवा न किया हो। सच्चासच्च=चाहे वह सत् हो या न हो। सर्वं=सब को। पश्यति=देखता है। सर्वः=सब प्रकार की वस्तुओं को। पश्यति=देखता है।

(अर्थ) इस प्रश्न के उत्तर मे कि कौन देवता स्वप्न को देखता है, कहते हैं कि उपरोक्त देवता अर्थात् जीवात्मा स्वप्नावस्था में अपनी महिमा को देखता है। जो कुछ पूर्व देखा है चाहे वह इस दशा मे विद्यमान न हो, परन्तु उसका फोटो मन पर होने से उसको देखता है। जो कुछ सुना है, चाहे इस समय वह शब्द विद्यमान न हो, परन्तु उसका फोटो मन पर होने से वह सुनता है। चाहे कोई देश अथवा दिशा हो इनका प्रभाव मन पर आ जाने से इनका नितान्त स्पष्ट ज्ञान होता है। जिस वस्तु को एक बार देख चुका है, उस वस्तु को स्वप्न में बार-बार देखता है। जो पदार्थ देखे हुए हैं, चाहे इस जन्म में न भी देखे हो। जो पदार्थ सुने हो, चाहे इस जन्म में न भी सुने हों जिन वस्तुओं का अनुभव किया हो, चाहे इस जन्म में न भी अनुभव किया हो, चाहे इनकी सत्ता इस समय जगत् में विद्यमान न हो अर्थात् अभाव हो, सब को देखता है।

प्रश्न—श्रुति में तो लिखा है कि जो वस्तु देखी हो या न देखी हो, सुनी हो या न सुनी हो, अनुभव की हो, या न की हो, जो सत् हो या न हो, सब को देखता है। तुमने इस जन्म का न देखना, सुनना कहाँ से लिया है?

उत्तर—प्रथम तो इस श्रुति के पहले शब्द ही विदित करते हैं कि जो देखा है, फिर इसको देखता है। और जिसको सुना है फिर इसको सुनता है। दूसरे जिस वस्तु की सत्ता संसार मे विद्यमान न हो, उसकी आकृति हो नहीं सकती। जिसकी आकृति नहीं, उसके संस्कार भीतर जा ही नही सकते। जिसके संस्कार भीतर विद्यमान न हों, उनको किस प्रकार देख सकता है। मूल बात यह है कि जाग्रत अवस्था मे इस शरीर के केमरा के द्वारा जिन वस्तुओ के फोटो उतारे, उन्ही का स्वप्नावस्था में देखना सम्भव है। जो फोटो उतारा ही नही गया, उसको देख किस प्रकार सकते हैं। जब कि बिना देखे सुने और अनुभव किए हुए स्वप्न में देखना, सुनना और अनुभव करना असम्भव है। अतः सम्भव होने के लक्षण से यह अर्थ करना पड़ता है, जिसको इस जन्म मे देखा सुना और अनुभव न किया हो।

मंत्र—स यदा तेजसाऽभिभूतो भवति। अत्रैष देवः स्वप्नान्न पश्यत्यथ तदैतस्मिन् शरीरे एतत्सुखं भवति ॥ ६ । ४७ ॥

(शब्दार्थ) स=वह। यदा=जब या जिस दशा मे। तेजसः=प्रकाश से। अभिभूतः=दिया हुआ। भवति=होता है। अत्र=इस दशा में। एषदेव=यह जीवात्मा। स्वप्नान्=स्वप्न को। न=नही। पश्यति=देखता है। अथ=परमात्मा के प्रकाश से दब जाने के पश्चात्। तत्=वह जीवात्मा। अस्मिन् शरीरे=इस शरीर के भीतर। एतत्=यह सुषुप्ति अवस्था। सुखम्=सुख को। भवति=होता है।

(अर्थ) जिस समय इस जीवात्मा का ज्ञान परमात्मा के प्रकाश से दब जाता है। जिस प्रकार नेत्र का प्रकाश सूर्य के

सम्मुख प्रकाश के प्रकाश से दब जाता है, उस समय चौंध्या जाते हैं और कुछ देख नहीं सकते। ऐसे ही स्वप्न की अवस्था में यह जीवात्मा परमात्मा के प्रकाश से दबा हुआ ज्ञान शून्य सा मालूम होता है। इस समय यह किसी स्वप्न को नहीं देखता और प्रकाश से दबकर बाह्य-ज्ञान के रुक जाने के पश्चात् यह जीवात्मा इस शरीर के भीतर ही परमात्मा के सुख को देखता है अर्थात् सुषुप्ति अवस्था मे जीवात्मा को भीतर से ही सुख मालूम होता है।

प्रश्न—जब जीवात्मा का ज्ञान परमात्मा के तेज से दब गया, तो उस समय ज्ञान के न होने से सुख किस प्रकार हो सकता है? क्योंकि सुख भी एक प्रकार का ज्ञान है, आत्मा के अनुकूल जानने का नाम सुख है।

उत्तर—जीव के भीतर ब्रह्म और बाहर प्रकृति और ब्रह्म दोनों हैं। जब जीवात्मा बाहर की ओर देखता है, कभी प्रकृति के संग से दुख और परमात्मा के कारण सुख होता है। परन्तु जब भीतर की ओर देखता है, तो पहले परमात्मा के प्रकाश से ज्ञान दब जाता है और पुनः परमात्मा के स्वरूप से सुख मिलने लगता है। जैसे जब कभी हम अँधेरे मकान से एक दम सूर्य के सम्मुख आ जाते हैं, तो अँधेरा आँखों के सामने आ जाता है, थोड़ी देर के पश्चात् पदार्थ फिर दृष्टि पड़ने लगते हैं।

मंत्र--स यथा सौम्य! वयांसि वासोवृक्षं सम्प्रतिष्ठन्ते। एवं हवै तत्सर्वं पर आत्मनि सम्प्रतिष्ठते ॥ ७ । ४८ ॥

(शब्दार्थ) स=वह ऋषि पिप्पलाद कहने लगा। यथा= जैसे। सौम्य=हे चन्द्र समान शान्त स्वरूप। वयांसि=पक्षी

उड़नेवाले जीव। वासः=वास स्थान। वृक्षं=वृक्ष के आश्रय। सम्प्रतिष्ठन्ते=तिष्ठित होते है। एवं=इसी प्रकार। हवै=और। तत्सर्वं=वह सब अर्थात् मन आर इन्द्रियाँ इत्यादि। पर-आत्मनि=सम्पूर्ण जगत् के आधार के स्थान परमात्मा है। सम्प्रतिष्ठते=स्थित हो जाते हैं।

(अर्थ) पिप्पलाद ऋषि ने फिर कहा—हे प्रिय शिष्य! जिस प्रकार सायंकाल के समय सम्पूर्ण पक्षी प्रत्येक स्थान पर चर चुगकर अपने रहने के स्थान वृक्ष पर एकत्रित हो जाते हैं, और दिन भर इधर उधर घूमते रहते हैं। इसी प्रकार यह सम्पूर्ण इन्द्रियाँ जाग्रत और स्वप्न अवस्था मे तो अपने अपने विषयों में लगी रहती है, परन्तु सोने के समय सब अपने-अपने विषयो को त्यागकर अपने मुख्य स्थान अर्थात् परमात्मा के आश्रय स्थित हो जाती है।

प्रश्न—क्या सोने की दशा में इन्द्रियाँ परमात्मा के आश्रय स्थित हो जाती है? या इन्द्रिय और मन के मध्य तमोगुण का परदा आ जाता है।

उत्तर—मूर्छा और सुषुप्ति में यही अन्तर है कि सुषुप्ति मे तो इन्द्रियाँ जिस प्रकाश के आधार चल सकती है, वह प्रकाश परमात्मा के तेज से दब जाता है। इस समय जीव को किसी दूसरी वस्तु की सुधि ही नहीं रहती। और सुषुप्ति की अवस्था में जीव का सम्बन्ध कारण शरीर से होता है और कारण शरीर में सत्, रज, तम की दशा समान होती है। इस समय कोई गुण किसी दूसरे को दबा ही नहीं सकता।

प्रश्न—यदि सुषुप्ति अवस्था मे जीव का ब्रह्म के साथ सम्बन्ध होता है, जिससे ब्रह्म के तेज से जीव का ज्ञान दब जाता है तो समाधि की क्या ज़रूरत है?

उत्तर—समाधि और सुषुप्ति मे ब्रह्म का सम्बन्ध जीव के साथ होता है। अन्तर केवल इतना है कि सुषुप्ति मे ब्रह्म का सम्बन्ध जीव के साथ होता है। भेद केवल इतना है कि सुषुप्ति में ब्रह्म का आनन्द साक्षात् नही होता। क्योंकि इस समय जीव की बुद्धि ब्रह्म-दर्शन के योग्य नही होती। जैसे एकदम से अँधेरे से प्रकाश में आने से आँखे चकाचौंध हो जाती है। और समाधि अवस्था में नित्य के अभ्यास से जीव ब्रह्म दर्शन के योग्य हो जाता है।

मंत्र—पृथिवी च पृथिवीमात्रा चाऽऽपश्चाऽऽपोमात्रा च तेजश्च तेजोमात्रा च वायुश्च वायुमात्राचाऽऽकाशश्चा काशमात्रा च चक्षुश्च द्रष्टव्यञ्च श्रोत्रञ्च श्रोतव्यं च घ्राणं च घ्रातव्यं च रसश्च रसयितव्यञ्च त्वक् च स्पर्शयितव्यञ्च वाक् च वक्तव्यञ्च हस्तौ चाऽऽदातव्यं चोपस्थश्चाऽऽनन्दयितव्यं च पायुश्च विसर्जयितव्यं च पादौ च गन्तव्यञ्च मनश्च मन्तव्यञ्च बुद्धिश्च बोद्धव्यञ्चाहंकारश्चाहंकर्तव्यम् च चित्तञ्च चेतयितव्यञ्च तेजश्च विद्योतयितव्यञ्च प्राणश्च विधारयितव्यञ्च ॥ ८ । ४६ ॥

(शब्दार्थ) पृथिवी=भूमि । च=और । पृथिवी मात्रा= सूक्ष्म भूत अर्थात् गंध । च=और । आपः=पानी । च=और। अपोमात्रा = जल की सूक्ष्म अवस्था अथवा रस । तेजः=अग्नि। च=और । तेजोमात्रा=अग्नि की सूक्ष्म अवस्था अथवा रूप। वायु=वायु । वायुमात्रा=वायु की सूक्ष्म अवस्था अर्थात् स्पर्श। आकाशः = आकाश जिसको गुण शब्द है अथवा जिसमे निकलना, प्रवेश करना सम्भव हो । चक्षुः = नेत्र । द्रष्टव्यं = देखने योग्य वस्तु । च = और । श्रोत्र = कान जिनसे शब्द सुनते है । च = और । श्रोतव्यं = सुनने योग्य शब्द । च = और । घ्राण = नाक जिससे सूँघते है। च = और । घ्रातव्यं = सूँघने योग्य सुगंध दुर्गंध । च = और । रस=स्वाद । च = और । रसयितव्यम् = स्वादिष्ट वस्तु । च = और । त्वक् = त्वचा। च=और। स्पर्शयितव्यम्=स्पर्श योग्य वस्तु । च=और। वाक्=वाणी। च = और । वक्तव्यम्=भाषण योग्य शब्द । हस्तौ= दोनो हाथ । च=और । आदातव्यम्=पकड़ने योग्य वस्तु। च= और । उपस्थ=उपस्थेन्द्रिय । च = और। आनन्दयितव्यम = इस इन्द्रिय से जिस वस्तु को अनुभव करे अर्थात् जिससे सांसारिक सुख भोगें। पायुः = गुदा । च = और । विसर्जयि- तव्यम्=त्यागने योग्य वस्तु अर्थात् मल मूत्र। च=और। पादौ= दोनों पाँव । च = और। गन्तव्यम् = मार्ग चलने योग्य वस्तु। मनः=मन जो ज्ञान और कर्मइन्द्रियो को सहायता देता है। च = और । मन्तव्यम् = मनन करने या जानने योग्य वस्तु। च=और। बुद्धि = ज्ञान । च = और। बोद्धव्यम् = जानने योग्य वस्तु। च=और। अहङ्कार =अहङ्कार । च=और। अहङ्कर्त्तव्यम्= जिन वस्तुओं मे अहंकार किया जावे। च = और। चित्तन् = चेतन्य करनेवाला अन्तःकरण। च = और । चेतयितव्यं =

जिन वस्तुओं का चैतन्य अर्थात् विचार किया जावे। च= और। तेजो=प्रकाश। च=और। प्राणः=धारण करनेवाली। विद्योतयितव्यम्=जो वस्तु प्रकाश से प्रकट होने योग्य हो। च=और। विधारयितव्यम्=जिन वस्तुओं को पदार्थ धारण करते हैं।

(अर्थ) पाँच स्थूल भूत अर्थात् पृथ्वी, जल, वायु, आकाश अग्नि, और इनके सूक्ष्म भूत या गुण, गंध, रस, रूप, शब्द स्पर्श इत्यादि। पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ अर्थात् नाक, रसना, नेत्र, त्वचा श्रोत्र और इनके विषय अर्थात् सूंघने योग्य वस्तु, स्वादिष्ट वस्तु, रूपवाले पदार्थ स्पर्श करने योग्य वस्तु। और शब्द पाँच कर्मेन्द्रियाँ वाणी, हाथ, पाँव, गुदा, उपस्थेन्द्रिय। और उनके विषय पकड़ना, चलना, बोलना आदि चारों अन्तः-करण अर्थात् मन जिससे किसी वस्तु के दोनों पक्ष लेकर विचार किया जाता है, बुद्धि जिसको ज्ञान कहते है। अहङ्कार और चित्त अर्थात् चैतन्य करनेवाला अन्तःकरण और इनके विषय प्रकाश और जिसको वह प्रकाश करे। प्राण अर्थात् शरीर को उठाकर ले चलनेवाली या स्थित रखनेवाली वायु अर्थात् स्टीम जिसको स्वाँस भी कहते है और जिसको वह प्राण स्थित रखते हैं, यह सब वस्तु इस तेज से छुप जाती हैं।

मंत्र--एष हि द्रष्टा स्प्रष्टा श्रोता घ्राता रसयिता मन्ता बोद्धा कर्त्ता विज्ञानात्मा पुरुषः। सपरेऽक्षरे आत्मनि संप्रतिष्ठते ॥ ९ । ५० ॥

(शब्दार्थ) एष=यह। हि=निश्चय करके। द्रष्टा= देखनेवाला। स्पृष्टा=स्पर्श करनेवाला। श्रोता=सुनने

वाला। घ्राता=सूँघनेवाला। रसयिता=रस को जाननेवाला मान्ता=विचार करनेवाला। बोद्धा=जाननेवाला। कर्त्ता=कर्म करनेवाला। विज्ञानात्मा=जीवात्मा। पुरुष.=जो इस शरीर के भीतर रहता है। स=वह जीवात्मा। परे=उससे सूक्ष्म सर्व व्यापक। अक्षरे=नाश रहित। आत्मनि=जो प्रत्यक वस्तु के भीतर विद्यमान है उसमें। सम्प्रतिष्ठते=स्थित हो जाता है।

(अर्थ) सुषुप्ति की दशा में यह जीवात्मा जो जागते हुए नेत्रों से देखता, कानों से सुनता, नाक से सूघता, जिह्वा से रस लेता, त्वचा से छूता, मन से विचार करता, बुद्धि से जानता और जो कर्म करने मे स्वतंत्र कर्ता कहलाता है, जो नैमित्तिक ज्ञान को प्राप्त करनेवाला है। क्योंकि न तो इन्द्रियो आदि को ज्ञान होता है, क्योंकि यह ज्ञान प्राप्त करने के कारण (यन्त्र) है। और न परमात्मा को नैमित्तिक ज्ञान हो सकता है। क्योंकि वह पूर्व ही से सर्वज्ञ है, उसके ज्ञान से बाहर कोई सत्ता नहीं जिसको वह नैमित्तिक ज्ञान से जाने। और वह जीवात्मा इस कारण से सूक्ष्म ब्रह्म के आश्रय स्थित हो जाता है। तात्पर्य यह है कि जीव के भीतर ब्रह्म और बाहर ब्रह्म और प्रकृति दोनो हैं। जीवात्मा बाहर इन्द्रियों से देखता है और भीतर बुद्धि इन्द्रियो की स्वाभाविक शक्ति है, इससे अनुभव करता है। जब बाहर की ओर कर्म करनेवाली इन्द्रियाँ रुक जाती है, तब जीवात्मा की बुद्धि भीतर की ओर कर्म करने लगती है। उस समय जीवात्मा बाह्य ज्ञान से नितान्त शून्य हो जाता है। बाहर बहुत वस्तुओ के होने से जीव का ज्ञान फैल जाता है। क्योंकि प्रत्येक इंद्रिय मन को अपने विषय की ओर ले जाती है

और मन बड़े वेग से इंद्रियों के विषयों का जीवात्मा का बोध कराता है, जिससे आत्मा की वृत्ति बड़े वेग से चलती है। बाहर जीवात्मा किसी वस्तु में स्थित नहीं हो सकता, जब मन थक जाता है, तो परमात्मा के नियमानुकूल जीव भीतर की ओर काम करने लगता है, जिससे उसको आनन्द मालूम होता है। उस समय किसी इंद्रिय के साथ सम्बन्ध न होने से मन का काम रुका रहता है। इस कारण जब तक जीव का ब्रह्म के साथ सम्बन्ध रहता है, तब तक जीव स्थित रहता है, तब ही जीव को आनन्द मिलता है। और जिस समय मन की थकावट ब्रह्म के आनन्द से दूर हो जाती है, तब मन फिर कर्म करने लगता है। और मन के काम के साथ ही जीव की बुद्धि बाहर आ जाती है, जिससे वह दुख को सुख अनुभव करता है। अतः जीव को आनन्द मिलने का कारण केवल ब्रह्म ही है।

मंत्र—परमेवाक्षरं प्रतिपद्यते स यो हवै तद-च्छायमशरीर मलोहितं शुभ्रमक्षरं वेदयतेयस्तु सौम्य। स सर्वज्ञः सर्वो भवति तदेष श्लोकः॥ १०। ५१॥

(शब्दार्थ) परम=सब से सूक्ष्म महान्। एव=है। अक्षरम्=नाश रहित। प्रतिपद्यते=प्राप्त होता है, जाना जाता है। स=वह। यो=जो। हवै=और। तत्=वह। अच्छायम=छाया रहित अर्थात् जिसकी कही छाया हो ही नहीं सकती। क्योंकि जहाँ वह स्वयम् न हो, वहाँ उसकी छाया हो। अशरीरम्=जिसका शरीर नहीं, क्योंकि जिसका शरीर होगा वह नित्य नहीं हो सकता। अलोहितम्=जिसका

रंग नही अर्थात् जिसमे रक्तादि का सम्बन्ध नही। शुभ्रम्=जो शुद्ध। अक्षरम्=नाश रहित को। वद्यते=जान लेता है। यस्तु=जो विषयों मे वैराग्य वाला ज्ञानी हो। सौम्य=अपने प्रिय पुत्र। सः=वह मनुष्य। सर्वज्ञ=सब का ज्ञाता। सः=वह। सर्व=मनुष्य। भवति=होता है। तत्=उसके अर्थ। एव=यह। श्लोक=श्लोक प्रमाण है।

(अर्थ) जो ज्ञान से सब वस्तुओ के मूल तत्त्व को जान कर सब सासारिक विषयों से वैराग्य वाला हो गया है, जिसने इस कारण से सूक्ष्म सर्वत्र विद्यमान होने से जिसका छाया नहीं हो सकता और न उसका कोई शरीर है। क्योंकि वह सच्चिदानन्द है, जिसका शरीर है, वह सत् हो ही नहीं सकता। क्योंकि शरीर स्थूल संयुक्त है, जिसका किसी न किसी समय में उत्पन्न होना अवश्य है। और सत् कहते है तीन काल में एक सा रहनेवाले को। अतः कोई शरीरवाला सत् नहीं कहला सकता। जिसका कोई रंग नही, जो शुद्ध है, जो मनुष्य इसको प्राप्त कर लेता है वह इसके जानने के कारण से सर्वज्ञ कहलाता है। क्योंकि इस नाश रहित को जान लेना सब को जान लेना है।

प्रश्न—क्या ईश्वर को जाननेवाला सर्वज्ञ होता है ?

उत्तर—सर्वज्ञ के दो अर्थ हैं, एक वह जो प्रत्येक वस्तु को एक ही साथ जान सकता है। दूसरे वह जिसको सब वस्तुओ को जान लेना हो। एक साथ सब वस्तुओ को अतिरिक्त ईश्वर के कोई नही जान सकता। क्योंकि मन एक काल मे दो वस्तुओ का ज्ञान नही रखता, सबको किस प्रकार जान सकता है। अतः जो ईश्वर को जानता है, उसको सर्वज्ञ दूसरे अर्थों में कहा गया अर्थात् उसने कुल पदार्थों को जान लिया है।

प्रश्न—ईश्वर के जानने से कुल पदार्थों का ज्ञान किस प्रकार हो सकता है ?

उत्तर—ईश्वर का ज्ञान अन्तिम मार्ग है और कोई मनुष्य विना मध्य मार्ग को पूर्ण किये अन्तिम मार्ग पर नहीं पहुँच सकता। अतः जो ईश्वर का ज्ञान प्राप्त कर चुका, उसने सब पदार्थों को जान लिया।

प्रश्न—ईश्वर का ज्ञान अन्तिम मार्ग है, इसका क्या प्रमाण है ?

उत्तर—ईश्वर को सब से सूक्ष्म होने के कारण परम कहा गया है और ईश्वर के जानने को परा विद्या के नाम से कहा गया है। अतः सूक्ष्म वस्तु स्थूल में प्रविष्ट होने की दशा में स्थूल के पश्चात् ही जानी जायगी। निदान जो सब से सूक्ष्म और सब में व्यापक है, उसका ज्ञान सब के पश्चात् होना अवश्य है। संसार में तीन ही वस्तु है, प्रकृति, जीव, ब्रह्म। जिस मनुष्य को प्रकृति के स्वरूप का ज्ञान न हो, उसको वैराग्य हो ही नहीं सकता। प्रत्यक्ष में प्रकृति के परिणाम अत्यन्त सुन्दर मालूम होते है, परन्तु अन्त बुरा है। अतः वैराग्य प्रकृति के बने हुए पदार्थों की वर्तमान अवस्था तथा परिणाम दोनो को भले प्रकार जानता है। यदि इसको प्रकृति मे लिप्त होने का विचार होता, तो वैराग्य किस प्रकार हो सकता। जीव के भीतर ब्रह्म है, इसलिये ब्रह्म के ज्ञान से पहले जीव का ज्ञान भी हो जाता है। अतः जिसने जीव ब्रह्म और प्रकृति के मूल कारण को जान लिया, उसके सर्वज्ञ होने मे क्या संदेह है।

मन्त्र—विज्ञानात्मा सह देवैश्च सर्वैः प्राणा भूतानि सम्प्रतिष्ठन्ति यत्र। तदक्षरं वेदयते

यस्तु सौम्य ! स सर्वज्ञः सर्वमेवाऽऽविवेशेति ॥ ११ । ५२ ॥

(शब्दार्थ) विज्ञानात्मा=नैमित्तिक ज्ञान का केन्द्र जीवात्मा । सह=साथ । देवै.=बाहर और भीतर के जानने के शस्त्र और जिनको देवता भी कहते हैं । सर्वै.= सब के । प्राणा.=स्वाँस । भूतानि=भूत । सम्प्रतिष्ठन्ति= स्थित होते । यत्र=जिस ब्रह्म में । तद्=इस । अजरम्= नाश रहित । वेदयते=जान गया है । यस्तु=जो वैराग्य वाला मनुष्य । सौम्य=हे शांत स्वरूप शिष्य । स = वह । सर्वज्ञः=सर्वज्ञ । सर्वम्=सब को । एव=है । अविवेश= सब कुछ प्राप्त कर लेता है । इति=यह ।

(अर्थ जिस ब्रह्म में जीवात्मा सम्पूर्ण देवतो अर्थात् इन्द्रियो के साथ प्राणो और भूतों के सहित स्थित होता है । जो मनुष्य इस नाश रहित ब्रह्म को जान जावे, हे प्रिय पुत्र ! वह सर्वज्ञ और सब मे प्रवेश करके इनके भीतरी वृत्तान्त को जानता है । इस मंत्र से मालूम होता है कि सब से उच्च ब्रह्मविद्या है । जो मनुष्य इस विद्या से विज्ञ होते हैं, वह सर्वज्ञ कहलाते है । क्योंकि ज्ञान का सब से श्रेष्ठ फल इनको प्राप्त होता है । ज्ञान का आशय केवल तीन बातो के जानने से प्राप्त हो जाता है । प्रथम, मै क्या हूँ । द्वितीय, मुझको क्या उपयोगी है । तृतीय, हानिकारक क्या है । वा जो मनुष्य अपनी सत्ता को जानता है, उसी को लाभ हानि का ज्ञान होता है । जो सत्ता से अनभिज्ञ है, उसको लाभ हानि का ज्ञान किसी प्रकार हो ही नही सकता । यह तो मोटी बात है, जिस दुकानदार को अपने सामान का ज्ञान न हो, वह किस प्रकार जान सकता है कि लाभ हुआ अथवा

हानि। इसी विचार को लेकर दुकानदार लोग प्रत्येक वर्ष अपनी पूंजी की परीक्षा करते रहते है, ताकि अगले वर्ष हानि लाभ को ठीक समझ सकें। निदान जिस मनुष्य को हानिकारक वस्तु का मूल मालूम है, वह कभी इसकी उपासना को स्वीकार नहीं करता। जब हानिकारक की उपासना न हो तो दुख किस प्रकार उत्पन्न हो सकता है। क्योंकि जिसका हानि होना निश्चय हो जावे, उसके पास कोई जा भी नहीं सकता। यह तो सम्भव है, अविद्या से हानिप्रद वस्तु को लाभदायक विचार करके उस की उपासना की जावे। परन्तु हानिप्रद जानने के पश्चात् तो मूर्ख भी इस ओर ध्यान नही करता। जब उपयोगी वस्तु की वास्तविक दशा ज्ञात हो गई, तो उसकी उपासना आवश्यक हो गई, जिसका आनन्द मिलना आवश्यक है। जब दुख से मुक्त होकर आनन्द प्राप्त हो गया, तो त्रुटि किस वस्तु की रही।

प्रश्न—हम तो देखते हैं कि प्रायः मनुष्य मद्यपान और मांसभक्षण को बुरा समझते है। और बहुत से साधु धन की निन्दा करते है। बहुत से आर्य समाजी प्रकृति की उपासना को बुरा जानते हैं। परन्तु कर्म इसके विरुद्ध देखा जाता है। जिससे स्पष्ट विदित है कि हानि योग्य जानकर भी उपासना हो सकती है।

उत्तर—इन मनुष्यों को संदेह युक्त ज्ञान होगा, सत्यज्ञान नहीं। जो मनुष्य मांस-भक्षण को पाप समझते हैं, वह इसको किस प्रकार काम में ला सकते हैं। यदि कोई आर्य समाज का सभासद् प्रकृति को बुरा जान ले, तो फिर वह प्रकृति ज्ञान को बढ़ाने में क्यों श्रम करने लगा। प्रकृति के मूल तत्त्व को जाने बिना प्रकृति की उपासना को बुरा बताना किस प्रकार सम्भव है। और जिस प्रकृति के मूल तत्त्व को जान लिया, तो प्राकृ-

तिक विज्ञान का ज्ञाता हो गया। क्योंकि विज्ञान और सत्ता प्रतिकूल हैं। निदान इस दशा में जो आर्य-जन प्राकृतिक विज्ञान को जानना चाहते हैं, वास्तव मे वह प्रकृति विज्ञान से अनभिज्ञ हैं। इसी प्रकार साधु जो धन को बुरा कहते है और एकत्रित भी करते हैं, बिना ज्ञान के सुने सुनाए बुरा कहते हैं। जो मनुष्य इन पदार्थों के मूल कारण को जान गये हैं, वह जिसको बुरा बताते हैं, स्वप्न म भी उसकी उपासना नहीं करते।

प्रश्न—ईश्वर को जानने से सर्वज्ञ हो जाना असम्भव नही मालूम होता। यह शब्द मिथ्या लिख दिया है?

उत्तर—ईश्वर जानने से सर्वज्ञ हो जाता है। जब कहा जाता है कि ईश्वर का स्वरूप क्या है? तो विद्वान मनुष्य बताते हैं कि वह सच्चिदानन्द स्वरूप है। अर्थात् यह सच्चिदानन्द का शब्द एक शब्द है, परन्तु जाननेवाले जानते है कि यह शब्द विज्ञान से परिपूर्ण है। क्योंकि यह शब्द सत्, चित, आनन्द इन तीन शब्दों का योग है। जब कहा ईश्वर क्या है? तो उत्तर मिला कि ईश्वर सत् है। परन्तु सत् के अर्थ तीन काल है, यदि अकेला ईश्वर ही सत् होता, तो जगत् न बनता क्योंकि उपादान कारण के गुण विद्यमान न हों। यह तो सम्भव है कि गुण उपादान कारण मे विद्यमान न हो, वह निमित्त कारण में विद्यमान हो। क्योंकि निमित्त कारण से भी बहुत से गुण उपादान कारण में आते हैं। परन्तु यह सम्भव नहीं कि उपादान कारण की कोई वस्तु निमित्त कारण में विद्यमान न हो। निदान चेतन्य ईश्वर के सत् होने की दशा में सम्पूर्ण वस्तु का उपादान कारण ईश्वर ही हो सकता है। जब ईश्वर सम्पूर्ण वस्तु का उपादान कारण हुआ, तो कोई वस्तु जड़ नहीं हो सकती। क्योंकि चेतन्य ईश्वर से बनी हुई वस्तु मे ज्ञान का

होना अवश्य है, परन्तु संसार में जड़ वस्तु दृष्टि पड़ती है, जिससे सम्पूर्ण पदार्थों का उपादान-कारण ईश्वर नहीं हो सकता। जड़ अर्थात् ज्ञान रहित वस्तु क उपादान-कारण को जड़ मानना पड़ता है, अतः प्रकृति का सत् होना आवश्यक है। जब प्रकृति सत् हुई, तो लक्षण अति व्याप्त हो गया। तो लक्षण करना पड़ा कि ईश्वर सत् चित्त है, परन्तु ऐसा मानने मे दो प्रकार की वस्तु हो जाती हैं। एक आनन्द स्वरूप, दूसरे दुख स्वरूप; अर्थात् जड़ में न तो आनन्द स्वरूप दुख का आना सम्भव है, क्योंकि वह सूक्ष्म है। और सूक्ष्म में स्थूल के गुण जा ही नही सकते। और न किसी को सुख अनुभव हो सकता है क्योंकि परमात्मा आनन्द स्वरूप है, इनको सुख किस प्रकार हो सकता है। प्रकृति में जड़ होने के कारण से सुख अनुभव करने की शक्ति नही। अतः किस प्रकार सुख दुख अनुभव नही हो सकता। क्योंकि अनुभव करनेवाला नही, परन्तु सुख दुख अनुभव होते है, इससे कोई इन्कार नही कर सकता। अत. सुख दुख अनुभव करनेवाला चेतन्य माना जावे, तो उसकी दो ही दशा हो सकती हैं, या तो वह सत्, या असत्। यदि असत् स्वीकार किया जावे, तो उसके वास्ते निमित्त कारण का होना अत्यावश्यक है, परन्तु हैं दो ही, एक ईश्वर, एक प्रकृति। ईश्वर को उसका उपादान कारण माना जावे, तो उसकी प्राकृतिक सत्ता विना ईश्वर मानना पड़ेगा, इस दशा में प्रकृति स्वतंत्र और ईश्वर बाध्य होगा। क्योंकि निमित्त-कारण उपादान-कारण के अधिकार में होता है। यदि ईश्वर उपादान-कारण, प्रकृति निमित्त-कारण मानी जावे, तो प्राकृतिक पृथक् होने से ईश्वर भी पृथक् होगा। यदि वह पृथक् माना जावे, तो सुख दुख का अनुभव करनेवाला पृथक् मानना पड़ेगा, जोकि मिश्रित है।

प्रश्न—हम ईश्वर को अभिन्न निमित्त उपादान कारण मानते है।

उत्तर—यह सम्भव नही, क्योंकि निमित्त कारण का बाध्य होना और उपादान कारण का स्वतंत्र होना आवश्यक है, क्योंकि बाध्यत्व और स्वतंत्रता एक दूसरे के प्रतिकूल है, वह ईश्वर में नही रह सकती। द्वितीय निमित्त कारण का संयोग वियोग को स्वीकार करना आवश्यक है, जो कि सीमावाली और एक से अधिक वस्तुओं में सम्भव है। क्योंकि कर्ता निमित्त कारण को मिलाकर या तोड़कर ही किसी वस्तु को बना सकता है। ईश्वर एक और सर्व व्यापक है, न तो वह संयोग और न वियोग को स्वीकार करता है। अतः निमित्त कारण हो ही नहीं सकता। तीसरे निमित्त-कारण निमित्त के प्रभाव को स्वीकार करके उपादान कारण की दशा को स्वीकार करता है। बस उपादान कारण और प्रकृति को एक कहना अपने दोष से युक्त है। जैसे कोई कहे कि वह आदमी अपने कन्धे पर खुद चढ़ गया। इस बात को कोई बुद्धिमान् सत्य नही मान सकता। ऐसे ही ईश्वर ने अपने ऊपर प्रभाव डाल कर जगत् बनाया, कोई बुद्धिमान् यह स्वीकार नही कर सकता। अतः तीसरी सत्ता जोकि सत् चित हो आवश्यक तौर पर मानना पड़ती है, जब सत्य जीव में लक्षण चला गया, तो कहना पड़ा ईश्वर सच्चिदानन्द स्वरूप है। अतः प्रकृति सत् जीवात्मा सच्चित और परमात्मा सच्चिदानन्द है। प्रत्येक प्रश्न जोकि धर्म सम्बन्धी हो सकता है, उसका उत्तर इस शब्द में वर्तमान है; जिसको पुस्तक विस्तृत होने के कारण नहीं लिख सकते। जो मनुष्य ईश्वर को जान ले, उसने मानों कुल वस्तुओं की सूरत को जान लिया। चतुर्थ प्रश्न समाप्त हुआ।

अथ पञ्चम प्रश्न

मंत्र- अथ हैनं शैब्यः सत्यकामः पप्रच्छ । स यो हवै तद्भगवन्! मनुष्येषु प्रायणान्तमोङ्कार मभिध्यायीत । कतमं वाव स तेन लोकं जयतीति ॥ १ । ५३ ॥

(शब्दार्थ) अथ=गार्गी के प्रश्न का उत्तर समाप्त होने के पश्चात् । एनम्=इस पिप्पलाद ऋषि से । शैब्यः=शिव के पुत्र ने । सत्यकामः=जिसका नाम सत्यकाम था । पप्रच्छ= प्रश्न किया । सय.हवै=वह जिसने यम नियम के द्वारा अपने को प्रसिद्ध कर लिया कि वह बड़ा तपस्वी है । भगवन्=हे गुरु महाराज । मनुष्येषु=मनुष्यों में से जो मनुष्य । प्रायणां तम्=जीवन के समाप्ति तक । ओंकारम्=ओंकार परमात्मा के सर्वोत्तम नाम को । अभिध्यायीत=चित्त को एकाग्र करके ध्यान करता है । कतमम्=किस लोक को । स=वह । तेन=इस ध्यान के कारण । लोकम्=लोक को । जयति=अपने वश मे कर लेता है । इति=यह प्रश्न है ।

(अर्थ) गार्गी के प्रश्न का उत्तर जब पिप्पलाद ऋषि दे चुके, तो शिव के पुत्र ने जिसको मनुष्य सत्यकाम के नाम से उच्चारण करते थे , जिसने योग के अङ्गो को पूर्णतया अभ्यास द्वारा अपने को प्रसिद्ध कर लिया था । ऋषि से प्रश्न किया कि गुरु महाराज ! जो मनुष्य जीवन पर्यन्त मन और इन्द्रियों को रोककर ओङ्कार का ध्यान करता हैं, अथवा जिसको ओङ्कार कहते हैं, उसमें मन को लगाता है, वह इस कर्म से किस लोक को विजय कर लेता है ।

जीवन पर्य्यन्त ध्यान करनेवाला किस लोक को जय करता है ? उत्तर यह दिया गया कि वह दोनो प्रकार के सुखों को प्राप्त कर लेता है।

उत्तर—जैसे कोई कहे कि ब्रह्म कहाँ रहता है, तो उत्तर यही होगा कि सर्वत्र। इसी प्रकार ब्रह्म के ध्यान से प्रत्येक वासना पूर्ण हो सकती है। अतएव, ऋषि ने उत्तर दिया कि सब प्रकार की इच्छाएँ पूर्ण। यदि उसका एक ही फल होता, तो नाम बता देते कि अमुक लोक अथवा इच्छा को पूर्ण कर सकता है।

प्रश्न—क्या कर्म-फल इस जन्म में भी मिल सकता है ?

उत्तर—नहीं मिल सकता, क्योंकि जब तक बीज गल न जावे, तब तक अंकुर नहीं आता। और जब तक पक न जावे, फल नही दे सकता। जब कोई कर्म किया जाता है, तो उसका बीज गलने के पश्चात् दो अंकुर होते है। एक अवशिष्ट, दूसरे संस्कार। और जब अवशिष्ट का अंकुर पक जावे, तब वह फल दे सकता है।

प्रश्न—यदि कर्म फल इस जन्म में नही मिल सकता, तो ऋषि ने क्यो कहा कि इस जन्म में प्रत्येक काम में सफलता होती है।

उत्तर—ब्रह्म का ध्यान कर्म नही, किन्तु उपासना का अंग है, और उपासना का फल उसी समय मिला करता है। जिस प्रकार आग के पास जाते ही हाथ जलने लगते हैं और जल के पास जाते ही शरद हो जाते हैं। गार्गी ने कर्म और उपासना के फल को पृथक्-पृथक् प्रत्यक्ष करने के अर्थ यह प्रकट किया कि इस शरीर में ही वह सफल होता है।

प्रश्न—कर्म का बीज क्या है जिसके गलने पर फल उत्पन्न करनेवाला अंकुर निकलता है।

उत्तर— जिसके होने से कर्म होता है और जिसके विना नहीं होता, क्योंकि जीव का ज्ञान तो स्वाभाविक है, परन्तु कर्म करण द्वारा कर सकता है, अतएव कर्म का बीज शरीर है।

प्रश्न—जीव को कर्म का बीज क्यों न कहा जावे, किन्तु विना जीव के कर्म हो ही नहीं सकता।

उत्तर— जीव बोनेवाला है, कर्म का बीज शरीर ही है।

मंत्र—स यद्येकमात्रमभिध्यायीत स तेनैव संवेदितस्तूर्णमेव जगत्यामभिसम्पद्यते। तमृचो मनुष्यलोकमुपनयन्ते स तत्र तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया सम्पन्नो महिमानमनुभवति॥ ३। ५५॥

(शब्दार्थ) स=वह ज्ञानी पुरुष। यदि=यदि। एकमात्रन्=ओ३म् की एक मात्रा अर्थात्। अ=का। अभिध्यायीत=मन को एकाग्र करके ध्यान करता है अर्थात् आकार ध्यान इसका मन विषयों से रहित हो जाता है। हवेदितः=साव धानता से। तर्णम्=अति शीघ्र। एव=है। जगत्याम्=जगत्। अभिसम्पद्यते=दोनों प्रकार के धन ऐश्वर्य तथा राज्यादि सामग्री से युक्त होता है। तम्=उस ज्ञानी को। ऋच = ऋग्वेद के अनुकूल अर्थात् गुण के ज्ञान रूप सब सामग्री। मनुष्यलोकम्=मनुष्यों के राजा। उपनयन्ति=जिस प्रकार उपनयन संस्कार से दूसरे से उत्तमता होती है अर्थात् वह वेद पढ़ने का अधिकारी होता है। स=वह। तत्र=इस जन्म में। तपसा=तप से। ब्रह्मचर्येण=ब्रह्मचर्य अर्थात् वेदानुकूल कर्म से। श्रद्धया=श्रद्धा से। सम्पन्नः=ब्रह्मज्ञान को प्राप्त करके। महिमानम्=परमात्मा की महिमा को। अनुभवति=अनुभव करता है।

(अर्थ) ऋषि कहते हैं कि जब वह ओ३म् की एक मात्रा अर्थात् अकार को स्थिर चित्त से ध्यान करता है, तो इस उपासना का यह फल होता है कि वह मेधा बुद्धि को प्राप्त करके अति शीघ्र पृथ्वी पर मनुष्यों में विद्वान् होकर मनुष्यों पर शासन करता है। और तप और ब्रह्मचर्य स पृथक् होकर श्रद्धा से युक्त होकर परमात्मा की महिमा को ज्ञात करता है। जब तक मनुष्य परमात्मा के ध्यान में न लगे, तब तक वह संसार में राज्य करने-योग्य नहीं होता।

प्रश्न—परमात्मा के ज्ञान और राज्य से क्या सम्बन्ध है ?

उत्तर–परमात्मा के ज्ञान के विना मन पर अधिकार नहीं हो सकता। और जिसका मन पर अधिकार न हो, वह इन्द्रिय और शरीर पर ठीक प्रकार अधिकार नहीं रखता। जिसका शरीर पर अधिकार न हो, उसकी संतान अधिकार मे नहीं रहती। और जिसकी संतान अधिकार में न हो, वह टोला पर हुकूमत नहीं कर सकता, वह गाँव पर किस प्रकार हुकूमत कर सकता है। और जिसकी गाँव में हुकूमत न हो, वह प्रान्त और देश पर किस प्रकार राज्य कर सकता है। अतः संसार पर राज्य करने का मूल कारण मन पर राज्य करना है। और मन पर राज्य विना ब्रह्मज्ञान के हो नहीं सकती।

प्रश्न—हम तो देखते हैं कि इस समय बहुत से राजा जो ब्रह्मज्ञान से शून्य हैं, परन्तु फिर भी शासन-कार्य करते हैं, सो क्यों ?

उत्तर—निस्संदेह वह राजा कहलाते हैं, परन्तु वह राजा हैं नहीं। क्योंकि यदि वह राजा होते, तो इनको बाडीगार्ड अर्थात् रक्षक, सेना की आवश्यकता नहीं होती, राजा प्रजा का रक्षक होता है। जिसको अपने शरीर की रक्षार्थ अन्य की

सहायता की आवश्यकता हो, वह सब प्रजा की रक्षा किस प्रकार कर सकता है। जो स्वयम् भय करता है, वह प्रजा को निर्भय किस प्रकार बना सकता है।

प्रश्न—मन पर अधिकार होने से क्या बाडीगार्ड की ज़रूरत नहीं रहती?

उत्तर—भय पाप से होता है, यदि मन वश में हो, तो वह पाप करेगा ही नही। जो पाप न करे, उसको किसी का भय हो ही नहीं सकता। क्योंकि उसने किसी को हानि ही नही पहुँचाई, जिससे कोई शत्रु हो। जब शत्रु ही नही, सब प्रजा है, जो पुत्रवत् होती है, जो इसका होना अपने लिये निश्चित विचार करती है, फिर बाडीगार्ड की आवश्यकता ही क्या है।

मंत्र—अथ यदि द्विमात्रेण मनसि सम्पद्यते सोऽन्तरिक्षं यजुर्भिरुन्नीयते सोमलोकम्। स सोमलोके विभूतिमनुभूय पुनरावर्त्तते ॥४।५६॥

(शब्दार्थ) अथ=एक मात्रा की उपासना के पश्चात्। यदि=यदि। द्विमात्रेण=अकार, उकार दो मात्राओं से। मनसि=मन मे। सम्पद्यते=परमात्मा के ध्यान को प्राप्त करता है अर्थात् ज्ञान और कर्म दोनों होते है। स=वह। ज्ञानी पुरुष। अन्तारिक्षम्=आकाश में बसनेवाले दूसरे लोकों को। यजुर्भि=यजुर्वेद विद्या अर्थात् ज्ञान के अनुकुल कर्म से। उन्नीयत=उन्नति करता है। स=वह ज्ञानी पुरुष। सोमलोकम्=चन्द्र लोक पर शासन करता है। स=वह। सोमलोके=चन्द्र लोक की हुकूमत के द्वारा। विभूति=वहाँ के सुखों को। अनुभूयः=मालूम करके। पुनरावर्त्तते=फिर लौट आता है।

(अर्थ) यदि संसारिक ऐश्वर्य तथा राज्य को देनेवाली उपासना के पश्चात् अकार, उकार दो मात्राओं से, मन को ज्ञान और कर्म के द्वारा परमात्मा के ध्यान में लगावे, तो वह आकाश में रहनेवाले दूसरे लोको पर भी राज्य करता है। और वह चन्द्रलोक पर शासन करता है और वहाँ के सुखो को अनुभव करके फिर पृथ्वी पर लौट आता है। तात्पर्य यह है कि संसारिक ऐश्वर्य नष्ट-कारक है। यदि ऋषि का आशय यह समझा जावे कि एक मात्रा की उपासना से तो इन्द्रियों का सुख और बाहिरी ज्ञान प्राप्त होता है। और मन के भीतर ज्ञान और कर्म से जब उपासना करते हैं, तो उसको मन में शांति का दर्शन होता है। जिस शांति को संसार के राजा किसी दशा में प्राप्त नही कर सकते हैं, इसको ब्रह्म-उपासक जन ही प्राप्त कर सकते है।

प्रश्न—राजाओ को शान्ति क्यो प्राप्त नही होती ?

उत्तर—संसार के राजाओं को अन्य राजाओं की उन्नति से भय, प्रजा से भय कि कही प्राणान्त न करदे, राज-सिंहासन से न उतार दें। मौत का विचार, उन्नति की अभिलाषा इत्यादि होते हैं, जिससे शान्ति नही हो सकती।

प्रश्न—ब्रह्म उपासक में यह दोष क्यों नही होते ?

उत्तर—ब्रह्म उपासक को दूसरे की उन्नति का भय किस प्रकार हो सकता है। क्योंकि वह जानता है कि ब्रह्म की उपासना से बढ़कर और कोई आनन्द नहीं है, जो दूसरे को प्राप्त हो। उसको तो दूसरो की हीन दशा पर दया आती है और इसको मौत का भय हो ही नही सकता। क्योंकि वह जानता है कि जिस मार्ग पर पहुँचने के लिये शरीर रूपी गाड़ी मिली थी, वह ब्रह्मज्ञान मुझे मिल गया है। जब मार्ग पर पहुंच गये,

तो गाड़ी के होने से क्या लाभ ? गाड़ी से पृथक् रहना ही उत्तम है। जब तक शरीर रहे, जब चाहे चला जावे। और न वह किसी का अधिकार लेता है। निदान ब्रह्म-उपासक के पास कोई अशांति का साधन ही नहीं, जिससे उसे अशान्ति कष्ट दे।

प्रश्न—इनको आवश्यकताओं के प्राप्त करने का विचार तो अवश्य होगा और इनको चिन्ता भी अवश्य होगी।

उत्तर—आत्मा को किसी बाहरी वस्तु की आवश्यकता नहीं, जितनी आवश्यकता है, वह सब शरीर और मन को है। जो शरीर को किराया की गाड़ी समझता है, उसको शरीर की रक्षा की क्या आवश्यकता ? रक्षा का काम स्वामी का है। आत्मा को जिसकी आवश्यकता है, वह भीतर विद्यमान है, जो किसी दशा में पृथक् नहीं हो सकता। जब वह पृथक् ही नहीं हो सकता, तो ज़रूरत ही क्या रही।

प्रश्न—अपने शरीर को ज़रूरत न भी हो, तो कुल के मनुष्यों की ज़रूरत का तो अवश्य ख्याल होगा।

उत्तर—जैसा अपना शरीर प्रारब्ध के आश्रय जीता है, ऐसा ही कुल के मनुष्य भी प्रारब्ध के आश्रय जीते हैं। क्योंकि वह जानता है कि हम इस शरीर में अपनी इच्छा से नहीं आये, किन्तु कर्मों का फल भोगने के वास्ते परमात्मा ने हमें भेजा है। अतः यह शरीर कारागार है। कारागार के बँधुओं को अपनी अथवा अन्य बँधुओं की रोटी की चिन्ता करनी अज्ञानता है। अतः महा ज्ञानी पुरुष से ऐसी अज्ञानता क्योंकर हो सकती है। यह सब चिन्ता मूर्खों को होती है, विद्वानों को नहीं।

मंत्र—यः पुनरेतं त्रिमात्रेणोमित्येतेनैवाक्षरेण परं पुरुषमभिध्यायीत, स तेजसि सूर्य्ये

सम्पन्नः । यथा पादोदरस्त्वचा विनिर्मुच्यंत एवं हवै स पाप्मना विनिर्मुक्तः स सामभिरुन्नीयते ब्रह्मलोकं स एतस्माज्जीवघनात्परात्परं पुरीशयं तुरुषमीक्षते, तदेतौ श्लोकौ भवतः ॥ ५ । ५७ ॥

(शब्दार्थ) यः = जो ज्ञानी पुरुष । पुनः = फिर । एतत् = यह उपासना । त्रिमात्रेण = तीनों मात्राओं अर्थात् ओ३म् परमात्मा के सर्वोत्तम नाम को पूर्ण ध्यान से जपता है । अनेन = इसके द्वारा । एव = है । अक्षरेण = अक्षर अर्थात् नाश रहित परम् = महान् अति सूक्ष्म । पुरुषम् = सारे जगत् मे व्यापक परमात्मा को । अभिध्यायीत = योग द्वारा प्रत्यक्ष करके ध्यान करता है । सः = वह उपासना करनेवाला । तेजसि = ज्ञान के बढ़ानेवाले । सूर्यः = वेद में । सम्पन्न = प्राप्त होकर । यथा = जैसे । पादोदर = साँप जिसका पेट है पॉव होते हैं । त्वचा = केंचुली को । विनिर्मुच्यंत=नितान्त त्याग कर देता है । हवै = इसी प्रकार उपासना करनेवाला । स = वह । पाप्मना=मन के भीतर जो मल, विक्षेप और आवरण है, दोष है । विनिर्मुक्तः=छूटकर । स=वह उपासना । सामभि= सामवेद से बताई हुई उपासना से । उन्नीयते = बड़ाई को प्राप्त करता है । ब्रह्मलोकं = परमात्मा के दर्शन को प्राप्त करता है । स=वह । एतस्मात्=इस प्रत्यक्ष जगत् में । जीवघनात् = जीवात्मा देनेवाले शरीर से । परात्=जो कारण रूपी सूक्ष्म प्रकृति है । परम्=इससे भी सूक्ष्म जो परमात्मा है, जो एक-एक परमाणु के भीतर भी विद्यमान

है। पुरिशयम्=जो जगत् रूप मकान मे रहता है अर्थात् जगत् मे सर्वत्र व्यापक है। पुरुषम्=जिसका नाम इस कारण से पुरुष है। ईक्षते=उसके दर्शन करता है। तद्=उसके विषय मे। एतौ=यह वह। श्लोकौ=श्लोक। भवतः=प्रमाण है।

(अर्थ) पिप्पलाद ऋषि ने कहा कि जब कोई ज्ञानी पुरुष पूर्ण ओ३म् की उपासना करता है अर्थात् ज्ञान, कर्म और उपासना के कर्म को ठीक-ठीक नियमानुकूल करता है और इस ओ३म् के द्वारा से परमात्मा का ध्यान करता है। वह पुरुष वेद मूल को समझ कर जिस प्रकार सॉप अपनी केंचुल को छोड़कर स्वतत्र हो जाता है। इसी प्रकार वह मन के तीन प्रकार के जो दोष हैं मल, विक्षेप और आवरण इन से छूट जाता है। वह जिस उपासना के आशय से सामवेद का प्रकाश हुआ है, इससे बड़ाई प्राप्त कर लेता है। और ब्रह्म के दर्शन से वह इस प्रत्यक्ष जगत् से विचार करता हुआ, अपना देह से सूक्ष्म और इससे सूक्ष्म कारण शरीर अर्थात् प्रकृति और इससे भी सूक्ष्म परमात्मा, जिसका यह जगत् व्याप्य है, इसको देखता है। इस विषय में यह दो श्लोक प्रमाण है।

प्रश्न—अन्य टीकाकार तो सूर्य का अर्थ सूर्यलोक करते हैं, तुमने सूर्य का अर्थ वेद किस प्रकार किया ?

उत्तर—सूर्य दो हैं, एक प्राकृतिक सूर्य जिससे नेत्र को सहायता मिलती है, और नेत्र रूप को देखते है और इससे रात्रि दिवस का ज्ञान होता है। दूसरा आत्मिक सूर्य जिससे ब्रह्मदिन तथा ब्रह्मरात्रि का ज्ञान होता है, वह वेद हैं। यहाँ आत्मिक विषय है, अत यहाँ सूर्य का अर्थ वेद है। जो वेद-ज्ञान से परिपूर्ण होता है, वही परमात्मा को जान सकता है। जो वेद के ज्ञान से शून्य है , वह परमात्मा को नहीं जान सकता।

प्रश्न—हम बहुत से वेद के जाननेवालों को ज्ञान से शून्य पाते हैं ?

उत्तर—जिसके मन में तीन प्रकार के दोष है अर्थात् मल, विक्षेप, आवरण, वह वेद के शब्दों को समझता हुआ भी ब्रह्म ज्ञान से शून्य रहता है। यथा प्रत्येक मनुष्य जो अपने नेत्र से अपने ही नेत्र को देखना चाहे, उसको शीशे की आवश्यकता है। जो नेत्र के अंजन को देखना चाहे वह भी बिना शीशे (दर्पण) के नहीं देख सकता। अतः दयालु परमात्मा ने प्रत्येक जीव को अपना स्वरूप जानने के लिये एक दर्पण दे रक्खा है, जिसका नाम मन है। परन्तु अँधेरी रात्रि में दर्पण के होने पर भी दृष्टि नहीं आता, इसलिये परमात्मा ने सूर्य दे दिया है, जिसका नाम वेद है। परन्तु दर्पण में तीन दोषों में से कोई दोष आ जावे, तो सूर्य की विद्यमानता में भी देख नहीं सकते। इस कारण जिस विद्वान के मन में दोष है, वह परमात्मा के दर्शन नहीं कर सकता।

प्रश्न—मल दोष किसे कहते हैं ?

उत्तर—मल दोष मन के अपवित्र होने का नाम है, जिसमें दूसरे को हानि पहुँचाने का विचार है। जैसा कि आज कल प्रत्येक मनुष्य ईश्वर से प्रार्थना करता है कि हे परमेश्वर ! "अक्ल का अंधा, गाँठ का पूरा भेज"।

प्रश्न—विक्षेप दोष किसे कहते हैं ?

उत्तर—मन के चंचल होने का नाम विक्षेप होता है, अतः चंचलता मन का विक्षेप दोष है। एक वस्तु मिल जाती है, झट दूसरी का विचार विद्यमान ' मन की इच्छा पूर्ण ही नहीं होती।

प्रश्न—आवरण दोष किसे कहते हैं ?

उत्तर—आवरण दोष का नाम, मन जो अहंकार का परदा है। वह जब तक स्थित है, तब तक कोई परमात्मा को नहीं देख सकता।

प्रश्न—जब कि ब्रह्म निराकार है, तो उसको किस प्रकार देख सकते हैं? जब ब्रह्म देखा नहीं जा सकता, तो ऋषि ने उसको देखने का उपदेश क्यों किया?

उत्तर—प्रत्येक वस्तु जिसका प्रत्यक्ष होता है, उसी को देखना कहा जाता है। देखने के अर्थ इन्द्रियों से अनुभव करना है। यथा कोई कहे कि दाल में नमक अधिक है। यदि कहै कैसे जाना, तो उत्तर मिलता है कि खाकर देखी है। इसी प्रकार ब्रह्म को देखना कहा है।

प्रश्न—इन्द्रियों से जो अनुभव न हो, उसके देखने के लिये कोई शब्द आ सकता है? ब्रह्म तो किसी इन्द्रियों से नहीं जाना जाता, फिर उसका देखना कैसा?

उत्तर—ब्रह्म मन से जाना जाता है और मन का सम्बन्ध दोनों प्रकार की इन्द्रियों से है, इसलिये मन को उभय इन्द्रिय कहा है। अतः ब्रह्म मानसिक प्रत्यक्ष होने से ब्रह्म को देखना कहा।

मंत्र—तिस्रो मात्रा मृत्युमत्यः प्रयुक्ता अन्योन्यसक्ता अनविप्रयुक्ताः। क्रियासु बाह्याभ्यन्तर मध्यमासु सम्यक् प्रयुक्तासु न कम्पते ज्ञः॥ ६। ५८॥

(शब्दार्थ) तिस्रः=तीन ही। मात्रा=अकार, उकार, मकार अथवा जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति, अथवा ज्ञान, कर्म, उपा-

सना। मृत्युमत्य =ओंकार से मृत्यु को तैर कर। प्रयुक्ता= उपासना के समय ठीक नियम पूर्वक ओंकार का प्रयोग अर्थात् ओंकार का मन से जप करते हुए। अन्योन्यसक्ता= तीनों का ठीक सम्बन्ध स्थित करके। अनावप्रयुक्ता=जो तोड़ फोड़ कर जप न किया हो। क्रिया=क्रिया, हरकत में। बाह्याभ्यन्तर मध्यमासु=जो बाहर भीतर और मध्य में हो। सम्यक्प्रयुक्तासु=जो ठीक-ठीक नियम पूर्वक की गई हो। न=नहीं। कम्पते=काँपना, घबराना। ज्ञः=जो उपासना करनेवाला योगी है।

(अर्थ) जो ज्ञानी पुरुष ओ३म् की तीन मात्राओं अर्थात् अकार, उकार, मकार को मिलाकर ठीक-ठीक उपासना करता है, जिसका कोई कर्म नियम के विरुद्ध नहीं होता। जिसकी आत्मिक क्रिया, बाह्य क्रिया और मध्यम क्रिया सब ठीक-ठीक होती है। जिसको भय, लज्जा और संदेह की प्रकाशक वृत्ति अर्थात् पाप का विचार विद्यमान नहीं, वह योगी किसी जगत् में किसी दशा में भय नहीं खाता। यदि कोई संसार में निर्भय हो सकता है, तो वह केवल योगी हो सकता है। अतिरिक्त योगी के और कोई निर्भय नहीं हो सकता। यदि राजा हो, तो अपने से बड़े राजा का भय। यदि धनी हो तो तस्करादि का भय। यदि चक्रवर्ती राजा भी हो जावे, तो मौत का भय अवश्य रहेगा।

प्रश्न—योगी को क्यों भय नहीं होता?

उत्तर—भय के कारण तीन होते हैं। प्रथम यह कि स्वयम् पाप करे। द्वितीय यह कि राजा अन्यायी। तृतीय, अविद्या हो। योगी पाप नहीं करता और न जिसको राजा समझता है, वह अन्यायी हो सकता है। योगी जानता है कि अतिरिक्त

अपने कर्मों के कोई दुख सुख देनेवाला नहीं। अब मैं पाप नहीं करता, तो मुझे दुख कौन दे सकता है। अविद्या योगी के पास नहीं जाती। जब भय के कारण न हो, तो भय किस प्रकार हो सकता है।

मन्त्र—ऋग्भिरेतं यजुर्भिरन्तरिक्षं सामभिर्यत्तत्कवयो वेदयन्ते। तमोङ्कारेणैवाऽऽयतनेनान्वेति विद्वान् यत्तच्छान्त मजरममृतंभयं परंचेति ॥ ७ । ५६ ॥

(शब्दार्थ) ऋग्भि=ऋग्वेद ज्ञानकांड और जाग्रत अवस्था से। एतम्=इस लोक को। यजुर्भिः=यजुर्वेद कर्मकांड और स्वप्न अवस्था से। अन्तरिक्षम्=चन्द्रादि लोको को। सामभिः=सामवेदी उपासना कांड और सुषुप्ति अवस्था से। यत्=जो मिलता है उसको। कवया=ज्ञानी विद्वान्। वेदयन्ते=जानते है। तम्=उस। ओंकार परमात्मा के सर्वोत्तम नाम को। एव=है। आयतनेन=आश्रय से। अन्वेति=प्राप्त करता है। विद्वान्=विद्वान्। यत्=जो। तत्=वह। शांतम्=इच्छा तथा क्लेशरहित। अजरम्=अजर। अमृतं=अमर। अभयम्=निर्भय जो सर्वत्र सदा निर्भय हो। परम्=अति सूक्ष्म और महान्। च=और। इति=यह परिणाम है।

(अर्थ) पिप्पलाद ऋषि ने कहा कि ऋग्वेद अर्थात् ज्ञान कांड से इस लोक को और यजुर्वेद अर्थात् कर्मकांड से आकाश में निवास करनेवाले अन्य लोको को। और सामवेद से जो कुछ प्राप्त होता है, उसे पूर्ण ज्ञानी पुरुष जिन्होंने योग

और समाधि से सत्‌विद्या को जान लिया है, वही बता सकते हैं। उस अवस्था का ओङ्कार के आश्रय से ही सर्व साधारण मनुष्य प्राप्त करते है, जिसमें शांति प्राप्त होती है। अर्थात् फिर कोई इच्छा शेष नही रहती कि जिसकी ओर मन जावे। न बुढ़ापे का अवसर प्राप्त होता ह। मृत्यु से पृथक रहता है और निर्भय रहता है और जो सब से महान् है, उसको प्राप्त कर लेता है। पञ्चम प्रश्न समाप्त हुआ।

अथ षष्ठम् प्रश्न

मंत्र—अथ हैनं सुकेशा भारद्वाजः पप्रच्छ। भगवन्! हिरण्यनाभः कौशल्यो राजपुत्रो मामुपेत्यैतं प्रश्नमपृच्छत। षोडशकलंभारद्वाज! पुरुष वेत्थ? तमहं कुमारमब्रुवम् नाहमिमं वेद, यद्यहमिममवेदिषं, कथं ते नावक्ष्यमिति, समूलो वा एष परिशुष्यति योऽनृतमभिवदति, तस्मान्नार्हाम्यनृतं वक्तुं, सतूष्णीं रथमारुह्य प्रवव्राज। तं त्वा पृच्छामि क्वासौ पुरुष इति॥ १। ६०॥

(शब्दार्थ) अथ=शिव के प्रश्न के उत्तर के पश्चात्। सुकेशा भारद्वाजः=सुकेशा नामी भारद्वाज ऋषि की संतान से। ह एनम्=स्पष्ट पिप्पलाद ऋषि से। पप्रच्छ=प्रश्न किया। भगवन्=हे गुरु महाराज। हिरण्यनाभः=जिसका नाम हिरण्यनाभ है। कौशल्यः=जो कौशल गोत्र में उत्पन्न हुआ

है। राजपुत्र =राजा के लड़के ने। माम्=मेरे। उपेत्य=पास आकर। एतं=इस। प्रश्नम्=प्रश्न को। पृच्छत=पूछा। षोडशकलं=सोलह कलावाले। भारद्वाज=हे भारद्वाज ऋषि की संतान। पुरुषम्=संसार में सर्वत्र व्यापक अथवा शरीर में व्यापक का। वेत्थ=तू जानता है। तम्=उस। अहं=मैंने। कुमारम्=कुमार का। अब्रुवम्=कहा। न=नहीं। अहम्=मैंने। इमम्=उसको। वेद=जाना। यदि=यदि। अहम्=मैंने। इमम्=उसका। अवेदिषम्=जाना होता। कथं=किस लिये। ते=तुझ को। न=नहीं। अवदयामि=बताता। इति=यह। समूलो=बीज से अर्थात् जड़ से। वा=है। परिशुष्यति=सूख जाता है। या=जो। अनृतम्=मिथ्या वस्तु की मूल के विरुद्ध। अभिवदति=कहता है। तस्मात्=इस कारण से। न=नहीं। अर्हम्=शक्ति रखता। अनृतम्=झूठ को। वक्तुम्=सीमा से की। स=वह। तूष्णीं=चुपचाप। रथ मारुह्य=रथ पर बैठ कर। प्रवव्राज=वहाँ से चला गया। ते=इसको। त्वा=आप से। पृच्छामि=पूछता हूँ। क=कहाँ। असो=वह। पुरुष=पुरुष है। इति=यह।

(अर्थ) शिव के प्रश्न के उत्तर के पश्चात् भारद्वाज गोत्र में उत्पन्न हुआ सुकेशा नामी ऋषि ने पिप्पलाद ऋषि से प्रश्न किया कि हे गुरु! एक दिन हिरण्यनाभि कौशल देश के राजपुत्र ने मेरे पास आकर प्रश्न किया कि हे भारद्वाज! तू इस १६ कलावाले पुरुष को जानता है? मैंने इस राजकुमार से कहा—हे राजकुमार! मैं उस पुरुष को नहीं जानता। यदि जानता, तो कोई कारण न था कि मैं तुमको न बताता। वह मनुष्य जो घटना के विरुद्ध कहता अर्थात् मिथ्या बोलता है, वह जड़ मूल से नष्ट हो जाता है। इस कारण मैं मिथ्या बोलने की शक्ति

नहीं रखता। मेरी इस बात को सुनकर वह रथ पर सवार हो चला गया। अतः मैं आप से वही प्रश्न करता हूँ कि वह पुरुष षोड़श कलावाला कौन सा है?

मंत्र—तस्मै स होवाच। इहैवान्तः शरीरे सोम्य! स पुरुषो यस्मिन्नेताः षोडश कलाः प्रभवन्तीति ॥ २ । ६१ ॥

(शब्दार्थ) तस्मै=इस सुकेशा के प्रश्न के उत्तर में। सहोवाच=उस पिप्पलाद ऋषि ने कहा। इह=यहाँ। एव=है। अन्तः शरीर=शरीर के भीतर। सोम्य=हे प्रिय शिष्य। स=वह। पुरुष=पुरुष अर्थात् जीवात्मा है। यस्मिन्=जिसके भीतर। एता=यह। षोड़शकला=१६ कलाएँ। प्रभवन्ति=उत्पन्न होती है। इति=यह परिणाम है।

(अर्थ) पिप्पलाद ऋषि ने सुकेशा के प्रश्न के उत्तर में कहा—हे प्रिय शिष्य! वह पुरुष कहीं दूर नही रहता, जिसकी खोज में किसी दूसरे स्थान पर जाने की आवश्यकता हो। किन्तु वह इस शरीर के भीतर है, जिसके भीतर यह षोड़श कलाएँ उत्पन्न होती हैं।

प्रश्न—यहाँ पुरुष से जीवात्मा का अर्थ अथवा ब्रह्म का? क्योंकि पुरुष शब्द के अर्थ जीव ब्रह्म दोनों हो सकते है।

उत्तर—यहाँ पुरुष से तात्पर्य जीवात्मा है, क्योंकि अगली श्रुति इसकी युक्ति है। परन्तु चौथी श्रुति परमात्मा की महिमा का वर्णन करती है, अतः जीवात्मा परमात्मा दोनों शरीर के भीतर रहते हैं। एक षोड़शकलाओं को उत्पन्न करना है। एक षोड़शकलाओं से काम लेता है। इसलिये षोड़शकला वाले दोनों हो सकते हैं।

प्रश्न—श्रुति में पुरुष शब्द एक वचन है, इसलिये एक ही अर्थ ले सकते हैं, दो नही।

उत्तर—एक के देखने से दोनों का एक साथ दर्शन होता है। यथा नेत्र और नेत्र का अंजन, दर्पण सामने आते ही एक साथ देखे जाते है, इसलिये एक ही साधन दोनो के देखने के वास्ते है। अतः श्रुति ने एक वचन दिया है, परन्तु तात्पर्य दोनो का विदित होता है।

मंत्र—स ईक्षाञ्चक्रे कस्मिन्नहमुत्क्रान्त उत्क्रान्तो भविष्यामि। कस्मिन् वा प्रतिष्ठिते प्रतिष्ठास्यामि ॥ ३ । ६२ ॥

(शब्दार्थ) स=इस जीवात्मा ने। ईक्षांचक्रे=विचारा। कस्मिन्न=किस के निकलने मे। अहम्=मैं। उत्क्रान्तः=निकलने वाला। उत्क्रान्तो=निकलने से। भविष्यामि=होऊँगा। कस्मिन्=किस के। वा=अथवा। प्रतिष्ठते=ठहरने मे। प्रतिष्ठास्यामि=स्थित रहूँगा। इति=यह।

(अर्थ) जीवात्मा ने विचार किया कि इस शरीर से किसके निकलने में मुझे शरीर को छोड़ देना होगा। अर्थात् शरीर में कौन सी वस्तु है, जिससे मनुष्य जीवित रहता है। और किसके निकलने से मनुष्य की मृत्यु हो जाती है। यदि नेत्र निकल जावे, तो काना हो जाता है, परन्तु जीवित रहता है। यदि श्रवण पृथक् हो जावे, तो बहरा हो जावेगा, परन्तु जीवित रहेगा। इसी प्रकार प्रत्येक ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय के पृथक् हो जाने से शरीर में दोष तो आ जाता है, परन्तु मृत्यु नहीं होती। किंतु जिस समय प्राण निकल जावें, उस समय

जीवात्मा शरीर में नहीं रह सकता। अतः प्राण के न होने से मृत्यु हो जाती है।

प्रश्न—शिर के कटने और प्राण के निकलने से मृत्यु अवश्य हो जाती है। किसी और इंद्रिय अथवा अङ्ग के पृथक् होने से नहीं। इसका क्या कारण है?

उत्तर—शिर मे ज्ञान-इंद्रियाँ है, जिनसे जीव को नैमित्तिक ज्ञान प्राप्त होता है। और प्राणो में क्रिया होती है, जिससे जीवात्मा के प्रयत्न को सहायता मिलती है। ज्ञान और प्रयत्न ही जीवात्मा के स्वाभाविक गुण हैं। अतः जीव के गुणों को सहायता देनेवाले यंत्र नही रहते, तो जीवात्मा शरीर में किस हेतु रहे। शिर के न होने से ज्ञान और प्राण के न होने से प्रयत्न निष्फल हो जाता है।

मंत्र—स प्राणमसृजत् प्राणाच्छ्रद्धां खं वायुर्ज्योति रापः पृथिवीन्द्रियम् मनः। अन्नमन्नाद्वीर्यं तपो मन्त्राः कर्मलोका लोकेषु नाम च ॥ ४ । ६३ ॥

(शब्दार्थ) स=वह विषयों से पृथक् परमेश्वर ने। प्राणम्=प्राण को। असृजत्=उत्पन्न किया। प्रणात्=प्राणों से। श्रद्धाम्=श्रद्धा को उत्पन्न किया। खम्=आकाश। वायुः=वायु को। ज्योति=अग्नि को। आप=जल को। पृथिवी=पृथिवी का। इन्द्रियम्=इन्द्रियों को। मनः=मन को। अन्नम्=अन्न को। अन्नात्=अन्न से। वीर्यम्=वीर्य को। तपः=तप। मंत्राः=विचार से। कर्म=कर्म अर्थात् पाप पुण्य। लोका=शरीर अथवा मनुष्य पशु आदि। लोकेषु=स्थूल शरीर में। च=और। नाम=संज्ञा। च=इत्यादि।

(अर्थ) सर्वत्र व्यापक परमात्मा ने सब से पूर्व प्राण क्रिया देने के लिये उत्पन्न किये। क्योंकि जब तक कोई क्रिया करने वाला न हो, कोई वस्तु उत्पन्न नहीं हो सकती। उस प्राण से श्रद्धा उत्पन्न हुई, श्रद्धा से आकाश उत्पन्न हुआ, आकाश के पश्चात् वायु, इसके पश्चात् अग्नि, इसके पश्चात् जल, फिर पृथिवी। जब यह पाँचो भूत उत्पन्न हो गये, तो उन के गुणो को अनुभव करने और काम में लानेवाली इन्द्रियाँ और इन्द्रियो को ठीक नियम में रखने के लिये मन और मन को दृढ़ रखने और इन्द्रियों को जीवित रखने के हेतु अन्न उत्पन्न किया। और अन्न से वीर्य और वीर्य से तप अर्थात् पुरुषार्थ और उससे विचार और विचार से कर्म योनि अर्थात् शरीर इससे विविध प्रकार की योनियों की तकसीम अर्थात् नाम उत्पन्न किये।

प्रश्न—एक उपनिषद् में तो आत्मा से आकाश की उत्पत्ति लिखी और यहाँ प्रथम प्राण और श्रद्धा दो लिख दिये। इन दो में से सत्य कौन सा है?

उत्तर—परमात्मा के ईक्षण अर्थात् ज्ञानानुकूल क्रिया से आकाशादि उत्पन्न होते है। इस कारण परमात्मा के ईक्षण का नाम प्राण और श्रद्धा है। क्रिया का नाम प्राण और ज्ञान का नाम श्रद्धा है। अत: दोनो स्थान पर एक ही आशय है, विरोध नही है।

प्रश्न—उस स्थान पर तो लिखा है कि आत्मा से आकाश उत्पन्न हुआ। यह कहीं नहीं लिखा कि आत्मा के ईक्षण से आकाश उत्पन्न हुआ।

उत्तर—जैसे कहते हैं बाप से बेटा उत्पन्न हुआ, क्या बेटा बाप की कृपा और ज्ञान से उत्पन्न नहीं होता, परन्तु कहा यही जाता है कि बाप से बेटा उत्पन्न हुआ।

प्रश्न—षोडषकला कौन सी हैं ?

उत्तर—पाँच प्राण, दस इन्द्रियाँ और एक मन, इनको उत्पन्न करनेवाला परमात्मा, धारण करनेवाला जीवात्मा है।

प्रश्न—परमात्मा को क्या प्रयोजन था जो व्यर्थ जीवात्मा को यह १६ कला देकर झगड़े में डाला ?

उत्तर—इसकी दया और न्याय स्वभाव है। जीव की निर्बलता पर दया करके जगत् के उत्पन्न का कारण हुआ, उसका अपना कोई स्वार्थ नहीं।

मंत्र--स यथेमा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रायणाः समुद्रं प्राप्यास्तं गच्छन्ति, भिद्येते तासां नाम रूपे, समुद्र इत्येवं प्रोच्यते ! एवमेवास्य परिद्रष्टुरिमाः षोडश कलाः पुरुषायणाः पुरुषं प्राप्यास्तं गच्छन्ति, भिद्येते चाऽऽसां नामरूपे, पुरुष इत्येवं प्रोच्यते स एषोऽकलोऽमृतो भवति, तदेष श्लोकः ॥ ५ । ६४ ॥

(शब्दार्थ) स=इस पिप्पलाद ऋषि ने कहा। यथा=जैसे। इमा=यह। नद्यः=नदी। स्यन्दमानः=बहते हुए। समुद्रायणः=जिनका समुद्र घर है। समुद्रय=समुद्र को। प्राप्य=प्राप्त होकर। अस्तम् गच्छन्ति=दृष्टि से गुप्त हो जाते हैं। भिद्येते=छूट जाता है। तासाम्=इन नदियों का। नाम रूप=नाम और रूप। समुद्र=समुद्र है। इति=यह। एव=इस प्रकार। प्रोच्यते=कहा जाता है। एवम्=इस प्रकार से। एव=है। अस्य=इसके। परिद्रष्टुः=इन सब को देखनेवाले

को। इमा=यह। षोडश कला=यह षोड़श कला। पुरुषायणाः= जिनका पुरुष है घर। पुरुषम्=पुरुष को। प्राप्य=प्राप्त होकर। अस्त गच्छन्ति=गुप्त हो जाती है। भिद्येते=छूट जाता है। तासाम्=उनसे। नाम रूपे=नाम और रूप। पुरुषः= पुरुष है। इति=यह। एवम्=इस प्रकार यह। प्रोच्यते= कहा जाता है। स=वह। एव=यह। अकलः=कलाओं से पृथक्। अमृत=अमर। भवति=होता है। तत्=इस विषय मे यह श्लोक प्रमाण है।

(अर्थ) पिप्पलाद ऋषि ने कहा कि जिस प्रकार यह जो नदियॉ बह रही हैं, जब तक अपने मुख्य स्थान समुद्र तक नही पहुँचतीं, तब तो इनका नाम और रूप पृथक्-पृथक् जान पड़ता है। किसी को सतलज कहते है, किसी को व्यास, किसी की धार बहुत बड़ी है, किसी की छोटी, कोई वेग से गति करती है, कोई धीरे, किसी के किनारे बहुत ऊँचे है किसी के कम, किसी का पानी खारी, किसी का मीठा। परन्तु जिस समय यह सागर मे जा मिलती हैं, तो इनमें जो नाम रूप का अन्तर था वह गुप्त हो जाता है। उस समय अतिरिक्त सागर के और किसी नाम से इनका उच्चारण नही करते। प्रथम सब नाम गुप्त हो जाते है और अन्तर भेद भी मिट जाता है। इसी प्रकार यह षोड़शकला अर्थात् प्राण इन्द्रियॉ और मन इत्यादि जो है, इन सब का नियत स्थान पुरुष है। जब तक यह इन्द्रियॉ उस पुरुष को प्राप्त नही करतीं, तब तक इनके नाम, काम और रूप पृथक्-पृथक् दृष्टि पड़ते हैं। आँख का कार्य देखना है। आँख की आकृति नाक और कान से पृथक् है। इसी प्रकार और की दशा है। परन्तु जिस समय समाधि की अवस्था में अपने विषयों को त्याग कर पुरुष को प्राप्त हो जाती हैं, तब इनका

नाम रूप और काम सब छूटकर पुरुष ही रह जाता है। वह पुरुष कला अर्थात् इन्द्रिय आदि से अपनी जाति में पृथक् है। यह सब कला पुरुष का न तो स्वरूप ही है, न इसकी जाति से इनका सम्बन्ध है और वह पुरुष मृत्यु से रहित है। क्योंकि मृत्यु उसकी होती है, जिसका जन्म हो न तो पुरुष का जन्म है, न मृत्यु; यह सब शरीर के धर्म हैं। शरीर ही मरता, शरीर ही जन्मता, शरीर से ही यह कला निवास करती हैं। जब जीवात्मा अपने से बाहर की ओर देखता है, तब अपने को अविद्या से कला-धारी स्वीकार करता है, जिससे मृत्यु आदि के भय में लिप्त रहता है। जब भीतर की ओर देखता है, तब अविद्या नाश हो जाती है और वह कला के अहङ्कार से मुक्त हो जाता है। इस विषय में उपरोक्त श्लोक प्रमाण है।

मन्त्र—अरा इव रथनाभौ कला यस्मिन प्रतिष्ठिताः। तं वेद्यं पुरुषं वेद यथा मा वो मृत्युः परिव्यथा इति ॥ ६ । ६५ ॥

(शब्दार्थ) अराइव रथनाभौ=जिस प्रकार गाड़ी के पहिया की नाभि अर्थात् पुठी में आरे लगे होते है। कला= इसी प्रकार कला। यस्मिन्न=जिस पुरुष में। प्रतिष्ठिता= स्थापन हैं। तम्=उसको। विद्यम्=जो जानते हैं। पुरुषम्=जो सर्वत्र व्यापक है। वेद=जानो। यथा= जिससे। मा=मत। नः=हमको। मृत्युः=मृत्यु की। परिव्यथा=महा कष्ट हो। इति=यह।

(अर्थ) पिप्पलाद ऋषि कहते हैं—हे ऋषियो ! जिस प्रकार रथ की पहिये की पुठी में आरे लगे होते हैं, इसी प्रकार जिस पुरुष में सब कला विद्यमान हैं, जिसके बिना कोई कला

रह नहीं सकती। इस जानने योग्य परमात्मा को जानो, जिससे मृत्यु के भय से मुक्त होते हैं।

प्रश्न—क्या इस संसार में ब्रह्म जानने योग्य है और कोई वस्तु नहीं?

उत्तर—निस्संदेह विद्वानों के विचार में तो केवल ब्रह्म जानने योग्य है। क्योंकि अन्य वस्तुओं के जानने से मृत्यु के कष्ट से बच नहीं सकता। यद्यपि मनुष्य ने प्राकृतिक ज्ञान के द्वारा तोप, बंदूक डायनामेन्ट के गोले आदि बहुत से यन्त्र बना लिये, जिससे दूसरों को मार सके। परन्तु ऐसा कोई यन्त्र नहीं बना, जिससे मनुष्य मृत्यु के भय से बच सके। यूरुप अमेरिका जो प्राकृतिक विज्ञान में विशेष उन्नति कर चुके हैं। वहाँ पर भी कोई भी महाराजा ऐसा नहीं जिसको मृत्यु का भय न हो। सब के साथ बाडीगार्ड की विद्यमानता बताई है कि वहाँ के राजा मृत्यु के भय से रहित नहीं। एडवर्ड सप्तम जैसे सब से बड़े राजा की मृत्यु प्रकट करती है कि अब तक कोई ऐसा यन्त्र नहीं बना, जिसके द्वारा मृत्यु के भय से बच सकें। अतः जिस प्राकृतिक विज्ञान से मारना तो सरल हो जावे, परन्तु बचाने का कोई यन्त्र न मिले। तो यह ज्ञान अविद्या से शरीर को आत्मा माननेवालों के विचार में तो जानने योग्य हो सकता है। परन्तु जो मनुष्य ज्ञानी हैं, वह केवल ब्रह्म को जानना चाहते हैं, जिससे मृत्यु का दुःख कोई वस्तु ही नही रहता, अर्थात् जानने योग्य ब्रह्म ही है। क्योंकि इसके ज्ञान से सब का ज्ञान होना सम्भव है और दूसरे किसी के ज्ञान से उसका ज्ञान हो नही सकता। अतः एक ब्रह्म ही जानने योग्य है।

मंत्र–तान् हो वाचैतावदेवाहमेतत्परं ब्रह्म । वेद नातः परमस्तीति ॥ ७ । ६६ ॥

(शब्दार्थ) तान्=उन सुकेशादि अपने शिष्यों को अंतिम परिणाम बताने को । होवाच=पिप्पलाद ऋषि ने कहा । एतावद्=इसी कदर । एव=है । अहम्=मैं । ब्रह्म= परमात्मा को । वेद=जानता हूँ । न=नहीं । अत.=इससे । परम=अधिक । अस्ति=है । इति=यह ।

(अर्थ) पिप्पलाद ऋषि ने सुकेशादि अपने शिष्यो से परिणाम निकाल कर कहा कि इतना ब्रह्मज्ञान है कि वह सब से सूक्ष्म, सब से महान् अर्थात् गुण में सब से उच्च है। इस से अधिक और कुछ मैं ब्रह्मज्ञान स सम्बन्ध में नही जानता। और इस विचार से कि और काई दूसरा जानता हो, तो ब्रह्मज्ञान इससे पृथक् भी होगा। कहा कि इससे परे और कुछ नहीं।

प्रश्न—क्या पिप्पलाद ऋषि के ऐसे कहने से ऐसा परिणाम नहीं निकलता कि उन्होंने ब्रह्मज्ञान की सीमा प्राप्त करली, जिसको कोई प्राप्त न कर सके ।

उत्तर—जितना जीवात्मा जान सकता है, वह यही है कि ब्रह्मज्ञान अनन्त है, उस ब्रह्म से परे कुछ नहीं। जब इससे परे सबको न होना बता दिया, अपने ज्ञान के न होने का भी इससे प्रकाश हो गया, जिससे ब्रह्म का अनन्त होना ही स्थित रहा।

मंत्र–ते तमर्चयन्तस्त्वं हि नः पिता योऽस्मा- कमविद्यायाः परं पारं तारयसीति । नमः परम ऋषिभ्यो नमः परम ऋषिभ्यः ॥ ८ । ६७ ॥

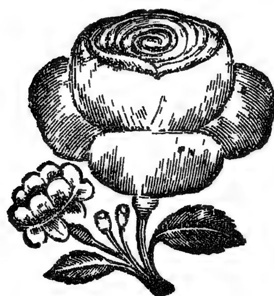
(शब्दार्थ) ते=वह सुकेशादि ऋषि। तम्=उस पिप्पलाद ऋषि की। अर्चन्त=पूजा करके। त्वम्=तू है। नः=हमारा। पिता=गुरु है, तुही रक्षक है। यो=जो। अस्माकं=हमको। अविद्यायाः=अविद्या से। परम=परे। पारम्=पार किनारे। तारयसि=तैरा कर ले जायगा। इति=यह। नमः=नमस्कार पूजा है। परमऋषिभ्यः=पूर्ण वेद के जाननेवाले को। दोबारा पुस्तक समाप्त होने का चिन्ह है।

(अर्थ) सुकेशादि शिष्यों ने पिप्पलाद ऋषि की पूजा करके कहा कि—महाराज! आप ही हमारे गुरु है, जो हमको अविद्या के सागर से पार करने की सामर्थ्य रखते है। यद्यपि संस्कार सागर बहुत ही बड़ा है और अविद्या ने सम्पूर्ण जगत् को घेर रक्खा है, परन्तु आप की कृपा से हमको इस अविद्या से कोई भय नहीं रहा। इसलिये हे वेदों के तत्त्व के पूर्ण ज्ञानी तुझको बार-बार हमारा नमस्कार है। अन्त मे पुनर्बार लिखने से ज्ञात हुआ कि यह उपनिषद् समाप्त होगई।

हिन्दी अनुवाद प्रश्नोपनिषद् का समाप्त हुआ।

ओ३म्

शान्तिः शान्तिः शान्तिः।



❀ ओ३म ❀

मुण्डकोपनिषद्
का
हिन्दी अनुवाद

मंत्र—ब्रह्मा देवानां प्रथमः सम्बभूव विश्वस्य कर्त्ता भुवनस्य गोप्ता। स ब्रह्मविद्यां सर्वविद्या प्रतिष्ठामथर्वाय ज्येष्ठ पुत्राय प्राह ॥ १ ॥

(शब्दार्थ) ब्रह्मा=चारो वेदो का ज्ञाता धर्म, ज्ञान और वैराग्य से युक्त। देवानां=विद्वानो मे। प्रथमः=प्रथम। सम्बभूव=भद्र किया, पैदा हुआ। विश्वस्य=जगत् मे धर्म के। कर्ता=करनेवाले अर्थात् प्रत्येक वर्णाश्रम के नियम बनाने वाले। भुवनस्यगोप्ता=सर्व प्राणियो की रक्षा का उपदेश दाता। स=उसने। ब्रह्मविद्या=ब्रह्मविद्या को। सर्वविद्या प्रतिष्ठाम्=सर्व विद्याओं के ठहरने के स्थान। अथर्वाय=अथर्व को। ज्येष्ठपुत्राय=जो उनका बड़ा बेटा था। प्राह=उपदेश किया।

(अर्थ) ब्रह्मा सर्व विद्वानों में प्रथम कहलाता है अर्थात् ऋषियों से बड़ी पदवी ब्रह्मा की है, क्योंकि चारों वेदों के

जानने से ब्रह्मा कहलाता है, जैसा कि गायत्री उपनिषद् में लिखा है कि वेदों से ब्रह्मा होता है। जो प्रथम ब्रह्मा हुआ उसने संसार के अर्थ वर्णाश्रम के विभाग के अनुकूल नियम बनाये और उन नियमों के द्वारा प्रत्येक प्राणी की रक्षा की। उसने सब से ज्येष्ठ पुत्र अथर्व नामी को ब्रह्मविद्या का उपदेश किया।

प्रश्न—यह क्यों न माना जावे, सब से प्रथम ब्रह्मा उत्पन्न हुआ। ब्रह्मा पदवी सब से प्रथम क्यों स्वीकार की जावे।

उत्तर—शतपथ, गोपथ और ऐत्तरीय ब्राह्मण में अग्नि, वायु, आदित्य और अङ्गिरा को परमात्मा का वेद उपदेश करना लिखा है। ओर गायत्री उपनिषद् में ब्रह्मा का वेदों से बनाना लिखा है, जिससे स्पष्ट है कि ब्रह्मा से पूर्व वेद, अग्नि, वायु आदित्य, अङ्गिरा के द्वारा प्रकाशित हुए। और उन ऋषियो स ब्रह्मा ने पढ़े। और चारो वेदो के जानने से सब से बड़ा अर्थात् प्रथम कहलाया।

प्रश्न—ब्रह्मविद्या का अथर्व से सम्बन्ध क्यो बताया ?

उत्तर—ऋग, यजु, साम वेद तो यज्ञ के अर्थ हैं और ब्रह्मविद्या के अर्थ अथर्व ही काम आता है।

प्रश्न—ब्रह्म को जगत् का कर्ता क्यों न स्वीकार किया जावे, जैसा कि शब्दार्थ से प्रकट होता है।

उत्तर—ब्रह्मा का संसार मे जन्म हुआ, इसलिये संसार में सम्मिलित है। इस कारण वह जगत् कर्ता नही हो सकता।

मंत्र—अथर्वणे यां प्रवदेत ब्रह्माऽथर्वा तां पुरोवाचाङ्गिरे ब्रह्मविद्याम्। स भारद्वाजाय सत्यवाहाय प्राह भारद्वाजोऽङ्गिरसे परावराम् ॥ २ ॥

(शब्दार्थ) अथर्वणे=अथर्वण शिष्य को । यां=जिस ब्रह्म विद्या को । प्रवदेत=बताया था । ब्रह्मा=ब्रह्मा ने अथर्वा=अथर्वा ने । ताम् = उस ब्रह्म-विद्या को । अङ्गिरे= अङ्गिर शिष्य को पढ़ाया । पुरोवाच=अन्य शिष्यों को भी उपदेश किया । स=उस अंगिर ने । भारद्वाजाय=भारद्वाज ऋषि के गोत्रवाले । सत्यवाहाय=सत्यवाह शिष्य को । प्राह=उपदेश किया । भारद्वाजो=उस भारद्वाज ने अंगिरिसा = अंगिरा शिष्य को । परावराम्=दूसरों से प्राप्त की हुई ब्रह्म-विद्या को पढ़ाया ।

(अर्थ) अथर्ववेद से ग्रहण की हुई मुण्डकोपनिषद् नामी ब्रह्मविद्या जो ब्रह्मा ने अथर्व को पढ़ाई थी, अब उस क्रम को बताते हैं कि अथर्व ने उसको अंगी नाम अपने शिष्य को पढ़ाया। और अंगी ने भारद्वाज गोत्र में उत्पन्न हुए सत्यवाह ऋषि को पढाया । उसने अंगिरस नामी ऋषि को दूसरे गुरुओ से प्राप्त की हुई ब्रह्मविद्या को पढ़ाया । इस इतिहास से ब्रह्मविद्या का अनादि काल से होना सिद्ध होता है । और वर्तमान काल के यूरुप-वासी मनुष्य आरम्भ में अविद्या को स्वीकार कर बैठे हैं। इन दोनो में से कौन सत्य है ? इसके विषय में किसी युक्ति की आवश्यकता नही , जिसकी साक्षी ईश्वरीय नियम के अनुकूल है । ईश्वर ने प्रथम सूर्य का पूण प्रकाश उत्पन्न किया, जब वह पूर्ण प्रकाश सायंकाल को छिप गया, तब मनुष्यो ने दीपक जलाये । इससे स्पष्ट है कि पूर्ण प्रकाश पहले उत्पन्न हुआ, अपूर्ण पश्चात् । अतः परमात्मा ने पूर्ण वेदों की शिक्षा प्रथम दी, पश्चात् अन्य प्रकार की अपूर्ण शिक्षा आरम्भ हुई ।

मंत्र--शौनकोहि महाशालोऽअंगिरसं विधि-

वदुपसन्नः पप्रच्छ । कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवतीति ॥ ३ ॥

(शब्दार्थ) शौनकः=शौनक ऋषि की संतान । हि= निश्चय करके । महाशालो=जिसके भवन बहुत बड़े थे । अंगिरसम्=सत्यवाह ऋषि के शिष्य अंगिरस ऋषि के । विधिवत्=शास्त्र नियमानुकूल । उपसन्न=पास जाकर । पप्रच्छ=प्रश्न किया । कस्मिन्नु=किस हेतु । भगवा=हे ज्ञाता गुरु । विज्ञाते=जान लेने से । इदं सवम्=यह सब । विज्ञातं= ठीक प्रकार जाना हुआ । भवति=होता है । इति=यह बताओ ।

(अर्थ) शौनक ऋषि ने जो बहुत बड़े महल रखता था, अंगिरस के समीप शास्त्र-नियमानुकूल जाकर प्रश्न किया कि हे गुरु महाराज ! किस एक के जानने से यह सब जाना जायगा । तात्पर्य यह है कि किसके जानने से मुझे किसी अन्य के जानने की आवश्यकता न रहेगी । अथवा कोई अन्तिम जानने योग्य वस्तु है, जिसके जानने के पश्चात् सब जाना हुआ होगा, किसी के जानने की आवश्यकता न रहेगी । अर्थात् यह प्रश्न ब्रह्मविद्या के सम्बन्ध में है । क्योंकि और ऐसी कोई वस्तु नहीं, जो ब्रह्म की भाँति सब से महान् और सब से सूक्ष्म, सब से अधिक आवश्यकीय आनन्ददायक तथा ज्ञानदाता हो । इसके उत्तर मे ऋषि कहते हैं ।

मंत्र--तस्मै स होवाच द्वेविद्ये वेदितव्य इति ह स्मयद् ब्रह्मविदो वदन्ति पराचैवा परा च ॥४॥

(शब्दार्थ) तस्मै=इस शौनक को । स=वह अंगिरस । हउवाच=यह कहने लगे । द्वेविद्ये=दो विद्या हैं । वेदितव्य=

जानने योग्य हैं। इस=पुराने इतिहास को स्मरणार्थ कहते हैं। यत्=जो। ब्रह्मविद=वेद के ज्ञाता विद्वान् लोग। वदन्ति=कहते हैं। परा=जो परमात्मा के जानने का मुख्य साधन। अपराच=जिससे जगत् में धर्म, कर्म और सब पदार्थों का ठीक ज्ञान हो।

(अर्थ) अङ्गि ऋषि ने शौनक को उपदेश किया कि इस जगत् में जानने योग्य दो प्रकार की विद्या हैं। जिसमें से एक का नाम परा विद्या है, जिससे सब सूक्ष्म और व्यापक परमात्मा का ज्ञान होता है। दूसरी अपरा जिससे संसारिक धर्म, कर्म और प्राकृतिक पदार्थों का ज्ञान होता है। आगे इसकी व्याख्या करते हैं।

मन्त्र--तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः शिक्षा कल्पो व्याकरणं। निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमिति अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते ॥ ५ ॥

(शब्दार्थ) तत्र=उन दोनों विद्याओं में। अपरा=अपरा विद्या यह है। ऋग्वेदा=ऋग्वेद। यजुर्वेदः=यजुर्वेद। सामवेद=सामवेद। अथर्ववेद=अथर्ववेद। शिक्षा=शिक्षा वेदांग। कल्प=कल्प वेद का दूसरा अंग। व्याकरणं=व्याकरण वेद का तृतीयांग। निरुक्त=निरुक्त वेद का चतुर्थांग। छन्द=छन्द वेद का पचमांग। ज्योतिष=ज्योतिष वेद का षष्ठमांग। इति=यह वेद और वेदांग अपरा विद्या हैं। अथ=इसके पश्चात्। परा=पर वह विद्या। यया=जिसेस। तदक्षरम्=वह ब्रह्म। अधिगम्यते=जाना जाता है।

(अर्थ) ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद के षष्ठाङ्ग अर्थात् शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द, ज्योतिष यह सब अपरा विद्या में सम्मिलित हैं। और परा उस विद्या को कहते है जिससे केवल वह नाश रहित ब्रह्म जाना जाता है।

प्रश्न—क्या वेदो से ब्रह्म नही जाना जाता?

उत्तर—वेदों में ब्रह्म का ज्ञान है, परन्तु जब तक वेद को सुनकर उसको मनन युक्ति पूर्वक न किया जावे, और उसमें कहे हुए को मन में स्थित न किया जावे, तब तक ब्रह्म का साक्षात् ज्ञान नहीं होता। इस कारण वेद के अर्थ सहित सुनने का नाम अपरा विद्या है। और जो मनुष्य मनन करके निधिध्यासन के द्वारा साक्षात् करते हैं, उनको जो ज्ञान होता है, वह परा विद्या है।

प्रश्न—बहुत से वेदों को अपरा विद्या और उपनिषदों को परा विद्या के नाम से पुकारते हैं।

उत्तर—इसमें कोई हानि की बात नही, क्योंकि उपनिषद् में भी वेद के साक्षात् करनेवाले ऋषियो के उपदेश हैं, जो वेदों के व्याख्यान होने से वेद ही के ज्ञान से उत्पन्न हुए है।

मन्त्र--यत्तद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णमचक्षुः श्रोत्रं तदपाणिपादम । नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं तदव्ययं तदभूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः ॥ ६ ॥

(शब्दार्थ) यत् = जो। तत् = वह। अद्रेश्यम् = जो ज्ञानेन्द्रिय से अनुभव नहीं होता। अग्राह्यम् = जिसको कोई पकड़ नहीं सकता। अगोत्रम् = जिसका कोई गोत्र नहीं।

अवर्णम्=जिसका ब्राह्मणादि वर्ण नहीं है। अचक्षु=जिसके नेत्र नहीं। अश्रोत्रम्=जिसके कान नहीं। अपाणिपादम्=जिसके हाथ पाँव नहीं। नित्यं=जो नित्य है। विभुं=व्यापक है। सर्वगतम्=सब के हाल को जानता। सुसूक्ष्मं=जो अत्यन्त सूक्ष्म। तद्=वह। अव्ययं=नाश और त्रुटि रहित। या=जो। भूत योनिम्=सम्पूर्ण जगत् की जड़ चेतन्य सृष्टि का कारण है। परिपश्यन्ति=जो उस सर्व व्यापक को ध्यान से देखत हैं। धीराः=बुद्धिमान् धैर्य्यव्रत मनुष्य।

(अर्थ) अब उस परा विद्या से जानने योग्य ब्रह्म का लक्षण करते हैं, जो इन्द्रिय से अनुभव नहीं होता ; क्योंकि इन्द्रियाँ स्थूल पदार्थ को देखनेवाली हैं। वह सूक्ष्म और सर्व व्यापक है, उसका कोई गोत्र और वर्ण नहीं, क्योंकि पह किसी वंश में उत्पन्न नहीं हुआ और न सतोगुण, रजोगुण इत्यादि उसमें आते हैं, जिससे कोई वर्ण कहा जावे। उसके नेत्र नहीं, क्योंकि नेत्र बाहर की वस्तु को देखने को होते हैं। उससे बाहर कोई वस्तु नहीं, जिसके लिये नेत्र की आवश्यकता हो। उसके कान नहीं, क्योंकि कान भी बाहर का शब्द सुनने के लिये होते हैं। और उसके हाथ पाँव नहीं, क्योंकि यह जाने के लिये होते हैं। वह वहाँ जावे, जहाँ पहले से विद्यमान न हो। हाथ उस वस्तु को पकड़ते हैं जो बाहर हो, उससे बाहर कोई वस्तु नहीं है, वह नित्य है, जिसकी उत्पत्ति और नाश दोनो असम्भव हैं। और सर्वत्र विद्यमान है और सब के हृदय के जाननेवाले हैं, उनको कोई साक्षी अथवा वकील आदि धोके में नहीं डाल सकता। वह सब से सूक्ष्म है, उसमें किसी दूसरी वस्तु के गुण नहीं आ सकते। वह निकृष्टि से निकृष्ट वस्तु के भीतर रहते हुए भी उसके प्रभाव से पृथक् है। वह नाश रहित हैं, जो उस

सम्पूर्ण जगत् के कारण को ध्यान द्वारा साक्षात् करते हैं। वह धैर्यव्रत मनुष्य हैं, जो मनुष्य के उद्देश मार्ग को पूर्ण करते हैं। उसके जानने से सब जाने जाते हैं।

मन्त्र–यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च यथा पृथिव्यामौषधयः सम्भवन्ति। यथा सतः पुरुषात्केशलोमानि तथाऽक्षरात्सम्भवतीह विश्वम ॥ ७ ॥

(शब्दार्थ) यथा=जैसे। उर्णनाभिः=मकड़ी। सृजते=जाले को उत्पन्न करती। गृह्णते=जाले को अपने भीतर प्रवेश करती है। च=और। यथा=जैसे। पृथिव्याम्=पृथिवी के भीतर। औषधम्=औषधि अन्नादि। सम्भवन्ति=उत्पन्न हो जाते हैं। यथा=जैसे। सतः=विद्यमानता से। पुरुषात्=पुरुष से। केशलोमानि=शिर और शरीर के केश उत्पन्न होते है। यथा=जैसे। अक्षरात्=नाश रहित परमात्मा से सम्भवति=उत्पन्न होता है। इह=जगत् में। विश्वम्=सब जगत्।

(अर्थ) तीन दृष्टान्त दिये हैं जिससे प्रकट होता है कि सृष्टि की उत्पत्ति निमित्त कारण से होती है। जो मनुष्य उपादान-कारण और निमित्त-कारण को एक मानकर सृष्टि की उत्पत्ति करना चाहते हैं, उनके समीप कोई दृष्टान्त नहीं। प्रथम दृष्टान्त यह है कि जिस प्रकार मकड़ी अपने भीतर से जाला निकालती है और फिर भीतर ही प्रवेश कर लेती है। इसी प्रकार परमात्मा अपनी माया में से जगत् को उत्पन्न करता है। माया अर्थात् प्रकृति जगत् का उपादान-कारण और परमात्मा निमित्त-कारण, क्योंकि मकड़ी में शरीर और आत्मा दो होते

हैं। यदि एक ही होता, तो मृतक् मकड़ी कहीं दृष्टि नहीं पड़ती। द्वितीय दृष्टान्त दिया कि जैसे भूमि से अन्न उत्पन्न होता है। यहाँ भी बीज और भूमि या पानी और भूमि दो होते हैं। विना पानी के भूमि से कोई वस्तु उत्पन्न नहीं होती। तृतीय, जीव की विद्यमानता से शरीर में केश और लोम उत्पन्न होते है, यदि अकेले उत्पन्न होते तो मृतक् शरीर से उत्पन्न हो जाते, अथवा विना शरीर के आत्मा में उत्पन्न हो जाते। यही दृष्टान्त हैं जिनको अद्वैतवादी मनुष्य अभिन्न, निमित्त, उपादान-कारण की व्याख्या करते हुए पेश करते हैं। यह उनके मत को सिद्ध नहीं करते, किन्तु खण्डन करते हैं। इसी लिये उन्होंने और भी बहुत से बाद एक ही ब्रह्म से सृष्टि उत्पन्न करने के लिये कल्पना करते हैं, परन्तु प्रत्येक निर्बल ही प्रतीत होता है। क्योंकि परमात्मा जो नित्य स्वामी और नित्य ही राजा है, उनकी प्रजा का सत्य होना आवश्यकीय है। यदि प्रकृति न हो, तो उनका नाम परमात्मा किस प्रकार हो सकता है। क्योंकि विना किसी व्याप्य के जिसमें व्यापक हो सके, व्याप्य कैसे कहला सकते हैं।

मंत्र--तपसा चीयते ब्रह्म ततोऽन्नमभिजायते। अन्नात्प्राणो मनः सत्यं लोकाः कर्मसु चामृतम् ॥ ८ ॥

(शब्दार्थ) तपसः=परमात्मा के ज्ञान से। चीयते=महानता है, परमात्मा को, जीवात्मा और प्रकृति पर इस महानता के कारण वह। ब्रह्म=सब से बड़ा कहलाता है। ततः= उस परमात्मा के ज्ञानानुकूल प्रकृति को क्रिया करने से। अन्नम्=जो सब को विना किसी विशेषता के पचाता है

अर्थात् प्रकाश रूप अग्नि। अन्नात्=उस अन्न से। प्राण= प्राण बनते है। मनः=मन उत्पन्न हुआ। सत्यं=और उससे सत्य अर्थात् कारण रूप सूक्ष्म भूत उत्पन्न हुए और। लोकः=उससे यह स्थूल शरीर उत्पन्न हुआ। कर्मसु=उनसे कर्म और कर्म से। च=और। अमृतम्=मुक्ति का साधन, अन्तःकरण की शुद्धि होती है।

(अर्थ) परमात्मा जब अपने अनन्त ज्ञान से जगत् को उत्पन्न करते हैं, तो कतिपय मनुष्य यह संदेह करते है, कि जिस प्रकृति से जगत् को उत्पन्न किया जाता है और जो जीव उसमें प्रविष्ट होता है, परमात्मा को उन पर महानता क्यो है? यद्यपि यह प्रश्न मूर्खता को प्रकाशित करता है, क्योंकि शब्द 'क्यों' का प्रयोग उत्पन्न हुई वस्तु पर किसी नित्य वस्तु पर इस शब्द का प्रयोग किसी प्रकार सम्भव नहीं। यथा कोई कहे अग्नि क्यों गरम (ऊष्ण) है, प्रकृति क्यो जड़ है, जीव क्यों चेतन्य है, ईश्वर क्यो नित्य है। परन्तु इस महत्व का कारण भी ऋषियो ने बता दिया है। वह कहते हैं कि ब्रह्म को दोनो पर महत्त्व इस कारण है कि वह ज्ञानानुकूल क्रिया देकर जगत् को बनाता है। जड़ प्रकृति से हरकत देने के कारण और अल्पज्ञ जीवात्मा को ज्ञान देने के कारण वह उन पर महत्त्व रखता है। और इसी ज्ञान के महत्त्व के कारण उसका नाम ब्रह्म है। और इस ज्ञान के अनुकूल प्रकृति को हरकत देने से आकाश उत्पन्न हुआ और आकाश से प्राण अर्थात् वायु और अग्नि उत्पन्न हुई और उससे जल, पृथिवी व मन उत्पन्न हुए, उससे सूक्ष्म-भूत और उससे पंच तन्मात्रा अर्थात् गंध, रस, रूप, स्पर्श, शब्द उत्पन्न हुए, इससे स्थूल शरीर उत्पन्न हुए और उनसे जीव कर्म करने लगे और कर्म से ही अमृत अर्थात् मुक्ति के साधन हो सकते हैं।

प्रश्न—इस श्रुति में तो अन्न शब्द है, उसका अर्थ आकाश किस प्रकार कर लिया ?

उत्तर—जो सम्पूर्ण पदार्थों को खा जावे, अथवा जिसको भूत खावे, उसको अन्न कहते है । अतः आकाश के विना कोई भी नहीं रह सकता और आकाश ही सब का नाश करनेवाला है । जिस वस्तु में आकाश नहीं, वह ही वस्तु अविनाशी है । इस लिये आकाश अर्थ हो सकता है ।

प्रश्न—श्रुति में तप शब्द का अर्थ ज्ञान तथा चेतन्य कैसे हो सकता है ।

उत्तर—श्रुति ने बताया है कि ब्रह्म का तप ज्ञान ही है। वह प्रत्येक वस्तु को ज्ञान से हरकत देता है । वह सर्व व्यापक स्वयम् हरकत करके दूसरों को हरकत नहीं देता, किंतु ज्ञान-रूपी तप से ही हरकत देता है ।

मंत्र—यः सर्वज्ञः सर्वविद्यस्य ज्ञानमयं तपः ।
तस्मादेतद् ब्रह्म नाम रूपमन्नं च जायते ॥ ६ ॥

(शब्दार्थ) यः=जो परमात्मा परा विद्या से जाना जाता है । सर्वज्ञः=जो सर्वज्ञ है । सर्ववित्=जो एक ही समय में सबको जान रहा है । यस्य=जिसका । ज्ञानमयं तपः=जिसका ज्ञान स्वरूप ही तप है । तस्मात्=इस कारण से परमात्मा से । एतत्=यह । ब्रह्म=सबसे महान । नाम=बड़े का नाम । रूपम्=रूप । अन्नाम्=औषधि आदि । जायते=उत्पन्न होते हैं ।

(अर्थ) जो परमात्मा सम्पूर्ण जगत् के पदार्थों को जानता है, जिसका ज्ञान स्वाभाविक है, जिसको नैमित्तिक ज्ञान कहीं होता ही नहीं । क्योंकि जिसका ज्ञान प्रथम न हो, उसका ज्ञान

न होने से वह सर्वज्ञ न हो, पहले जिसको न जानता हो उसी को जाने, वह सर्वज्ञ होने से पहले ही से सब को जानता है। और यह नहीं कि किसी को अब जाना और किसी को कल। किन्तु कुल को प्रत्येक स्थान पर होने से प्रत्येक समय एक साथ जानता है और इस ज्ञान के महत्व से, उसका नाम ब्रह्म है। और उससे जगत् में नाम, रूप और भोग्य वस्तु उत्पन्न हुई है। यदि परमात्मा अपने ज्ञान में से नाम रूप की विद्या न देता, तो जीव उसको किसी प्रकार नहीं जान सकते।

प्रश्न—क्या हम जो कुछ संसार में परिवर्तन देखते हैं कि परमात्मा इनको नहीं जानता ?

उत्तर—जगत् में जो कुछ है, वह सब तीन भागों में है। एक जाति, दूसरे आकृति, तीसरे व्यक्ति, यह तीनों पृथक्-पृथक् विद्यमान होती हैं, उत्पन्न नही होती है। इसलिये परमात्मा इसको पहले से जानते हैं। क्योंकि जाति उस वस्तु का नाम है, जो एक से गुणवाली बहुत सी वस्तु पर ठीक-ठीक प्रयोग हो और वह जाति परमात्मा के ज्ञान में सदा रहती है। क्योंकि उसका चिन्ह आकृति है और आकृति प्रत्येक वस्तु में कर्ता के ज्ञान से आया करती है। जैसे मकान के बनने से पहले इंजीनियर उसका चित्र तय्यार करता है। मकान में जो आकृति आती है, उस चित्र से आती है, जो मकान के बनने से पहले इंजीनियर के ज्ञान में विद्यमान थी। और शरीर बनने के सामान प्रकृति में विद्यमान थे, अतः तीनों वस्तु परमात्मा के ज्ञान में पहले से विद्यमान होती हैं। फिर नवीन कौन सी वस्तु है, जिसका उसे ज्ञान हो।

प्रथम मुण्डक का प्रथम खण्ड समाप्त हुआ।

अथ प्रथम मुण्डक-द्वितीय खण्ड

मंत्र--तदेतत्सत्यं मन्त्रेषु कर्माणि कवयो यान्यपश्यंस्तानि त्रेतायां बहुधा सन्ततानि। तान्याचरथ नियतं सत्यकामा एष वः पन्थाः सुकृतस्य लोके ॥ १ । १० ॥

अब द्वितीय खण्ड में परमात्मा के जानने में जो रुकावट अन्तःकरण का मलीन होना है, जिसके कारण से मनुष्य परमात्मा के पुरुषार्थ करते हुए सफल नहीं होते। यथा दर्पण के विना नेत्र और उसमें रहनेवाला अंजन दृष्टि नहीं आता। परमात्मा ने जीव को अपने स्वरूप और परमात्मा को जानने के लिये मन का दर्पण दिया है, जिसको अविद्या से यह जीवात्मा मलीन कर लेता है। और उस मन के मलीन हो जाने से, जीव को न तो अपना ही ज्ञान रहता है, न परमात्मा का। अब उस मन को शुद्ध करने का विधान बताते हैं।

(शब्दार्थ) तदेतत्सत्यं=यह बात सत्य है कि प्रत्येक प्रयत्न धर्मवाले जीव को कर्म करना चाहिये, क्योंकि वेद में ईश्वर ने जीव को जिन कर्मों को करने की आज्ञा दी है वह हानि नहीं कर सकते। मंत्रेषु=वेद मन्त्रों में। कर्माणि= जितने कर्म। कवय=ज्ञानी ऋषियों। यानि=जो-जो। अपश्यन्=देखने अर्थात् योग से मालूम किये। तानि= उनको। त्रेतायाम्=त्रेता युग में अथवा तीन गुणवाले जगत् में। बहुधा=बहु प्रकार की व्याख्या के साथ। सन्ततानि=शास्त्रों के द्वारा बताकर। तानि=उनको। आचरथ= कर्म में लाओ। नियतं=नियमानुकूल। सत्यकामा=सत्य की

प्रश्न—वह तीन प्रकार की कामना कौन सी हैं, जिनके दूर होने से मन निर्मल हो जाता है।

उत्तर—वित्तेषणा अर्थात् धन की इच्छा, जिसको धन की इच्छा है, उसका मन मलीन है। द्वितीय, पुत्रेषणा अर्थात् संतान की इच्छा। तृतीय, लोकेषणा अर्थात् यश, प्रतिष्ठा और शासन की इच्छा।

प्रश्न—धन की इच्छा क्यों मन के मलीन होने का प्रमाण है?

उत्तर—धन दूसरे को हानि पहुंचाकर ही तो प्राप्त होता है। दूसरे उससे प्रत्येक समय हानि ही होती है। जैसा कि भर्तृहरिजी ने कहा कि प्रथम तो धन के एकत्र करने में ही कष्ट होता है। दूसरे उसके रक्षा करने में रात्रि दिवस जागना पड़ता है। तीसरे, व्यय करने में भी विचार होता है कि अधिक व्यय हो गया। चौथे, नाश होने पर तो बहुत ही हानि होती है, सैकड़ों को पागल बना देता है।

प्रश्न—लोकेषणा क्यों बुरी है?

उत्तर—इसमें भी दूसरे मनुष्यों की स्वतंत्रता पर ही आघात करना पड़ता है।

मंत्र—यदा लेलायते ह्यर्चिः समिद्धे हव्यवाहने। तदाज्यभागावन्तरेणाऽऽहुतीः प्रतिपादयेच्छ्रद्धया हुतम् ॥ २ । ११ ॥

(शब्दार्थ) यदा=जिस समय। लेलायते=ठीक प्रकार जल उठे। हि=निश्चय। अर्चि=अग्नि की लाट। समिद्धे=समिधा में प्रवेश कर जावे। हव्यवाहन=हवन की सामिग्री को सूक्ष्म करके उड़ानेवाली अग्नि। तदा=उस समय। आज्यभागौ=घी के देने योग्य दो आहुतियों को। अन्तरेण=

अन्तर है। आहुति=आहुति। प्रतिपादयेत्=डालता जावे। श्रद्धया=श्रद्धा से। हुतम्=जिससे हवन ठीक हो सके।

(अर्थ) अब यज्ञ के लिये जो निष्काम कर्म है, उसका विधान बताते हैं कि जब समिधा में लगी हुई अग्नि भले प्रकार से अग्नि में प्रवेश कर जावे और देवताओं को हवन का भाग पहुँचानेवाली अग्नि भले प्रकार प्रचंड हो जावे, घृत की दो आहुतियों के अन्तर से हवन कुण्ड में श्रद्धा से आहुतियाँ डालना चाहिये।

प्रश्न—यज्ञ को निष्काम कर्म क्यों कहते हैं? क्योंकि वह वायु की शुद्धि के अर्थ किया जाता है?

उत्तर—यज्ञ केवल वायु की शुद्धि के लिये तो विद्वान् मनुष्य स्वीकार नहीं करते, किन्तु उससे और भी बहुत लाभ है। यथा हम यदि भोजन बाँटें, तो सम्भव है अपने मित्रों को दें और शत्रुओं को उससे वंचित रक्खें। परन्तु हवन में जो सामिग्री डाली जाती है, उसका प्रभाव प्रत्येक मित्र शत्रु पर बिना किसी विचार के एक सा होता है। इस कारण यज्ञ का नाम निष्काम कर्म भी है, जब कि किसी संसारिक स्वार्थ से न किया जावे।

मंत्र—यस्याग्निहोत्रमदर्शमपौर्णमासम् चातुर्मास्यमनाग्रयणमतिथिवर्जिनञ्च। अहुतमवैश्वदेवमविधिनाहुतमासप्तमांस्तस्य लोकान् हिनस्ति॥ ३। १२॥

(शब्दार्थ) यस्या=जिस ग्रहस्थी के घर का। अग्निहोत्रम्=अग्निहोत्र। अदर्शम्=वह यज्ञ जो अमावस्या और

एकम के मिलाप के समय होता है। अपौर्णमासम्=जो पूर्णमासी में करनेवाला यज्ञ नहीं करता। चातुर्मास्य=वह यज्ञ जो चतुर्मास में किया जाता है, वह नहीं होता। अनाग्रयणम्=जो शरद ऋतु अर्थात् कार्तिक के मास में करनेवाला यज्ञ नहीं करता। अतिथि वर्जितम्=जिस घर में अतिथि की प्रतिष्ठा नहीं होती। अहुतम्=जो समय पर अग्निहोत्र नहीं करता है। अवैश्वदेवम्=जिसके घर में छोटे जीवों के निश्चित का वलिवैश्व देव यज्ञ भी नहीं होता। अविधिनाहुतम्=जो नियम-विरुद्ध हवन करता है। आसप्तमान्=सात वर्षों तक। तस्य=उसके। लोकान्=लोकों को। हिनास्ति=नाश करता है।

(अर्थ) जिस घर में अग्निहोत्र वर्ष यज्ञ अर्थात् जो यज्ञ अमावस और एकम् के योग पर होता है, पूर्णमासी का यज्ञ और चतुर्मास में करने योग्य शरद् ऋतु में करने योग्य यज्ञ नहीं किये जाते। और जिस घर में आये हुए अतिथि का सत्कार नहीं होता और जिस घर में अग्निहोत्र काल पर नहीं होता और नियम पूर्वक नहीं करता। और जिस घर में अनियम अग्निहोत्र किया जाता, उसके सप्तलोक नाश हो जाते हैं। इस अवसर पर किसी का विचार तो यह है कि उसकी अगली सात पीढ़ी तक नष्ट हो जाती हैं। परन्तु यह उचित नहीं मालूम होता। क्योंकि जब दूसरे तीसरे कुल के मनुष्य नष्ट हो गए, तो और अगले उत्पन्न ही नहीं होंगे। इसलिये सप्त शब्द ठीक प्रयोग नहीं होता। बहुतेरे कहते हैं कि पहिली सप्त पीढ़ी नष्ट हो गई। यह भी ठीक नहीं। क्योंकि पिछली दो तीन से अधिक जीवित नहीं होतीं। कुछ मनुष्य कहते हैं कि सात पीढ़ी का धर्म नाश होता है। परन्तु यह भी ठीक नहीं। क्योंकि

एक के धर्म न करने से दूसरे का धर्म नष्ट नहीं हो सकता। अत इसका मूल तात्पर्य यह है कि जो नियमों को तोड़ता है, उसके अन्त.करण की शुद्धि नही होती। और अन्त करण की शुद्धि न होने से वैराग्य नहीं होता और वैराग्य न होने से अतःकरण की स्थिति नहीं। और अन्तःकरण के स्थिर न होने से ईश्वर की उपासना नहीं होती। और ईश्वर की उपासना दुःख की निवृति नहीं होती। और दुःख की निवृति न होने से आनन्द नहीं मिलता। दुःख की निवृत्ति तथा आनन्द की प्राप्ति न होने से मुक्ति नही होती। क्योंकि निष्काम यज्ञ अन्तःकरण की शुद्धि का कारण है और अन्तःकरण की शुद्धि से ही वैराग्य होता है। जिसका मन मलीन है, उसको वैराग्य नहीं हो सकता। और जिसको वैराग्य नहीं, उसका मन स्थिर नहीं हो सकता। जिसका मन स्थिर नहीं, उसको ईश्वर की उपासना नहीं, उसको दुःख से निवृत्ति किस प्रकार हो सकती है। और जब बुद्धि दुःख के साथ सम्बन्ध रखती है, तो आनन्द किस प्रकार मिल सकता है। जहाँ दुख की निवृत्ति और आनन्द की प्राप्ति नहीं, वहाँ मुक्ति कैसी। अतः निष्काम कर्म न करनेवाले के यह सात अन्त.करण की शुद्धि, विराग, अन्तःकरण की स्थिति, ईश्वर की उपासना, दु ख से दूरी, आनन्द की प्राप्ति और मुक्ति नाश हो जाती है। अर्थात् यह सप्त लोक नहीं मिल सकते , इनके दर्शन से वंचित रहता है।

मंत्र--काली कराली च मनोजवा च सुलोहिता या च सुधूम्रवर्णा। स्फुलिंगिनी विस्वरूपी च देवी लेलायमाना इति सप्तजिह्वाः॥४॥१२

(शब्दार्थ) काली=जिसका रंग काला है। कराली=भयङ्कर। मनोजवा=मन की भाँति बहुत ही चंचल। सुलोहिता या च=ठीक प्रकार लाल रंगवाली। सुधूम्रवर्णा=शुद्ध धूम्र की भाँति जिसका रंग है। स्फुलिङ्गिनी=जिसमें चिनगारियाँ निकल रही हैं। विश्वरूपी=जिसके भीतर सब प्रकार के अङ्ग विद्यमान हैं। च=और। देवी=प्रकाश करनेवाली। लेलायमाना=दहकते हुए प्रकाश से युक्त। इति=यह। सप्त=सात। जिह्वा=जिसमें होम करना है, उसकी यह जिह्वा अर्थात् अवस्था है।

(अर्थ) जिस समय अग्नि इन सात दशाओं में अर्थात् वेग से जल रही हो, उस समय होम करना चाहिये। एक ओर काला धूम्र निकल रहा हो। दूसरे देखने से भयङ्कर मालूम हो। रक्तवर्ण लाटे निकल रही हों। चारों ओर धूम्र फैलने से आकाश धूम्र वर्ण बना रहे और चिनगारियाँ छोटी छोटी उठ रही हों। और प्रत्येक वर्ण की प्रकाशकर्त्री अग्नि देवी प्रकाश कर रही हो। और जिस समय अग्नि प्रकाश होकर इधर उधर लहर मार रही हो, यह सात दशा है, जिस समय अग्नि में होम करना चाहिये। आशय यह है कि बुझी हुई अग्नि में अग्निहोत्र करना ठीक नहीं, किंतु खूब जलती हुई अग्नि में होम करना चाहिये।

मंत्र--एतेषु यश्चरते भ्राजमानेषु यथाकाल चाहुतयोह्याददायन्। तन्नयन्त्येताः सूर्य्यस्य रश्मयो यत्र देवानां पतिरेकोऽधिवासः ॥५।१४॥

(शब्दार्थ) एतेषु=उपरोक्त दशाओं में। यः=जो अग्निहोत्र आदि वेद के अनुकूल करता है। चरते=अग्निहोत्र करता

है। भ्राजमानेषु=प्रकाश करते हुए हैं। यथा कालम्=ठीक काल के अनुकूल आहुति देना। च=और। आहुतय = आहुति जो अग्निहोत्र म एक बार सामिग्री डालते हैं। हि= निश्चय करके। आददायन्=ठीक प्रकार देनेवाले। तन्न= उसको जिसने निष्काम कर्म किया है अर्थात् भूख की इच्छा त्याग कर दूसरों के उपकारार्थ यज्ञ किया है। नयन्ति=प्राप्त होती या कराती हैं। एता=यह आहुतियाँ। सूर्यस्य=सूर्य की। रश्मयः=किरणों के द्वारा या प्राणवायु के साथ। यत्र=जहाँ। देवानां=देवतों का पति। एकः=एक। अधिवासः = जो सम्पूर्ण जगत् के निवास का स्थान।

(अथ) जो मनुष्य इस प्रकार ठीक-ठीक जलती हुई अग्नि में वेद के अनुकूल निष्काम भाव से आहुतियाँ देता, ठीक-ठीक कर्म करता है। अर्थात् जिस समय और जिस प्रकार से जो आहुति देनी चाहिये, उसी प्रकार देता है। उस निष्काम करने-वाले को सूर्य की किरणों के साथ मिलकर यह आहुतियाँ देवतों के पति सूर्य या परमात्मा के, जो एक होकर सम्पूर्ण जगत् की रक्षा और प्रकाश कर रहा है, पहुंचा देती हैं। तात्पर्य्य यह है कि जब मनुष्य निष्काम यज्ञ करता है, तो उसकी सामग्री की आहुतियाँ सूर्य की किरणों या मेघ आदि में होती हुई संसार को लाभ पहुँचाती हैं। और करनेवाले का अन्तःकरण परोप-कार के कारण शुद्ध होकर ईश्वर के नियमों के अनुकूल उन्नति करता हुआ एक समय म उस जीव को सम्पूर्ण देवों के देव परमात्मा के दर्शन तक पहुंचा देता है। जिसके भीतर सब जगत् पालन कर रहा, जो सब से बड़ा होने से सब के समीप विद्यमान होने पर भी दूर रहता है।

मंत्र—एह्येहीति तमाहुतयः सुवर्चसः सूर्यस्य

रश्मिभिर्यजमानं वहन्ति । प्रियां वाचमभिवद-न्त्योऽर्चयन्त्य एष वः पुण्यःसुकृतो ब्रह्मलोकः ॥ ६ । १५ ॥

(शब्दार्थ) एहि एहि=आए हुए इस प्रकार । इति=यह । तम्=उस यज्ञ करनेवाले । आहुतयः=वह आहुतियाँ । सुव-र्चसः=उत्तम धर्म से जगत् प्रकाश करनेवाली । सूर्यस्य= सूर्य की । रश्माभ=किरणों के द्वारा मृत्यु के पश्चात् । यज-मान=यज्ञ करनेवाले पुरुष को । वहन्ति=मुक्ति दशा को प्राप्त कराती हैं । प्रियाम् वाचम्=मीठी वाणी को । अभि-वदन्त्य=कहती हुई । अर्चयन्त्यः=पूजा करती हुई या सुख पहुँचाती हुई । एष=यह । व.=तुम्हारा । पुण्य=नेक कर्म । सुकृतः=भले प्रकार कहा हुआ । ब्रह्मलोक=परमेश्वर के दर्शन या ज्ञान का कारण है, जिसके फल में दुख लेशमात्र भी नहीं, सदा सुख ही होता है ।

(अर्थ) जो कुछ मनुष्य शुभ कर्म करता है, उसकी दो अवस्था होती हैं । एक अवरिष्ट, द्वितीय संस्कार, अवरिष्ट का संस्कार मन में स्थित हो जाता है । और जब उस कर्म के अवरिष्ट फल के भोग का समय आता है, तब वह संस्कार अपने साथी अवरिष्ट को सूर्य की किरणों में जो फैली हुई विद्युत् है, उसके द्वारा अपने समीप बुला लेता है । जिस प्रकार संसार में देखा जाता है कि जिस प्रकार का बीज बोया जाता है वह अपने जाति के परमाणुओं को बुला लेता है । जिस प्रकार मिरच का बीज उसी भूमि से कड़वे परमाणु खींच लेता है । उसी प्रकार जिस प्रकार के संस्कार के साथ अवरिष्ट का उदय होता है, वैसा ही पहले उदय होता है । जिस

भाँति समझदार धर्मात्मा के भीतर से एक प्रकार की आवाज़ आती है, जो प्रकट करती है कि अब सुख देनेवाले कर्मों का उदय होगा और पापी को पाप का फल उदासी और चिन्ता की अवस्था मे आता हुआ देख पड़ता है।

प्रश्न—क्या आहुतियाँ चेतन्य हैं? जो प्रसन्नता से पुकारती है।

उत्तर—पुकारना दो प्रकार से होता है, एक वाणी से, द्वितीय इशारे से। ऋषि का तात्पर्य वाणी से है, जिसके लिये जड़ चेतन्य की कोई विशेषता नहीं।

मंत्र--प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपा अष्टादशोक्तमवरं येषु कर्म। एतच्छ्रेयो येऽभिनन्दन्ति मूढा जरामृत्युं ते पुनरेवापियन्ति ॥ ७। १६ ॥

(शब्दार्थ) प्लवा=दुख से युक्त। हि=निश्चय करके। एते=यह। यदृढा=जो आरूढ़ नही है। यज्ञरूप=कामना से किये हुए यज्ञादि कर्म। अष्टादशोक्तं=जिसमे अष्टादश यजमान ब्रह्मा और १६ ऋत्विजों का विधान है, या १७ अंग शरीर के और एक आत्मा १८ की दुरुस्ती के वास्ते जो बताये गये। अवरः=जो इस ओर का है। येषुकर्म=जिस कर्म से प्रधान है। एतत्=यह है। श्रेय=मुक्ति का मार्ग है। ये=जो। अभिनन्दंति=सब से अन्तिम मार्ग मान कर जो इस पर अभिमान करते है। मूढा=मूर्ख लोग। जरा=बुढ़ापे। मृत्यु=मृत्यु को। ते=वह कर्मकाण्डी मनुष्य। पुनर=फिर। एव=ही। अपि=भी। यान्ति=प्राप्त होते है।

(अर्थ) जो मनुष्य इस निष्काम कर्मकाण्ड को जिसका फल दृढ़ और अति सुख का देनेवाला नहीं, किन्तु उसका

फल सुख दुख युक्त है। जिस यज्ञ में कर्म १८ करानेवाले बताए हैं, जो १८ अर्थात् दस इन्द्रियाँ, पाँच प्राण, मन, अहंकार और जीव की शुद्धि के लिये किया जाता है। यद्यपि यह कर्म पापों की अपेक्षा तथा न करने की अपेक्षा उत्तम है, परंतु जो मनुष्य इसी को सब से श्रेष्ठ कर्म मानकर और यह विचार करके कि केवल कर्म से ही मुक्ति हो जावेगी, आगे यत्न नहीं करते, किन्तु इसी पर प्रसन्न हैं, वह मूर्ख मनुष्य बार-बार जन्म मृत्यु प्राप्त करते है। आशय यह है कि निष्काम कर्म का फल पापो से तो उत्तम है, परन्तु मुक्ति नही है और निष्काम कर्म का फल निष्काम से उत्तम है, परन्तु साक्षात् मुक्ति का साधन नही है।

प्रश्न—क्या कर्म से मुक्ति नहीं होती ?

उत्तर—अकेला कर्म मुक्ति का साधन नहीं, किन्तु ज्ञान कर्म उपासना से जो विज्ञान प्राप्त होता है वह मुक्ति का साधन है।

प्रश्न—वेद ने आज्ञा दी है कि जब तक जीता रहे, कर्म करता रहे। और कर्म बन्धन का हेतु नहीं।

उत्तर—निस्संदेह शत वर्ष तक कर्म करता हुआ जीवे, परन्तु वह कर्म चार प्रकार का है। ब्रह्मचारी का कर्म पढ़ना है, जैसा कि सम्पूर्ण शास्त्रकार स्वीकार करते है। गृहस्थ का कर्म यज्ञादि करना है। और वानप्रस्थ का कर्म उपासना करना है। और संन्यास आश्रम में विज्ञान प्राप्त करना है।

प्रश्न—बहुत से मनुष्य तो इतना ही कहते हैं कि कर्म करने से ही मुक्ति होती हैं। और कोई कहते हैं, उपासना अर्थात् भक्ति से भी मुक्ति होती है। और कुछ कहते हैं विज्ञान से मुक्ति होती है। इसमे सत्य क्या है ?

उत्तर—न तो ज्ञान के बिना कर्म से मुक्ति हो सकती है, क्योंकि पाप भी एक प्रकार का कर्म है, वह क्यों पाप है।

इसलिये कि ज्ञान उसके विरुद्ध है और न अकेले ज्ञान से मुक्ति हो सकती है। यह सब ही सच्चे हैं, क्योकि एक मकान में बहुत श्रेणी हैं, प्रत्येक श्रेणीवाला सत्य कहता है कि इस सीढ़ी से चढ़ने के बिना मकान पर नही चढ़ सकता। परन्तु अन्तिम श्रेणी विज्ञान की है, उसकी अपेक्षा सब श्रेणियाँ मार्ग से दूर की है और वह मार्ग के समीप की है।

मंत्र—अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः स्वयंधीराः पण्डितम्मन्यमानाः। जंघन्यमानाः परियन्ति मूढा अन्धेनैव नीयमाना यथाऽन्धाः ॥ ८ । १७ ॥

(शब्दार्थ) अविद्याया=अविद्या अर्थात् मिथ्या कर्म से मुक्ति होती है, इस विचार के। अन्तरे=भीतर। वर्तमानाः= रात दिवस फँसे हुए। स्वयं=अपने को। धीराः=ज्ञानी। पण्डित=सत् असत् का विचार करनेवाले। मन्यमाना= मानते हुए। परियन्ति=इधर उधर भागते है। मूढ़ा=मूर्ख मनुष्य। जंघन्यमाना=नीची अवस्था मे गिरते हुए। अन्धेन= अन्धे के पीछे लगकर। एव=है। नीयमाना=अन्धे है। यथा=जसे। अन्धाः=दूसरा अन्धा।

(अर्थ) मूर्ख मनुष्य कर्म में फँसे हुए, और कर्म से मुक्ति होती है, इस विचार में मतवाले होकर अपने को बुद्धिमान् और पंडित समझते हुए नीच योनियों में जा गिरते है। जैसे अंधे के पीछे लगकर दूसरा अंधा भी कूप में जा गिरता है। इसी प्रकार यह मनुष्य भी अविद्या में ग्रसित स्वयं तो गिरते है परन्तु दूसरों को अपने साथ कूप में गिराते हैं। तात्पर्य यह है कि कर्मकाण्ड की श्रेणी तो है जिसको ग्रहण करना और त्यागना अवश्य है। और जो मनुष्य इस सीढ़ी का आश्रय

लेकर आगे चलने से रुक जाते हैं और दूसरों को भी रोकते हैं वह स्वयम् भी गिरते हैं और अपने सहायकों को भी गिराते हैं। जैसे अन्धे के पीछे अन्धा लगकर गिरता है।

मंत्र—अविद्यायां बहुधा वर्त्तमाना वयं कृतार्था इत्यभिमन्यन्ति बालाः। यत्कर्मिणो न प्रवेदयन्ति रागात्तेनातुराः क्षीणलोकाश्च्यवन्ते ॥ ६। १८ ॥

(शब्दार्थ) अविद्यायां=उपरोक्त ज्ञान में। बहुधा=बहुत तरह पर। वर्त्तमाना=रहते हुए ना काम करते हुए। वयं=हम लोग। कृतार्था=मार्ग पर पहुँच गये। इति=यह। अभिमन्यन्ति=अभिमान करते हैं। बाला=अज्ञानी लोग। यत्कर्मिणो=जिस कर्म में फँसे हुए। न=नहीं। प्रवेदयन्ते=परमात्मा को नहीं जानते। रागात्=राग से। तेन=इससे। अतुरा=दुखी होकर। क्षीण लोका=नीच योनियों में। च्यवन्ते=गिर जाते हैं अर्थात् मनुष्य योनि से गिरकर पशु योनि में प्रवेश करते हैं।

(अर्थ) कर्मकाण्ड में फँसे हुए अर्थात् कर्म को ही मुक्ति का साधन मानते हुए हम सफल होगये हैं, ऐसा अभिमान करते हैं वह अज्ञानी हैं। क्योंकि प्रथम बता चुके है कि अकेले कर्म से मुक्ति नहीं हो सकती। जो कर्म करनेवाले निष्काम करके अन्तःकरण की शुद्धि के द्वारा परमात्मा के ज्ञान तक पहुँच जाते हैं, उनको तो कर्म में अभिमान नहीं होता। जो कर्म के अभिमान से परमात्मा के जानने का प्रयत्न नहीं करते, जिससे उनको आत्मज्ञान नहीं होता। और वह कर्म के राग से

दुखी होकर ज्ञान से नीचे की अवस्था अर्थात् जन्म मरण के चक्र में जा गिरते हैं।

प्रश्न—शुभ कर्म करनेवालों को भी जन्म लेना पड़ेगा, क्या उनकी मुक्ति नहीं होगी ?

उत्तर—जन्म मरण का कारण पाप पुण्य के फल हैं। और पाप पुण्य का कारण प्रवृत्ति है, अर्थात् शुभाशुभ कर्म में लगना, अशुभ काम से पाप और शुभ से पुण्य होता है। और प्रवृत्ति का कारण राग द्वेष हैं। जिसमें द्वेष होता है, उसके नाश का यत्न किया जाता है। और जिसमें राग होता है, उसके प्राप्त करने का यत्न किया जाता है। और जिसमें राग द्वेष विद्यमान है, उसका जन्म होना अवश्य है। जिसका राग नाश हो जावे, उसका जन्म मरण नाश हो सकता है।

मंत्र—इष्टापूर्त्तं मन्यमाना वरिष्ठं नान्यच्छ्रेयो वेदयन्ते प्रमूढा। नाकस्य पृष्ठे ते सुकृतेऽनुभूत्वेमं लोकं हीनतरं चाविशंति ॥ १० । १६ ॥

(शब्दार्थ) इष्टापूर्त्त=संसारिक इच्छा से जो काम बावली, कूप, सर, यज्ञ इत्यादि किये जाते हैं। मन्यमानाः=इनमें सब से बड़े होने का विचार रखनेवाला। वरिष्ठं=इस से अधिक कोई मार्ग नहीं। न=नहीं। अन्यत=दूसरे कोई मुक्ति। वेदयन्ते=जानते हैं। प्रमूढ़ा=अत्यन्त मूढ़। नाकस्य=जिस देश अथवा अवस्था में दुख नहीं है उस देश या अवस्था के। पृष्ठे=उस पर पहुँचकर। ते=वह। सुकृते=शुभ कर्मों का फल। अनुभूत्वा=अनुभव करके। इमम्=इस प्रत्यक्ष। लोकं=शरीर पर, या पृथिवी लोक। हीन तर=इससे भी अधिक नीचे अर्थात् निकृष्ट योनि को। विशन्ति=प्राप्त होते हैं।

(अर्थ) मनुष्य रजोगुण और तमोगुण से मोहित होकर केवल संसारिक सुखों के वास्ते ही या संसार में यश, मान और प्रभुत्व प्राप्त करने के अर्थ बहुत से वैदिक कर्म अर्थात् कूप, तालाब, मन्दिर बनवाना अथवा यज्ञ, दान करना इत्यादि कर्मों में फँसकर ऐसा विचार करते हैं कि इनसे उत्तम कोई कर्म नहीं, न अन्य कोई मुक्ति है। जो कुछ है यही कर्म और इसका फल सुख ही है, उनसे अच्छा कर्म और सुख कोई नहीं। वह मनुष्य उस शुभ कर्म का फल किसी ऐसे स्थान पर भोग कर जहाँ दुख न हो अथवा ऐसे जन्म में जाकर जहाँ सुख के कारण सब विद्यमान हों कर्मों का फल समाप्त करके या तो उसी मनुष्य योनि में आ जाता है, अथवा उससे भी किसी नीच योनि में पहुँच जाता है। तात्पर्य यह है कि सकाम कर्म का फल सुख भोगकर फिर कर्मों के अनुकूल किसी जन्म में आना होगा।

मंत्र--तपःश्रद्धे ये ह्युपवसन्त्यरण्ये शान्ता विद्वांसो भैक्षचर्यां चरन्तः। सूर्यद्वारेण ते विरजाः प्रयान्ति यत्रामृतः पुरुषो ह्यव्ययात्मा॥ ११। २०॥

(शब्दार्थ) तपः = स्वाध्याय और सत्य से यथार्थ ज्ञान प्राप्त करने और चान्द्रायन इत्यादि व्रतों में जो कष्ट होता है उसका नाम तप है। श्रद्धे = नित्य कर्म में श्रद्धा करता है। या = जो। हि=निश्चय करके। उपवसन्ति = इन्द्रियाँ और मन को रोककर वास करने। अरण्य = जंगल में। शान्ता= जिसके मन की वृत्तियाँ शान्ति हों। विद्वासे = जो ज्ञान से युक्त हो। भैक्षचर्यां = जो ठीक माँगकर ही अपना निर्वाह

करता हो। चरन्तः = उससे जीवन व्यतीत करते हैं। सूर्य-द्वारेण = सूर्य या वेद के अनुकूल कर्म उपासना ज्ञान के द्वारा सुखमा नाड़ी के प्राण त्यागने से। ते = वह। विरजा = मेल से छूटे हुए। प्रयान्ति = प्राप्त होते है अथवा पहुँचते है। यत्र = जहाँ। अमृत = मुक्ति अथवा परमात्मा है। पुरुष = संसार या शरीर अपने। हि = निश्चय करके। अव्ययः = नाश से रहित। आत्मा = सर्व व्यापक परमात्मा है।

(अर्थ) जो मनुष्य तप अर्थात् सत्य बोलने, प्रत्येक वस्तु के मूल तत्त्व को समझने, इन्द्रियों के विषयों से रोकने, शीतोष्ण भूख प्यास और मानापमान के सहने में जो कष्ट होता है, धर्म में श्रद्धा से उसके लिये पुरुषार्थ करते हुए मग्न रहते है और शान्त चित्त होकर आत्मज्ञान के सम्बन्ध, विद्या को जाननेवाले भीख माँगकर भोजन करनेवाले और सूर्य के द्वारा अर्थात् सुखमा नाड़ी में प्राण त्याग कर फल से पृथक् होने के कारण से उस स्थान पर पहुँचते है जहाँ अमृत है, अर्थात् मुक्ति अवस्था को प्राप्त कर लेते है। और जो पुरुष अर्थात् परमात्मा नाश रहित और सब के भीतर विद्यमान है जो सबका आत्मा होने से सब से सूक्ष्म है, वह उस आत्मा के दर्शन से आनन्द भोगते हैं।

मंत्र--परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान् ब्राह्मणो निर्वेदमायान्नास्त्यकृतः कृतेन। तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम् ॥ १२ । २१ ॥

(शब्दार्थ) परीक्ष्य=इस उत्पन्न होने और नाश होनेवाले शरीर की सम्पूर्ण अवस्थाओं का विचार करके। लोकान्=

संसार या शरीर का। कर्मचितान्=जो पाप और पुण्य कर्म के फल भोगने के लिये मिले हैं। ब्राह्मण=वेद का जाननेवाला अथवा ईश्वर का पूर्ण विश्वासी। निर्वेदम्=संसार के भोग से उदास होकर। आयात्=प्राप्त करने। नास्ति= नहीं है। अकृत=किये हुए से पृथक्। कृतेन=कर्म के फल भोग से। तत्=उसके। विज्ञानार्थं=परमात्मा के ठीक प्रकार ज्ञान प्राप्त करने के लिये। स=वह जिज्ञासु। गुरुदेव= गुरु के पास भी। अभिगच्छेत्=जावे। समित्पाणि=हाथ मे समिधा लेकर वह गुरु कैसा हो जिसके पास जावे। श्रोत्रियं=जिसने वेद के द्वारा ब्रह्मज्ञान को सुना भी हो। ब्रह्मनिष्ठम्=जिसका विचार उसमे स्थिर भी हो।

(अर्थ) ब्राह्मण इस जगत् के सम्पूर्ण भोगों को जो उत्पन्न होने और नाश होने के कारण से दुख ही देनेवाले है। उनसे मन को राग द्वेष से पृथक् और ऐसी अवस्था में यह विचार करके कि यह शरीर और इसके भोग कर्म से प्राप्त और कर्म का फल समाप्त होने पर नाश हो जावेंगे। क्योंकि यह नित्य रहनेवाले नहीं। उस दशा में कर्म-फल के विचार को पृथक् करके उस परमात्मा के जानने के वास्ते ऐसे गुरु के पास जिसने नियम पूर्वक वेद से ब्रह्म को सुना हो और उसको मनन निदिध्यासन करके साक्षात् भी कर लिया हो, हाथ में समिधा लेकर जावे।

प्रश्न—जिस मनुष्य ने ब्रह्मचर्याश्रम में वेद-विद्या पढ़ ली हो, उसको गुरु के पास जाने की क्या आवश्यकता है?

उत्तर—जब वेद पढ़ते हैं तब श्रवण होता है। जब उसको मनन करते है तो बहुत से शंका उत्पन्न होते हैं। जब निदिध्यासन करते है तो बहुत बाधा उत्पन्न होती हैं। इसका उपाय

अतिरिक्त ब्रह्म को साक्षात् करनेवाले गुरु के और से नहीं हो सकता। अतः ब्रह्मचर्याश्रम में जो गुरु होता है वह शब्द ब्रह्म का ज्ञान करता है अर्थात् वेद को पढ़ाता है। और संन्यास आश्रम में जो गुरु होता है, वह ब्रह्म के दर्शन कराता है।

मंत्र--तस्मै स विद्वानुपसन्नाय सम्यक् प्रशांत-चित्ताय शमान्विताय। येनाक्षरं पुरुषं वेद सत्यं प्रोवाच तां तत्त्वतो ब्रह्मविद्याम्॥ १३। २२॥

(शब्दार्थ) तस्मै = उस ब्रह्मज्ञान के जिज्ञासु ब्राह्मण। स = वह। विद्वान् = ज्ञानवाला आचार्य। उपसन्नाय = पास आए हुए को। सम्यक् = ठीक प्रकार। प्रशान्तचित्ताय -जिसका चित्त भोग की इच्छा से नितान्त उज्ज्वल हो गया है। येन= जिस प्रकार से। अक्षरम् = नाश रहित। पुरुषं = सम्पूर्ण ब्रह्मांड में रहनेवाले परमात्मा को। वेद = जाने, अर्थात् ब्रह्म का ज्ञान सब प्रकार से हो जावे। सत्यम् = नित्य रहनेवाले अनादि। प्रोवाचं = उपदेश करके बतावे। तत्त्वतः=तत्त्व के साथ जिस प्रकार की है उसी प्रकार बतावे। ब्रह्मविद्याम्= ब्रह्म के जानने के साधनों और उसके स्वरूप को जिसका नाम ब्रह्मविद्या है।

(अर्थ) जब श्रद्धा से पूर्ण ब्रह्मविद्या का अधिकारी जिसने तप से अन्तःकरण से मल दोष को दूर कर लिया हो। जिसने ब्रह्मचर्य से अपने भीतर इस प्रकार का प्रकाश उत्पन्न कर लिया हो, जिससे ब्रह्मज्ञान के उपदेश समझ सके। जिसने योग के अष्टाङ्ग के अभ्यास से या वैराग्य के द्वारा मन स्थिर कर लिया हो। जिसके मन में किसी प्रकार की इच्छा शेष न रही हो। जिसका केवल आवरण ही शेष रहा हो। इस प्रकार के

ब्रह्मविद्या के समीप आये हुए अधिकारी को वह ज्ञानी आचार्य ब्रह्मविद्या का उपदेश करे।

प्रश्न—इस बंधन की क्या आवश्यकता है, जो उपदेश सुनने आये, उपदेश करे?

उत्तर—यदि वैद्य सब रोगियों को एक ही औषधि देनेलगे और उनके अधिकार का विचार न करे, तो लाभ के स्थान में हानि अधिक होगी। इसलिये जिसको शिक्षा की आवश्यकता है, उसे शिक्षा दे। और जिसे कर्मकाण्ड के उपदेश की आवश्यकता है, उसे कर्मकाण्ड का उपदेश करे, जिससे उसका मन शुद्ध हो जावे। जिसको मन के स्थिर करने के लिये योग के अभ्यास अथवा वैराग्य की आवश्यकता है, उसे उसका उपदेश करे, जो ठीक ब्रह्मज्ञान का अधिकारी हो, उसे ब्रह्मज्ञान का उपदेश करे।

प्रश्न—ब्रह्मज्ञान के अधिकारी सब हैं, देखो जिसको उपदेश मिला है सब ही अपने को ब्रह्म बताते हैं।

उत्तर—यह ब्रह्मज्ञान नहीं, किन्तु तोते की भाँति विना समझे रटना है। जैसे एक आदमी ने तोते को सिखा दिया गंगाराम नलकी पर नही बैठता। तोता वह शब्द सीख गया। एक दिन नलकी पर जा बठा और कहने लगा गंगाराम नलकी पर नही बैठता। इसी प्रकार आजकल के ब्रह्मज्ञानी हैं।

प्रश्न—बताया जाता है कि ब्रह्मज्ञान का अधिकार सब को है। कोई इस जन्म में साधन करते हैं, कोई पूर्व जन्म में कर चुके हैं।

उत्तर—साधन करता हुआ देखने की आवश्यकता नहीं, किन्तु साधनों से युक्त देखने की आवश्यकता है। अतः साधन किये हुए पुरुषों के जो लक्षण हैं, जिसमें वह पाए जावें उसको उपदेश करे। चाहे इस जन्म में साधन किये हों, चाहे पहले जन्म

अतिरिक्त ब्रह्म को साक्षात् करनेवाले गुरु के और से नहीं हो सकता। अतः ब्रह्मचर्याश्रम में जो गुरु होता है वह शब्द ब्रह्म का ज्ञान करता है अर्थात् वेद को पढ़ाता है। और संन्यास आश्रम में जो गुरु होता है, वह ब्रह्म के दर्शन कराता है।

मंत्र--तस्मै स विद्वानुपसन्नाय सम्यक् प्रशांत-चित्ताय शमान्विताय। येनाक्षरं पुरुषं वेद सत्यं प्रोवाच तां तत्त्वतो ब्रह्मविद्याम्॥ १३। २२॥

(शब्दार्थ) तस्मै = उस ब्रह्मज्ञान के जिज्ञासु ब्राह्मण। स = वह। विद्वान् = ज्ञानवाला आचार्य। उपसन्नाय = पास आए हुए को। सम्यक् = ठीक प्रकार। प्रशान्तचित्ताय -जिसका चित्त भोग की इच्छा से नितान्त उज्ज्वल हो गया है। येन = जिस प्रकार से। अक्षरम् = नाश रहित। पुरुषं = सम्पूर्ण ब्रह्मांड में रहनेवाले परमात्मा को। वेद = जाने, अर्थात् ब्रह्म का ज्ञान सब प्रकार से हो जावे। सत्यम् = नित्य रहनेवाले अनादि। प्रोवाचं = उपदेश करके बतावे। तत्त्वतः = तत्त्व के साथ जिस प्रकार की है उसी प्रकार बतावे। ब्रह्मविद्याम् = ब्रह्म के जानने के साधनों और उसके स्वरूप को जिसका नाम ब्रह्मविद्या है।

(अर्थ) जब श्रद्धा से पूर्ण ब्रह्मविद्या का अधिकारी जिसने तप से अन्तःकरण से मल दोष को दूर कर लिया हो। जिसने ब्रह्मचर्य से अपने भीतर इस प्रकार का प्रकाश उत्पन्न कर लिया हो, जिससे ब्रह्मज्ञान के उपदेश समझ सके। जिसने योग के अष्टाङ्ग के अभ्यास से या वैराग्य के द्वारा मन स्थिर कर लिया हो। जिसके मन में किसी प्रकार की इच्छा शेष न रही हो। जिसका केवल आवरण ही शेष रहा हो। इस प्रकार के

ब्रह्मविद्या के समीप आये हुए अधिकारी को वह ज्ञानी आचार्य ब्रह्मविद्या का उपदेश करे।

प्रश्न—इस बंधन की क्या आवश्यकता है, जो उपदेश सुनने आये, उपदेश करे?

उत्तर—यदि वैद्य सब रोगियों को एक ही औषधि देनेलगे और उनके अधिकार का विचार न करे, तो लाभ के स्थान में हानि अधिक होगी। इसलिये जिसको शिक्षा की आवश्यकता है, उसे शिक्षा दे। और जिसे कर्मकाण्ड के उपदेश की आवश्यकना है, उसे कर्मकाण्ड का उपदेश करे, जिससे उसका मन शुद्ध हो जावे। जिसको मन के स्थिर करने के लिये योग के अभ्यास अथवा वैराग्य की आवश्यकता है, उसे उसका उपदेश करे, जो ठीक ब्रह्मज्ञान का अधिकारी हो, उसे ब्रह्मज्ञान का उपदेश करे।

प्रश्न—ब्रह्मज्ञान के अधिकारी सब हैं, देखो जिसको उपदेश मिला है सब ही अपने को ब्रह्म बताते है।

उत्तर—यह ब्रह्मज्ञान नही, किन्तु तोते की भाँति विना समझे रटना है। जैसे एक आदमी ने तोने को सिखा दिया गंगाराम नलकी पर नहीं बैठता। तोता वह शब्द सीख गया। एक दिन नलकी पर जा बठा और कहने लगा गंगाराम नलकी पर नही बैठता। इसी प्रकार आजकल के ब्रह्मज्ञानी हैं।

प्रश्न—बताया जाता है कि ब्रह्मज्ञान का अधिकार सब को है। कोई इस जन्म मे साधन करते हैं, कोई पूर्व जन्म में कर चुके हैं।

उत्तर—साधन करता हुआ देखने की आवश्यकता नहीं, किन्तु साधनो से युक्त देखने की आवश्यकता है। अतः साधन किये हुए पुरुषों के जो लक्षण हैं, जिसमें वह पाए जावें उसको उपदेश करे। चाहे इस जन्म में साधन किये हों, चाहे पहले जन्म

में, लक्षण दोनों में विद्यमान होंगे। जिस अधिकारी मे लक्षण पाए जावें उसको उपदेश करना चाहिये, प्रत्येक को नही।

प्रथम मुण्डक का दूसरा खण्ड समाप्त हुआ।

अथ द्वितीय मुण्डक-प्रथम खण्ड

मंत्र--तदेतत्सत्यं यथा सुदीप्तात्पावका-द्विस्फुलिङ्गाः। सहस्रशः प्रभवन्ते सरूपाः। तथाक्षरात् पुरुषः सौम्य ! भावाः प्रजायन्ते तत्र चैवापि यन्ति ॥ १। २३ ॥

(शब्दार्थ) तत्=उस कारण के विचार। एतत्=यह बात। सत्यम्=ठीक है। यथा=जैसे भले प्रकार जलती हुई। पावकात्=अग्नि से। विस्फुलिंग=चिनगारियाँ। सहस्रशः=अनन्त सहस्रो लक्षों। प्रभवन्ते=उत्पन्न होते है। सरूपा=उपादान कारण के अनुकूल। तथा=ऐसे ही। अक्षरात=नाश रहित कारण प्रकृति से। पुरुषः=यह सम्पूर्ण शरीर हाथ पॉव वाले। सौम्य=शान्ति स्वरूप जिज्ञासु। भावा=यह सब चैतन्य जीव जो दृष्टि पड़ते है। प्रजायन्ते=उत्पन्न होती है। तत्र=उसमें। च एव=और भी। अपियन्ति=प्रवेश हो जाती हैं।

(अर्थ) इस दृष्टांत से मालूम होता है यह अक्षर शब्द नाश रहित प्रकृति के लिये प्रयोग हुआ है। इसमें तो किसी को संदेह नही कि जिस प्रकार भले प्रकार प्रज्वलित अग्नि से चारों तरफ चिनगारियाँ फैलती हैं अथवा उत्पन्न होती हैं ऐसे ही इस कारण प्रकृति से प्रत्येक शरीर और अन्य वस्तु

की सत्ता प्रकाशित होती है और नाश होकर उसी में प्रवेश हो जाती है।

प्रश्न—अक्षर से यहाँ पर प्रकृति क्यों मानी, परमात्मा क्यों न माना?

उत्तर—दृष्टांत उपादान कारण का है जिससे स्पष्ट है कि उपादान कारण प्रकृति लेना चाहिये। दूसरे सरूपा शब्द आया है जो प्रकृति से ही सम्बन्ध बताता है, जैसा कि श्रुति सूत्र उपनिषद् मे दिखाया है।

प्रश्न—यदि ब्रह्म ही जगत् का उपादान कारण स्वीकार कर ले तो क्या हानि होगी?

उत्तर—ब्रह्म चेतन्य है, उसको उपादान कारण मानकर कोई जड़ वस्तु संसार मे दृष्टि न आवेगी। ब्रह्म सुख स्वरूप है उसके उपादान कारण होने पर संसार में कोई दुखी नहीं रहेगा। निदान सम्पूर्ण शास्त्र, वेद और उपनिषद् व्यर्थ हो जावेंगे। क्योंकि जब एक ही चेतन्य से सब बनी हैं, तो ज्ञान का कोई कारण ही न होगा।

मंत्र—दिव्यो ह्यमूर्त्तः पुरुषः स बाह्याभ्यन्त-रोह्यजः। अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रो ह्यक्षरात् परतः परः। २। २४॥

(शब्दार्थ) दिव्य=वह परमात्मा जो इस जगत् का बनानेवाला है प्रकाश स्वरूप है। हि=निश्चय करके। अमूर्तः=मूर्ति से रहित। पुरुषः=वह सब में व्यापक परमात्मा है। स=वह। बाह्याभ्यन्तर=वह बाहर और भीतर दोनों ओर विद्यमान है। हि=निश्चय करके। अजः=अजन्मा। अप्राण=प्राण रहित। हि=निश्चय करके। अमनः=मन से

रहित। शुभ्रो = शुद्ध है। हि=निश्चय करके। अक्षरात् = नाश रहित प्रकृति । परतः = जो परे है। परः = उससे भी परे परमात्मा है।

(अर्थ) परमात्मा जो प्रकृति से जगत् बनाता है, प्रकाश स्वरूप है और निश्चय करके अमूर्त्ति है। उसकी कोई मूर्त्ति अथवा आकृति नही और बाहर भीतर सब जगह विद्यमान है। सब से बड़ा होके सब से बाहर और सूक्ष्म होने के कारण सब मे व्यापक और अजन्मा है और सर्व व्यापक है। और निश्चय करके कारण प्रकृति जो नाश रहित है तथा सूक्ष्म जीवात्मा से भी सूक्ष्म वह परमात्मा है। इस मन्त्र ने स्पष्ट कर दिया कि न तो परमात्मा की कोई मूर्त्ति हो सकती है, क्योंकि मूर्त्ति उसे कहते हैं जिसके अवयव जड़ हो और परस्पर मिले हुए हो। अतः जिसकी मूर्त्ति है वह संयोगी तथा जड़ है। परमात्मा नित्य और चेतन्य है वह न तो स्थूल (सयोगी) हो सकते हैं और न जड़, क्योंकि संयुक्त वस्तु उत्पन्न होनेवाली होती है। निदान परमात्मा को मूर्त्तिमान नहीं कह सकते। निस्संदेह प्रत्येक मूर्त्ति का स्वामी होने से उसे मूर्त्तिवाला कह सकते हे। परंतु उसका अपना शरीर या मूर्त्ति कोई नही।

मंत्र—एतस्मात् जायते प्राणोमनः सर्वेन्द्रियाणि च । खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवी विश्वस्य धारिणी ॥ ३ । २५ ॥

(शब्दार्थ) एतस्मात्=इस परमात्मा से जिसका वर्णन उपरोक्त हुआ। जायते=उत्पन्न हुई है। प्राणः=प्राण । मनः= मन अर्थात् अन्तःकरण। सर्वेन्द्रियाणि=सर्व इंद्रियां। च= और। खम्=आकाश। वायु=वायु। ज्योति=अग्नि। आपः=

जल। पृथिवी=भूमि। विश्वस्य=सब जगत् के चराचर। धारिणी=धारण करनेवाली।

(अर्थ) परमात्मा के इन्द्रियाँ क्यों नहीं, इसके लिये बताते है कि उस परमात्मा की शक्ति से यह सब प्राण और इन्द्रियाँ उत्पन्न हुई है। और उसी से आकाश, वायु, अग्नि, जल उत्पन्न हुए हैं। उसी से सम्पूर्ण जगत् को धारण करनेवाली पृथिवी उत्पन्न हुई। जब कि परमात्मा से यह सब उत्पन्न हुए है तो परमात्मा नित्य है, नित्य में उत्पन्न होनेवाले गुण कैसे उत्पन्न हो सकते है। क्योंकि परमात्मा की भी इन्द्रियाँ स्वीकार की जावें, तो वह इन्द्रियाँ उत्पन्न वाली होने से किसी दूसरे पैदा करनेवाले के आधीन होंगी। यदि उसके उत्पन्न करनेवाला कोई इन्द्रिय वाला होगा, तो उसकी इन्द्रियाँ भी उत्पन्न होनेवाली होंगी, उसके उत्पन्न करनेवाला और कोई होना चाहिये, इस कारण क्रम दोष लग जायगा।

प्रश्न—यदि नित्य मे अनित्य के गुण नहीं आ सकते, तो जीव का इन्द्रियों की क्या आवश्यकता हुई? क्योंकि जीव भी नित्य ही है।

उत्तर—जीव एक देशी है, उसको अपनी सीमा से बाहर की वस्तुओं के देखने के लिये इन्द्रियों की आवश्यकता है। और ज्ञान जो बाहर की वस्तुओं का होता है उसके संस्कार मन पर होते है। और जीवात्मा अल्पज्ञता के कारण अपने मे विचारता है।

मंत्र—अग्निर्मूर्द्धा चक्षुषो चन्द्रसूर्यौ दिशः श्रोत्रे वाग्विवृताश्च वेदाः। वायुः प्राणो हृदयं विश्वमस्य पद्भ्यां पृथिवी ह्येष सर्वभूतान्तरात्मा ॥ ४ । २६ ॥

(शब्दार्थ) अग्निः = अग्नि। मूर्द्धा = उसके सिर के समान है, जिस प्रकार सिर सब से उत्तम है, इसी प्रकार सतोगुणी सिर का काम देती है अथवा जिस प्रकार हम मुख से दाँतो से चबाकर सूक्ष्म करते है, परमात्मा अग्नि से पुरुष को परमाणु रूप मे ले जाते है। चक्षुषो=इस विराट, के नेत्र के स्थान में। चन्द्रसूर्यौ=चन्द्र और सूर्य है। दिशा=दिशा जो आकाश में है। श्रोत्रे=वह श्रवण का काम देती है। वाग= उसकी वाणी के स्थान मे जिससे उपदेश करता है। विवृतः फैला हुआ। वेदाः=ऋग्,यजुः, साम और अथर्व वेद है जिस प्रकार वाणी से उपदेश करते है, परमात्मा वेदों के द्वारा उपदेश करते है परमात्मा की वाणी के काम वेद से निकलते है। वायु=हवा। प्राणा=परमात्मा के प्राणों का काम देती है। हृदयम्=परमात्मा के रोहे के स्थान में। विश्वम्=जगत्। अस्य=उसकी है। पद्भ्यॉ=पॉव के स्थान मे। पृथिवी=भूमि है। हि=निश्चय करके। एष=वह परमात्मा। सर्वभूतान्तरात्मा=सम्पूर्ण भूतो के भीतर व्यापक होनेवाला आत्मा है।

(अर्थ) अब उस परमात्मा का विराट रूप मे उपदेश करते हैं कि अग्नि उसके मुख का काम देती है। और नेत्रों का काम सूर्य और चन्द्रमा देते हैं। और कानो का काम आकाश में रहनेवाली दिशाएँ देती हैं। और उसकी वाणी का काम वेद देते हैं, जैसे वाणी से जो कुछ उपदेश किया जाता है, वे उपदेश का काम परमात्मा वेदों से लेते है। और वायु प्राणा का काम देती है। और हृदय का काम सम्पूर्ण जगत् देता है। और पाँव का काम पृथिवी देतो है, वह इन सब के भीतर रहनेवाला परमात्मा है। जिस प्रकार शरीर के भीतर नियम

पूर्वक हरकत होने से जीवात्मा के होने का प्रमाण मिलता है, इसी प्रकार संसार का नियम पूर्वक क्रियावान होना परमात्मा की सत्ता का प्रमाण है। ऐसी कोई वस्तु नहीं, जो स्वयं कोई भी विकार कर सके, सब विकार परमात्मा के नियम से होते है। वह प्रत्येक वस्तु के भीतर रहकर उसको नियम से चला रहा है।

मंत्र—तस्मादग्निः समिधो यस्य सूर्यः सोमात् पर्जन्य औषधयः पृथिव्याम्। पुमान् रेतः सिञ्चति योषितायां वह्वीः प्रजाः पुरुषात् सम्प्रसूताः ॥ ५ । २७ ॥

(शब्दार्थ) तस्मात्=परमात्मा से। अग्नि=स्थूल दशा मे। समिधा=चलने की क्रियावाली। यस्य=जिसका। सूर्य= सूर्य है। सामात्=चन्द्रमा की अग्नि से। पर्जन्यः=वर्षा बरसने वाला मेघ होता है और। औषधयः=वर्षा से जो अन्न और सम्पूर्ण औषधियाँ उत्पन्न होती है। पृथिव्याम् = जब वह मेघ बरस कर पृथिवी पर गिरता है। पुमान् = मनुष्य। रेतः=वीर्य को। सिञ्चति=सींचता है। योषितायाँ=स्त्री के भीतर। बह्वा प्रजा=बहु प्रकार की प्रजा। पुरुषात्=पुरुष परमात्मा से। सम्प्रसूता=उत्पन्न हुई है।

(अर्थ) उससे अग्नि स्थूल दशा में जिसको उभारनेवाला सूर्य है उत्पन्न हुआ। क्योंकि अग्नि जो शरीर, इन्द्रिय और विषय रूप से तीन प्रकार की हुई, वह परमात्मा के कारण से हुई। और चन्द्र में रहनेवाली अग्नि से, वायु लगने से एकत्र होकर बरसने वाले मेघ उत्पन्न हुए। और जब मेघ पृथिवी

पर गिरे, तो उसके गिरने से जो वर्षा हुई, उससे ओषधियाँ अर्थात् अन्न उत्पन्न हुआ। और अन्न के खाने से मनुष्य में वीर्य्य उत्पन्न हुआ जब वह वीर्य्य पुरुष से स्त्री में पहुँचा, तो ऋतुदान के द्वारा बहु प्रकार की प्रजा हो गई। प्रयोजन यह कि जो संसार मे क्रिया नियम से हो रही है और जो कुछ प्रबंध चल रहा है, वह सब का सब परमात्मा की दी हुई हरकत से चल रहा है।

प्रश्न—क्या परमात्मा क्रियावान है? जो दूसरे को क्रिया (हरकत) दे रहा है।

उत्तर—सर्व व्यापक परमात्मा किस प्रकार क्रिया कर सकता है। क्योंकि एक स्थान छोड़कर दूसरे स्थान पर जाने का नाम क्रिया है। परमात्मा कहाँ नहीं जो उस स्थान से दूसरे स्थान पर जावे। वह स्वयम् क्रिया नहीं करता, परन्तु दूसरो को क्रिया दे सकता है।

प्रश्न—यह किस प्रकार सम्भव है कि अचल वस्तु दूसरी वस्तु को चला सके?

उत्तर—जिस प्रकार चुम्बक पत्थर स्वयम् अचल होता हुआ लोहे को हरकत दे सकता है, इसी प्रकार परमात्मा भी स्वयम् अचल होता हुआ दूसरी वस्तुओं को चला सकता है।

मंत्र--तस्मादृचः साम यजूंषि दीक्षा यज्ञाश्च सर्वे क्रतवो दक्षिणाश्च। संवत्सरं च यजमानश्च लोकाः सोमो यत्र पवते यत्र सूर्य ॥६।२८॥

(शब्दार्थ) तस्मात्=उस परमात्मा से। ऋच=ऋग्वेद के मंत्र उत्पन्न हुए। साम=उसी स सामवेद उत्पन्न हुआ।

यजूंषि = यजुर्वेद । दीक्षा = ब्रह्मचर्याश्रम के धारण करने पर जो उपदेश दिया जाता है और जो चिह्न नियत किये जाते हैं । यज्ञाः=अग्निहोत्र से लेकर अश्वमेध जितने यज्ञ हैं । च=और । क्रतवः=दूसरी प्रकार के यज्ञादि कर्म । दक्षिणा= जो यज्ञ करनेवालों को दक्षिणा मिलती है अथवा जो कर्म का फल है वह भी दक्षिणा ही है । च = और । यजमानः=यज्ञ कर्म के करनेवाले । सम्वतसरम् = रात, दिन, मास, वर्ष आदि समय के भाग । च = और । पवने=प्रकाश करे । यत्र= जहाँ । सूर्यः=सूर्य प्रकाश करे । सोम=चन्द्र प्रकाश करे ।

(अर्थ) अब बताते हैं कि कर्म करता हुआ किस प्रकार कर्म के अभिमान से बचा रहे कि ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद सब परमात्मा ने ही बनाये हैं। और यज्ञ की सामिग्री और यज्ञ के नियम और यज्ञ में दक्षिणा देनेवाली वस्तुएँ यह सब उस परमात्मा ने बनाई हैं। रात्रि दिवस और यज्ञ करने में जिन स्थानों को चन्द्रमा प्रकाश करता है, जिनको सूर्य प्रकाश करता है वह सब ही परमात्मा की बनाई हुई हैं, उनमें कौन सी वस्तुयें हैं, जिनको मैं अपनी समझकर अभिमान करूँ। निदान ऐसा विचार करके जब यज्ञ करता है, तो केवल अपने कर्त्तव्य को जो परमात्मा ने नियत कर दिया है, पूर्ण करता है, वह अभिमान से बचा रहता है ।

मंत्र—तस्माच्च देवा बहुधा सम्प्रसूताः साध्या मनुष्याः पशवो वयांसि। प्राणापानौ ब्रीहियवौ तपश्च श्रद्धा सत्यं ब्रह्मचर्यं विधिश्च ॥७।२६॥

(शब्दार्थ) तस्मात्=उसी जगत्कर्त्ता परमात्मा के बनाने से । देवा=ऋषि लोक, जो बिना माता पिता आदि

के संसार में उत्पन्न होता है। बहुधा=बहु प्रकार के। सम्प्रसूता=उत्पन्न हुए है। साध्या=इसी जन्म में उन्नति प्राप्त करने योग्य दूसरी प्रकार के देवता। मनुष्या=सामान्य बुद्धि-वाले। पशव=पशु। वयांसि=पत्ती। प्राणापानौ=प्राणापानादि वायु। ब्रीहियवौ=अग्निहोत्र करने योग्य चावल यव। तपः= शरीर के दर्शन के लिये परिश्रम। श्रद्धा=श्रद्धा जो शुभ काम और विद्वानो के भीतर एक प्रकार की आदर की दृष्टि होती है। सत्यं=आत्मज्ञान के अनुकूल कहना। ब्रह्मचर्य=वेद के नियमानुकूल इन्द्रियों का रोकना। विधिश्च=कि इस प्रकार करो, ऐसा मत करो।

(अर्थ) उसी परमात्मा से आदि संसार में बहु प्रकार के देव ऋषि जो बिना माता पिता के उत्पन्न हुए, उसी परमात्मा से वह ऋषि जो इसी जन्म के कर्मों से मुक्ति प्राप्त करने के योग्य हैं उत्पन्न हुए, उसी परमात्मा से सर्व मनुष्य साधारण बुद्धि रखनेवाले उत्पन्न हुए और परमात्मा ने चराचर पशु, पक्षी इत्यादि जीव उत्पन्न किये, उसी परमात्मा से प्राण अपान इत्यादि अनेक प्रकार के अन्न उत्पन्न हुए, उसी परमात्मा से तप करने की शक्ति मनुष्यो को प्राप्त हुई, उसके उपदेश से श्रद्धा उत्पन्न हुई, उसने ही संसार में सत्यव्रत का अभ्यास दिया, उसी ने ब्रह्मचर्याश्रम के नियमो का वेद द्वारा उपदेश किया और उसी ने प्रत्येक संकलन विकलन की आज्ञा जीवों को देकर इस योग्य बनाया कि वह अपने जीवन को ठीक प्रकार चला सकें। जब सब कुछ परमात्मा ने दिया है, तो वह कौन सी वस्तु है जिस पर हम अभिमान करें। वह मनुष्य मूर्ख हैं, जो संसार में दूसरो को नीच समझते हैं। वह मनुष्य मूर्ख हैं, जो कर्म पर अभिमान करते हैं। सब से अधिक वह मनुष्य

मूर्ख हैं, जो अपने को दूसरों से उत्तम विचार करते हैं। जिसमें जो कुछ गुण हैं वह परमात्मा से हैं और जो कुछ दोष हैं, वह प्रकृति के संग से। जीव तो व्यर्थ अभिमान करनेवाला है।

मंत्र--सप्तप्राणाः प्रभवन्ति तस्मात्सप्तार्चिषःसमिधः सप्त होमाः। सप्त इमे लोका येषु चरन्ति प्राणा गुहाशया निहिताः सप्त सप्त ॥ ८ । ३० ॥

(शब्दार्थ) सप्तप्राण=सात प्राण सिर में वास करनेवाले, दो नेत्र में वास करनेवाले, कान में वास करनेवाले दो, नाक में दो, मुख में एक । प्रभवन्ति=उत्पन्न होते हैं। तस्मात्=उस परमात्मा से । सप्तार्चिष=सात प्रकार की किरणे जो सात प्रकार के पृथक्-पृथक् देशों का प्रकाश करती है। समिधः=इस अग्नि को उभारनेवाली समिधा। सप्तहोमा=सात प्रकार के विषयों के ग्रहणवाली शक्ति। सप्त=सात। इमे=प्रत्यक्ष। लोका=देखने का कारण अथवा जो दृष्टि पड़ते हैं शरीर मन मे। चरन्ति=क्रिया करते हैं। प्राणः=प्राण। गु ाशया=जो सोते समय अन्तःकरण के भीतर स्थित होते हैं। निहिता=स्थित रहते हुए। सप्त सप्त=सात सात।

(अर्थ) ज्ञानेन्द्रियाँ और उसमें काम करने की शक्ति देनेवाले सात प्राण और उनकी सहायक शक्तियाँ और कुल प्रबंध जो इस शरीर के भीतर स्थित है, जिससे ज्ञानेन्द्रियाँ और उनकी प्रकाश शक्तियाँ और उनके सहायक सब परमात्मा ने ही बनाए हैं।

प्रश्न—सात प्राणों से क्या प्रयोजन है ?

उत्तर—सिर के भीतर जो ज्ञानेन्द्रियों के सात छिद्र है, उनको सहायता देनेवाली जो प्राण-शक्ति है, वह सात छिद्रों से सम्बन्ध रखते हुए सात प्राण कहलाते है।

मंत्र--अतः समुद्रा गिरयश्च सर्वेऽस्मात्स्यन्दन्ते सिन्धवःसर्वरूपाः। अतश्च सर्वा ओषधयो रसश्च येनैष भूतैस्तिष्ठते ह्यन्तरात्मा ॥ ६। ३१ ॥

(शब्दार्थ) अतः = उस परमात्मा से। समुद्रा = सम्पूर्ण समुद्र। गिरयः = समस्त पहाड़। सर्वे = सब। अस्मात्=उस परमात्मा से स्यन्दन्ते = बह रहे है। सिन्धव = समस्त नद्यादि। सर्वरूपा = उत्तर से दक्षिण को जानेवाली, पूर्व से पच्छिम को जानेवाली, पच्छिम से पूर्व को जानवाली, दक्षिण से उत्तर को जानेवाली। अतः = उस परमात्मा से। च = और। सर्वा = सब। औषधय = औषधि अन्न इत्यादि। रसश्च=सम्पूर्ण रस। येन=जिससे। एव=वह परमात्मा। भूतै=पंच भूतो से बने हुए अस्थि, मांस, चर्बी इत्यादि से। तिष्ठते=शरीर में स्थित होता है। हि=निश्चय करके अन्तरात्मा=जो शरीर के भीतर रहनेवाला जीवात्मा है।

(अर्थ) उस परमात्मा ने ही सम्पूर्ण समुद्र जो संसार को घेरे हुए हैं, इसी लोक के नहीं, किन्तु जितने सितारे ब्रह्माण्ड म हैं, उनमें जितने समुद्र हैं, पहाड़ है और जितने बहनेवाले (नद) नदी हैं, चाहे वह उत्तर से दक्षिण को जानेवाली हो अथवा दक्षिण से उत्तर को, चाहे पच्छिम से पूर्व को और पूर्व से पच्छिम को सब उसी परमात्मा से उत्पन्न हुई हैं। और उसी

परमात्मा से प्रत्येक प्रकार का अन्न और औषधियाँ उत्पन्न हुई। और उसी से भातर जितने रस उत्पन्न होते हैं जिससे अस्थि, मांस, चर्बी इत्यादि शरीर के भाग बने है यह सब उसी परमात्मा से बने हैं, जिस शरीर के भीतर आत्मा रहता है, वह सब परमात्मा ने ही बनाया है, जिस देश में रहता है, वह देश भी परमात्मा ने ही बनाया है। जिस महाद्वीप में हैं, वह परमात्मा ने ही बनाया है, जिस भूमि पर वास करते हैं, वह परमात्मा ने ही बनाई है। जिस ब्रह्माण्ड के बहुत छोटे भाग हैं, हमारी भूमि है, वह सब परमात्मा ने ही बनाई है। पहाड़ और समुद्र उसी ने बनाए हैं। भला उससे पृथक् होकर जीव कहाँ शांति पा सकता है।

मंत्र--पुरुष एवेदं विश्वं कर्म तपो ब्रह्म परामृतम्। एतद्यो वेद निहितं गुहायां सोऽविद्याग्रंथिं विकिरतीह सौम्य॥ १०। ३२॥

(शब्दार्थ) पुरुषः = परमात्मा से । एव = ही । इदं = यह । विश्वं = जगत् । कर्म = जो कुछ क्रिया की जाती। तप = ज्ञान । ब्रह्म = वेद । परामृतम् = महान अमृत अर्थात् नाश रहित । एतद् = इस बात को । यो = जो मनुष्य । वेद = जानता है । निहितं = स्थित होकर । गुहायां = भातर आधे आकाश में । सः=वह मनुष्य । अविद्या ग्रथिम्=उलटे ज्ञान की ग्रंथि को जिससे जीव बँधा हुआ है । बिकिरति=काट डालता है । इहि=इस संसार में । सौम्य=हे प्रिय पुत्र ।

(अर्थ) यह सब जगत् परमात्मा के रहने का स्थान है, इसके भीतर बाहर परमात्मा ही है। जो कुछ कर्म और ज्ञान है, वह सब उस परमात्मा का ही है, जो आदमो के आकाश में

उनको स्थित करके इस बात को जान जाता है, वह अविद्या की गाँठ को जिससे यह जीव बँधा है, काटकर मुक्त हो जाता है। जब तक परमात्मा के स्वरूप में इस सारे जगत् को और जगत् में परमात्मा के स्वरूप को नहीं देखता। जैसे घड़े के भीतर आकाश और आकाश के भीतर घड़ा है। ऐसे ही सब स्थान में परमात्मा व्यापक है।

इति द्वितीय मुण्डक का प्रथम खण्ड समाप्त।

अथ द्वितीय मुण्डक-द्वितीय खण्ड

मन्त्र—आविः सन्निहितं गुहाचरन्नाम महत्पद-मत्रैतत्समर्पितम्। एजत्प्राणन्निमिषच्च यदे-तज्जानथ सदसद्वरेण्यं परं विज्ञानाद्यद्वरिष्ठं प्रजानाम्॥ १। ३३॥

(शब्दार्थ) आविः=जो योगी और ज्ञानी मनुष्यों के शुद्ध और स्थिर मन में प्रकाश होता है। सन्निहितं=जो सर्वदा उनको निकट ही मालूम होता है। गुहाचरत=जो ज्ञानियों की बुद्धि में स्थित होता है। नाम=प्रसिद्ध है। महत्=सब से बड़ा। पदम्=जो प्राप्त होने योग्य। अत्र=उस अपने अन्तःकरण में मिलनेवाले ब्रह्म में। एतत्=यह मन। समर्पितम्=ठीक प्रकार लगाया हुआ। राजत्=काँपनेवाले। प्राणात्=प्राणों के द्वारा मनुष्य और पशु इत्यादि। निमिषत=प्राण की चाल से शून्य मृत्यु अवस्था को पहुँचा हुआ। च=और दूसरे अन्य जीव पत्थर वृक्ष इत्यादि। असत्=जो संसारी मनुष्यों को सुख मालूम हो। वरेण्यं=ग्रहण करने या जानने योग्य। परम्=सब से

सूक्ष्म। विज्ञानाद=प्राकृत पदार्थों के ज्ञान से। यत्=जो। वरिष्ठम्=बहुत ही उच्च है। प्रजानाम्=मनुष्यों के लिये।

(अर्थ) जिस ब्रह्म की शक्ति से यह जगत् उत्पन्न होता और स्थित रहता व नाश होता है, यद्यपि वह सब से बड़ा है, तो भी उसका प्रकाश साफ और स्थिर मन में योगियों को मालूम होता है। जिस प्रकार सूर्य का प्रतिबिम्ब सब देश में पड़ता है, परन्तु जहाँ निर्मल जल या साफ शीशा हो वहीं दृष्टि आता है। इसी प्रकार परमात्मा सर्वत्र विद्यमान है, परन्तु उसका प्रकाश योगियो और ज्ञानियों के हृदय में होता है, अज्ञानी पुरुष सहस्रो जन्म यत्न करने पर उसको नहीं जान सकते। जैसे नेत्र में अजन होता है, तो जिसके हाथ में साफ और सुथरा शीशा हो और प्रकाश में खड़ा हो, तो वह प्रत्येक स्थान पर नेत्र में अंजन को देख सकता है, परन्तु जिसके हाथ मे शीशा नही और जो अँधेरे में खड़े हैं, या शीशा मैला बहुत हिल रहा है, वह सम्पूर्ण संसार में घूमकर भी सुरमा को नहीं देख सकता। प्रयोजन यह है कि ब्रह्म यदि दृष्टि पड़ता है, तो योगियों की बुद्धि में दृष्टि आता है और किसी जगह जीवन भर खोज करने से नहीं मिल सकता। दूसरा कोई सुख चाहे वह सांसारिक पदार्थों के प्राप्त होने से हो, चाहे प्राकृति पदार्थों के चमत्कार से प्राप्त हो, किसी दशा में उस सुख के सामने नही आ सकता, जो सुख परमात्मा के दर्शन से प्राप्त होता है। वह चक्रवर्ती राज्य और संसारिक प्रत्येक सुख से करोड़ो अरबो गुणा उत्तम है। उसके सामने सब सुख तुच्छ हैं। जो इस बात को जानता है, उसको कोई कष्ट हो ही नही सकता।

मंत्र—यदर्चिमद्यदणुभ्योऽणु यस्मिनलोका निहिताः लोकिनश्च । तदेतदक्षरं ब्रह्म स प्राणस्तदु वाङ् मनः तदेतत्सत्यं तदऽमृतं तद्वेद्धव्यं सौम्य विद्धि ॥ २ । ३४ ॥

(शब्दार्थ) यदार्चिमत.=जो प्रकाशक का भी प्रकाश है। यत्=जो। अणुभ्योऽणु=सूक्ष्म से सूक्ष्म है। यस्मिन्=जिसके भीतर। लोका=दृष्टि आनेवाले पृथिवी, चन्द्र, सूर्य, इत्यादि। निहिता=स्थित है। लोकिनः=जो मनुष्यों में रहनेवाले मनुष्य और पशु इत्यादि है। च=और। तत्=वह। एतत्=यह। अक्षरं=नाश रहित। ब्रह्म=परमात्मा है। स=वही ब्रह्म। प्राणः=सब जगत् के प्राण है जो। तत्=वह है। वाक्=वाणी। मनः=मन है। तत्=वह। एतत्=यह एक रहनेवाला है। तत्=वह। अमृतम्=अमृत। तत्=वह। वोद्धव्यम्=मन से जानने योग्य। सौम्य=प्यारे पुत्र। विद्धि=समझ ले।

(अर्थ) जो प्रकाश करनेवालों को भी प्रकाश करता है, जो परमात्मा सूक्ष्म में भी सूक्ष्म, छोटे से छोटा है। जिसमें सम्पूर्ण पृथ्वी, चन्द्रमा, सूर्य्य इत्यादि लोक और उन लोकों मे वास करनेवाले मनुष्य पशु स्थित हैं, वही नाश रहित ब्रह्म सब से बड़ा और सब में व्यापक परमात्मा है। वह सम्पूर्ण जगत् के प्राणों का प्राण और वाणी की वाणी और मन का मन है। और वही तीन काल एक सा रहनेवाला और मौत के भय से निर्भय नित्य मुक्त है अर्थात् अमृत है। और वही निशाना है जिस पर काम करने की ज़रूरत है। इस बात को प्रिय पुत्र इस प्रकार जान ले।

मंत्र--धनुर्गृहीत्वौपनिषदं महास्त्रं शरं-
ह्युपासा निशितं सन्धीयत । आयम्य
तद्भावगतेन चेतसा लक्ष्यं तदेवाक्षरं सौम्य
विद्धि ॥ ३ । ३५ ॥

(शब्दार्थ) धनु=कमान जिससे वाण चलाया जाता है। गृहीत्वा=पकड़ कर । औपानिषद्=जो उपनिषदों में । अर्थात ब्रह्मविद्या की पुस्तकों में दिखाया है। महास्त्रं= जो बहुत बड़ा अस्त्र है। शरम्=वाण । हि=निश्चय करके। उपास=जो ब्रह्म और जीव में जो ज्ञान की दूरी इसको ध्यान से दूर करक । निशितम्=तेज़ करके । संधीयत= ठीक लक्ष्य ताक कर। आयम्य=इस कमान को खींच कर। तद्भावगतेन=ब्रह्म की भावना से युक्त। चेतसा=मन के द्वारा । लक्ष्य=लक्ष । तत्=वह। एतत्=है । अक्षरम्= नाश रहित। सौम्य=प्रिय शिष्य। विद्धि=जान।

(अर्थ) उपनिषद् का बताया हुआ कमान हाथ में पकड़ कर जो बहुत बड़ा शस्त्र है, उसमें वाण उपासना के खूब तेज़ करके रक्खो। और इस धनुष को खींचकर ब्रह्म के प्रेम से मस्त हुए मन के साथ इस लक्ष पर जो अक्षर ब्रह्म के नाम से पुकारा जाता है, ठीक-ठीक आगे लिखे हुए विधान पर निशाना लगाओ। हे प्रिय शिष्य ! इस नियम को समझो।

मंत्र—प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म
तल्लक्ष्यमुच्यते। अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्-
मयो भवेत् ॥ ४ । ३६ ॥

(शब्दार्थ) प्रणवः=ओंकार यह एक। धनुः=धनु है। शरः=शर। आत्मा=आत्मा है। अप्रमत्तेन=आलस को त्याग और सावधान होकर। वद्धव्यं=इस वाण को निशाना पर लगाना चाहिये। शरवत्=तीर की भाँति। तन्मयः=अपने विचार को बना कर। भवेत्=हो जावे।

(अर्थ) ओंकार जो परमात्मा का सर्वोत्तम नाम सब से बड़ा कहाता है, वह धनुष है और आत्मा निश्चय तीर है और जिस लक्ष पर वाण लगाना है, वह ब्रह्म अर्थात् परमात्मा है। अर्थात् ओ३म् के द्वारा आत्मा को परमात्मा में लगाना है। क्योंकि धनुष के द्वारा वाण लक्ष पर लगा करता है, परन्तु किस प्रकार इस वाण को लगाना चाहिये कि बहुत ही सावधानी से, क्योंकि बे-परवाही से यह वाण नहीं लग सकता किन्तु आलस को त्याग, अपने कर्त्तव्य पर आरूढ़ होकर ओंकार के द्वारा जीवात्मा को परमात्मा की ओर लगाना चाहिये। जिस प्रकार धनुष से छूटा वाण सीधा लक्ष की ओर जाता है, बीच में इधर उधर नहीं जाता, इसी प्रकार आत्मा को सीधा परमात्मा की ओर लगाना चाहिये, इधर उधर नहीं भटकना चाहिये ताकि यह आत्मा परमात्मा जैसा हो जावे, जैसे परमात्मा सत्‌चित् आनन्द है, इसी प्रकार जीव भी आनन्द प्राप्त करके सच्चिदानन्द बन जावे। क्योंकि सत्‌चित् तो आत्मा पूर्व से ही है, आनन्द परमात्मा से नैमित्तिक प्राप्त हुआ। अतः जीवात्मा परमात्मा जैसा सच्चिदानन्द बन जावेगा।

प्रश्न—क्या जीव ब्रह्म बन सकता है?

उत्तर—जो बनता है वह ब्रह्म कहला ही नहीं सकता। जीव ब्रह्म नहीं बनता, किन्तु उसमें ब्रह्मरूपता अर्थात् ब्रह्म जैसे गुण विद्यमान हो जाते हैं।

प्रश्न— क्या जीव ब्रह्म की भाँति सर्व व्यापक हो जाता है ?

उत्तर—नहीं केवल ब्रह्म का आनन्द गुण मिल जाने से सत्चित, जीवात्मा ब्रह्मरूप कहलाता है, ब्रह्म नहीं। जैसे लोहा अग्नि में गर्म होकर लाल हो जाता है, उस समय लोहा अग्नि रूप तो हो जाता है, परन्तु अग्नि नहीं होता। इसी प्रकार जीव में आनन्द के आ जाने से सच्चिदानन्द हो जाता है, परन्तु सर्व व्यापक इत्यादि गुण नहीं आते, केवल आनन्द गुण आता है।

मंत्र—अस्मिन् द्यौ पृथिवी चान्तरिक्षमोतं मनः सह प्राणैश्च सर्वैः तमेवैकं जानथ आत्मानमन्या वाचो विमुंचथ अमृतस्यैष सेतुः ५। ३७॥

(शब्दार्थ) अस्मिन्=इस परमात्मा के भीतर। द्यौः= सूर्य, चन्द्र, सब लोक अर्थात् ग्रह। पृथिवी=भूमि। अन्तरिक्षं=जिसके सहारे वायु और मेघ रहते हैं अर्थात् आकाश। ओतम्=जिस प्रकार माला की गुरियों में तागा होता है, ऐसे पिरोया हुआ। मन=मन। सह प्राणौ=सम्पूर्ण प्राणों के साथ। च=और। सर्वैः=सब इन्द्रियाँ इत्यादि के। तम्=उस। एव=ही। एक=एक को। जानथ=पुरुषार्थ करके साधनों के द्वारा से जानो। आत्मानम्=एक परमात्मा है। अन्य=दूसरे। वाचः=वाणी। विमुञ्चथ=नितान्त त्याग दो। अमृतस्य=मुक्ति का। एष=ही। सेतु=फल है।

(अर्थ) जिस परमात्मा में सूर्य, चन्द्र, पृथिवी तारे इत्यादि समस्त लोक रहते हैं, जिसके भीतर आकाश रहता है। प्रयोजन यह है जो पृथिवी चन्द्र, सूर्य तारे आकाश इत्यादि के योग से भी बड़ा है और जिसमें सम्पूर्ण इन्द्रियों के साथ प्राण पिरोये हुए

जगत् में व्यापक है। स्वस्ति=जो कल्याण स्वरूप है अथवा जिसके ज्ञान से ही कल्याण अर्थात् सुख और शान्ति होती है। वा=तुमको। पाराय=दुख के समुद्र से पार करने के लिये। तमसः=अज्ञान और अंधकार से। परस्तात्=जो पृथक् है जिसको कभी अविद्या और अज्ञान हो नहीं सकता।

(अर्थ) जिस प्रकार रथ के पहिये की नाभि में पुट्ठियाँ लगी हुई होती हैं, ऐसे शरीर के भीतर रोहे के आकाश में सम्पूर्ण नाड़ियाँ एक स्थान पर मिल रही हैं। इस स्थान पर योगी पुरुष परमात्मा को योग, वैराग्य और ज्ञान से मन को स्थिर करके उस परमात्मा के स्वरूप को अनुभव करते है। उसके ध्यान का विधान यही है कि उसको ओ३म् इस अक्षर के द्वारा जो परमात्मा का सब से बड़ा नाम है, शब्द का उच्चारण और अर्थ के विचार करने से करे। वह ओ३म् तुम्हारे लिये कल्याणकारी अर्थात् दुःख और भय से छुड़ाकर, सुख और शान्ति और निर्भयता को देनेवाला होगा। और उसके जप और विचार से ध्यान करके तुम इस दुखों के समुद्र से पार जा सकोगे। क्योंकि उस परमात्मा के भीतर किसी प्रकार की अविद्या और अंधकार नहीं। जो स्वयम् अविद्या और अज्ञान से बचा है, वही तुमको गिरने से बचा सकता है। जो प्रकृति अज्ञान स्वरूप है और जो जीव अल्पज्ञ होने से अविद्या के चक्कर मे आनेवाला है, उसके संग से तुम इस अविद्या से पार नहीं हो सकते। किन्तु इस ज्ञान स्वरूप परमात्मा को उपासना से ही अविद्या से पार होगे।

मंत्र--यः सर्वज्ञः सर्वविद्यस्यैष महिमा भुवि।
दिव्ये ब्रह्मपुरे ह्येष व्योम्न्यात्मा प्रतिष्ठितः।

मनोमयः प्राणशरीरनेता प्रतिष्ठितोऽन्ने हृदयं सन्निधाय। तद्विज्ञानेन परिपश्यन्ति धीरा आनन्दरूपममृतं यद्विभाति ॥ ७ । ३६ ॥

(शब्दार्थ) यः=जो। सर्वज्ञ=सब के जाननेवाला। सर्व वित्=सबको जानता है। यस्य=जिसकी। एष=यह। महिमा=महानता बड़ाई। भुवि=इस पृथिवी पर। दिव्ये=शुद्ध आकाश में। ब्रह्मपुर=ब्रह्माण्ड जो रोहे जिसमें समाधि अवस्था में जीव स्थित होता है। हि=निश्चय करके। एष=यह। व्योम्नि=आकाश में। आत्मा=सर्व व्यापक। प्रतिष्ठित=स्थित है। मनोमयः=जिस प्रकार की मन की अवस्था हो वैसा ही दृष्टि आनेवाला। प्राण=प्राण जो इन्द्रियों को चलाते हैं। शरीर=शरीर। नेताः=इनको नियम से चलानेवाला। प्रतिष्ठितः=स्थित रहता है अन्ने= भोजन के कारण से। हृदयं=रोहे में जो आकाश है। सन्नि-धाय=उसके सहारे रहकर। तद्विज्ञानेन=उसके ठीक प्रकार जानने से। परिपश्यन्ति=सब ओर से देखते है या सब स्थान पर देखते है। धीरा=विद्वान् लोग। आनन्दस्य= आनन्द स्वरूप। अमृतम्=जो किसी समय मे भी न मरे। यत्=जो। विभाति=जो प्रकाश करता।

(अर्थ) जो परमात्मा सब के जाननेवाला है। जो एक ही काल सब को जानता। जिसकी यह महिमा पृथिवी पर प्रकाशित है। जिसकी महिमा में किसी प्रकार का दोष नहीं। जो रोहे कमल में अथवा ब्रह्मण्ड के छिद्र में दृष्टि आता है। जो आकाश में व्यापक होकर स्थित है। जो जीवात्मा मन की अवस्था के अनुकूल अपनी दशा को अनुभव करता है। जो

शरीर और प्राणों को प्रबन्ध में चलानेवाला है। जो प्राण भोजन से स्थित रहते हैं। जो रोहे में स्थित होकर उस परमात्मा के ठीक ठीक जाननेवाले बुद्धिमान् मनुष्य, उस आनन्द स्वरूप अमृत रूप को, जो सब पदार्थों को प्रकाश कराता है, उसको प्रत्येक ओर विद्यमान देखने में कोई ऐसी वस्तु नहीं जो उससे न बनी हो। कोई काम करनेवाली शक्ति नहीं, जो उसकी सहायता के बिना काम कर सकती हो। जो कुछ संसार में काम हो रहा है, वह उस परमात्मा की महिमा को प्रकाश कराता है। और आकाश के भीतर सूर्य, चन्द्र, और तारे काम कर रहे हैं, वह सब उस परमात्मा के नियम में चल रहे है। ब्रह्माण्ड के भीतर कोई वस्तु नही जो इसके नियम को तोड़ सके। इसका आज्ञा को उल्लंघन करके कोई दंड से बच नही सकता। कोई बड़े से बड़ा महाराजा ऐसा नहीं कि जो उसके वारन्ट मृत्यु का एक मिनट के लिये रोक सके। चालीस-चालीस लाख सेना रखते हुए, तोपें और बन्दूकें, गढ़ और भवन उसके नियम से स्वतंत्र नही रह सकते कोई शक्ति नहीं जो इसके दंड से बचा सके।

मंत्र--भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे॥८।४०॥

(शब्दार्थ) भिद्यते = टूट जाती है रोहे की गाँठि अर्थात् सूक्ष्म शरीर से वियोग हो जाता है। जन्म-मरण में तो सूक्ष्म शरीर से साथ रहता है, परन्तु उस दशा में पृथक् हो जाता है। छिद्यन्ते = नष्ट हो जाते हैं, टूट जाते हैं। शर्वसंशयाः = सब प्रकार के संदेह नष्ट हो जाते हैं। च = और। अस्य = उस ब्रह्मज्ञानी के। कर्माणि = सब कर्म। तास्मिन् = उस

अवस्था मे। दृष्टे=जब साक्षात् देख लेता है। परावरे=जो इन्द्रियो से अनुभव होने योग्य नही है।

(अर्थ) जब कोई पुरुष इन्द्रियों से अनुभव न होने योग्य परमात्मा को भीतरी ज्ञान चक्षु से देख लेता है, तब उसके रोहे की गॉठ अर्थात् सूक्ष्म शरीर का सम्बन्ध टूट जाता है। सब संदेहो का सम्बन्ध मन से है और मन का सूक्ष्म शरीर से। जब सूक्ष्म शरीर ही न रहा, तो मन कहाँ ? जब मन ही नहीं, तो उसमें उत्पन्न होनेवाले संदेह कहाँ ? अतः सम्पूर्ण संदेह दूर हो जाते है। और जब मन ही नही रहा, जिसमे सब कर्मों के संस्कार रहते हैं, तो उसमें रहनेवाले कर्म किस प्रकार रह सकते हैं ? उस ज्ञानी के सब कर्म नष्ट हो जाते हैं।

प्रश्न—क्या सम्पूर्ण कर्म ब्रह्मज्ञानी होने पर नष्ट हो जाते है ?

उत्तर—जब तक कर्मों का अभिमान बना है, तब तक ब्रह्मज्ञानी या मुक्ति हो ही नही सकती। जब मुक्ति होती है, तब कोई कर्म शेष नही रहता। जैसे जब दीवाला निकल जावे, तब लेने और देने दोनों की समाप्ति हो जाती है।

प्रश्न—क्या कारण है कि मुक्ति की दशा में कर्म की समाप्ति मानी जावे ?

उत्तर—कर्म के संस्कार मन में रहते है और मन सूक्ष्म शरीर में शामिल है, इसलिये जब सूक्ष्म शरीर और मन नहीं रहेंगे, तब कर्म किस प्रकार रह सकते हैं।

प्रश्न—बहुत से मनुष्य कर्म को अनादि मानते हैं। जब वह अनादि हैं, तो उनका मुक्ति में नाश कैसे हो सकता है ?

उत्तर—जीव में कर्म करने की शक्ति अनादि है। और कर्म पूर्व ही से अनादि हैं। जैसे रात और दिन, सृष्टि और प्रलय क्रम से अनादि है, स्वरूप से नहीं।

प्रश्न—क्या सूक्ष्म शरीर मुक्ति में नहीं रहता ?

उत्तर—जब कि सूक्ष्म शरीर प्रकृति से उत्पन्न हुआ है, तो मुक्ति मे किस प्रकार साथ रह सकता है। मुक्ति में जीव के साथ नित्य पदार्थ रहते हैं, अनित्य पदार्थ नहीं रह सकते।

प्रश्न—यदि मुक्ति में सूक्ष्म शरीर की विद्यमानता स्वीकार की जावे, तो क्या दोष होगा ?

उत्तर—उस दशा में सूक्ष्म शरीर नित्य हो जावेगा और जो सूक्ष्म शरीर का उत्पन्न होना शास्त्रो में लिखा है, वह अशुद्ध हो जावेगा।

प्रश्न—यदि सूक्ष्म शरीर को अनादि और नित्य स्वीकार कर लें, तो क्या हानि होगी ?

उत्तर—प्रथम तीन के स्थान में चार अनादि हो जावेंगे। दूसरे सूक्ष्म शरीर का जो लक्षण किया है, वह अशुद्ध हो जावेगा।

मंत्र--हिरण्मये परे कोषे विरजं ब्रह्म निष्कलम्। तच्छुभ्रं ज्योतिषां ज्योतिस्तद्यदात्मविदोविदुः ॥ ६ । ४१ ॥

(शब्दार्थ) हिरण्यमये=विज्ञानमय कोष है। परे=अगले कोष में। विरज=सम्पूर्ण प्रकार के मल से पृथक्। ब्रह्म=परमात्मा विद्यमान है। निष्कलम्=जिस परमात्मा के प्राण, मन इत्यादि कोई कला नही। तत्=वह परमात्मा। शुभ्रम्=शुद्ध है। ज्योतिषां ज्योति=सम्पूर्ण सूर्यादि का भी प्रकाश करनेवाला है, सूर्यादि सब ही प्रकाशक उसकी शक्ति से प्रकाश हैं। तत्=वह परमात्मा। यत्=जिसको। आत्माविदः=आत्मा को जाननेवाले। विदुः=जानते हैं।

(अर्थ) इस शरीर में पाँच कोष अर्थात् एक अन्नमय कोष, दूसरा प्राणमय कोष, तीसरा मनोमय कोष, चौथा विज्ञानमय कोष, पंचम आनन्दमय कोष। निदान विज्ञानमय कोष से परला जो आनन्दमय कोष है, उसमें ब्रह्म का दर्शन होता है, जिस पर किसी प्रकार का आवरण नहीं। संसार में जो ब्रह्म को देखते है, वह प्रकृति के आवरण से ढँपा हुआ है, परन्तु आनन्दमय कोष के भीतर इस आवरण से शून्य दृष्टि पड़ता है। वह परमात्मा शुद्ध है और परमात्मा प्रकाश करने-वाले सूर्य चन्द्र और जीव इत्यादि का भी प्रकाश करनेवाला है। उसको वही मनुष्य जानते हैं, जो जीव को जानते है, जिसको जीव के तत्व का ज्ञान नहीं, उसको परमात्मा का ज्ञान किस प्रकार हो सकता है। जो मनुष्य अपनी आँख को नहीं देख सकता, वह नेत्र के सुरमा को किस प्रकार देख सकता है। अतः वही मनुष्य परमात्मा को जान सकते हैं, जो प्रथम जीवात्मा को जान सकते है।

प्रश्न— क्या जीव और ब्रह्म एक है? जीव के जानने से ब्रह्म का ज्ञान होगा?

उत्तर—जीव ब्रह्म एक नहीं, किन्तु जिस प्रकार नेत्र और सुरमा दो वस्तु है, परन्तु उनमें इस प्रकार का सम्बन्ध है कि जो नेत्र को देखता है, वह नेत्र के सुरमा को देखता है।

मंत्र--न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः। तस्मेव भान्त मनु-भाति सर्वंतस्य भासा सर्वमिदं विभाति १०।४२॥

(शब्दार्थ) न=नहीं। तत्र=आनन्दमय कोष के भीतर। सूर्यः=सूर्य। भाति प्रकाश कर्ता। न=नहीं। चन्द्र-

तारकं = यह भी उस स्थान में चन्द्र, तारे प्रकाश करते हैं। न = नहीं। इमाविद्युत = यह विद्युत जो नेत्र को चकाचौंध करती है। भान्ति = वहाँ प्रकाश करती। कुतः = कहाँ। अयम् = यह। अग्निः = अग्नि। तस्मेव = उसके। भान्तम् = प्रकाश करने से। अनुभाति = पीछे प्रकाश करते है। सर्व-तस्य = सब उनसे। भासा = प्रकाश से। सर्वम् = सबके सब। इदं = यह। विभाति = प्रकाश करते है।

(अर्थ) उस आनन्दमय कोष में जहाँ ब्रह्म के दर्शन करते है, यह सूर्य प्रकाश नहीं करता। जिस प्रकार सूर्य के सम्मुख जुगुनू प्रकाश नहीं कर सकता, ऐसे ही जहाँ उस परमात्मा की चमक नहीं हो सकती, यही चन्द्र तारे, उस स्थान में प्रकाश करते है। और न नेत्रों का चकाचौंध करनेवाला विद्युत उस स्थान में प्रकाश कर सकता है। और जहाँ चन्द्र, सूर्य, तारे और विद्युत प्रकाश न कर सके, तो वहा उस अग्नि के लैम्प और दीपक किस प्रकार प्रकाश कर सकते हैं। उस परमात्मा के प्रकाश से ही सब प्रकाश हुए हैं, अतिरिक्त परमातमा के प्रकाश देने के, बिजली में प्रकाश करने की शक्ति नहीं। जिस प्रकार चन्द्र और तारे सूर्य के प्रकाश को प्रकाश करते हैं, ऐसे ही सूर्य भी परमात्मा के प्रकाश को लेकर प्रकाश करता है। यदि परमात्मा अपनी शक्ति से परमाणुओं को संयोग गुण देकर इस दशा में न लावे, तो कभी सूर्य, चन्द्र और तारे का कहीं नाम भी सुनाई न दे। अतः जो कुछ जगत् में प्रकाश करनेवाली वस्तु हैं, वह उस सर्व व्यापक ब्रह्म के प्रकाश को लेकर ही प्रकाश कर सकती हैं।

मन्त्र--ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्ताद् ब्रह्म पश्चाद् ब्रह्म

दक्षिणतश्चोत्तरेण । अधश्चोर्ध्वं च प्रसृतं ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम् ॥ ११ । ४३ ॥

(शब्दार्थ) ब्रह्म = परमात्मा । एव = है । इदम् = प्रत्यक्ष तौर पर । अमृतम् = नाश रहित । पुरस्तात् = सामने ब्रह्म है अर्थात् पूर्व की ओर । ब्रह्म = परमात्मा । पश्चात् = पीछे की ओर । ब्रह्म = परमात्मा है । दक्षिणतः = दक्षिण की ओर उत्तरेण = उत्तर । च = और । अधः = नीचे की ओर । ऊर्ध्वम् = ऊपर की ओर । प्रसृतं = सब से अधिक फैला हुआ सब से बड़ा । ब्रह्म = परमात्मा है । एव = है । इदम् = प्रत्यक्ष । विश्वम् = जगत् मे फैला हुआ । इदम् = प्रत्यक्ष । वरिष्ठम् = सब से उत्तम ब्रह्म ही है ।

(अर्थ) यह जगत् में अविनाशी रूप से विराज रहा है । यह ब्रह्म ही आगे की ओर जब देखें, तो उधर ब्रह्म है , पीछे की ओर देखे, तो वह ब्रह्म ही है , यदि दक्षिण की ओर देखे, तो वहाँ ब्रह्म , बाईं ओर देखे. वहाँ भी ब्रह्म है , ऊपर की ओर, नीचे की ओर , निदान दशो दिशाओं में फैला हुआ ब्रह्म है । जितनी चीजे है वह एक दूसरे की अपेक्षा बड़ी फैली हुई हैं, परन्तु ब्रह्म सब से बड़ा और सब से अधिक फैला हुआ है ।

इति द्वितीय मुण्डक का द्वितीय खण्ड समाप्त हुआ ।

अथ तृतीय मुण्डक-प्रथम खण्ड

मंत्र—द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते । तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति ॥ १ । ४४ ॥

(शब्दार्थ) द्वा=दो अर्थात् जीवात्मा और परमात्मा। सुपर्णा=जिनका मालूम होना बहुत ही प्रशंसनीय है, जो देखने योग्य पक्षी अर्थात् चेतन्य है। सयुजा=जो कभी भी पृथक् नहीं होते, जिनका नित्य सम्बन्ध बना हुआ ही रहता है, जो परस्पर बहुत गुणों में अनुकूल होने से मित्र है। समानम्=एक है। वृक्षम्=जो वृक्ष की भाँति नष्ट होनेवाला जड़ शरीर है अथवा प्रकृति जिसके बहुत अवयव है। परिषस्वजाते=जो वृक्ष के प्रत्येक भाग मे व्यापक है। तयो=उन दोनो मे से। अन्यः=एक जीवात्मा। पिप्पलम्=उस वृक्ष के फल को। स्वादु=और यह समझ कर। अत्ति=खाता है। अनश्नन्=दूसरा उसके फलो का यह खाता हुआ। अभिचाकशीति=वह उसका देखता है।

(अर्थ) इस शरीर रूपी वृक्ष में अथवा प्रकृति में दो पक्षी चेतन्य अर्थात् जीवात्मा और परमात्मा रहते है, जो सदा परस्पर मिले हुए है। कभी पृथक् हो ही नहीं सकते। क्योंकि जीव के भीतर ईश्वर व्यापक है, जो सर्व व्यापक होने से जीव से कभी पृथक् नहीं हो सकता। जहाँ जीव जाता है, वहीं ईश्वर उसके भीतर विद्यमान होता है। और चेतन्य होने से इन दोनों मे मित्रता है अर्थात् जीव को परमात्मा से ही सुख मिलता है। क्योंकि समान गुणवाले के संग से ही उन्नति हुआ करती है। इनमे से जीवात्मा तो उस प्रकृति अथवा शरीर के शुभाशुभ कर्मों के फलो को उत्तम समझ कर भोगता है, परन्तु ईश्वर साक्षी होकर देखता है, वह कर्मों का फल भोगता है।

प्रश्न—प्रकृति को वृक्ष के साथ क्यो उपमा दी और जीव ब्रह्म को पक्षी के साथ ?

उत्तर—वृक्ष जड़ है, इसलिये जड़ प्रकृति के साथ उपमा

दी। और पक्षी चेतन्य हैं, जिसको जीव और ब्रह्म के साथ उपमा दी। क्योंकि चेतन्य के लिये चेतन्य ही आवश्यक है।

मंत्र—समाने वृक्षे पुरुषोनिमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमानः। जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीश मस्यमहिमानमिति वीतशोकः॥ २। ४५॥

(शब्दार्थ) समान=एक ही जड़ अचेतन्य। वृक्षे=प्रकृति अथवा शरीर मे। पुरुषः=जीवात्मा। निमग्नः=अहंकार से सम्बन्ध उत्पन्न करके, राग द्वेष के चक्कर मे बँधा हुआ। अनीशया=दुखो की जंजीर से छूटने के अयोग्य विचार करके। शोचति=यह विचार करता है कि मेरा धन नष्ट हो गया, मेरी संतान मर गई इत्यादि। मुह्यमानः=मोह के जाल मे ग्रसित। जुष्ट=जब ज्ञान से अथवा योगियो के संग से। यदा=जब। पश्यति=देखता है। अन्यम्=अपने दूसरे को जो शोक से रहित है। ईशम्=जो अपने कामो के करने मे बलवान है। अस्य=उसकी। महिमानम्=उसके बनाये हुए जगत् मे उसकी महिमा को। इति=यह। वीतशोकः=सम्पूर्ण दुःखो से छूट जाता है।

(अर्थ) एक ही वृक्ष में जिसमें जीव और ब्रह्म रहते हैं, जीवात्मा अहंकार की जंजीर से बँधकर अपने को शरीर मान कर यह विचार करता है कि मैं बलहीन हूं। मेरी संतान मर गई, मैं उसको बचा नहीं सका। मेरा धन नष्ट हो गया, उसकी रक्षा नही कर सका। मेरे मित्र छूट गये। निदान अविद्या के चक्कर में फँसा हुआ इस प्रकार की चिन्ता में लगा रहता है। और अहंकार के कारण उन नष्ट होनेवाली वस्तुओं को आत्मा में मान लेता है। आप कलकत्ता मे है, मकान दिल्ली में। मकान

जल जाने का समाचार आता है, रोने लगता है, हाय ! मेरा नाश होगया। यद्यपि आप कुशल पूर्वक विद्यमान हैं, रोग से शरीर कृशतन हो गया, रोने लगता है। शोक में दुबला हो गया। यद्यपि शरीर हुआ है, आत्मा को किसी प्रकार की हानि नहीं पहुँचती, परन्तु अविद्या से दुखी होता है। जब दूसरे साथी परमात्मा के ज्ञान से पूर्ण होने के कारण जो सब कुछ कर सकता है और दुःखों के बंधन से पृथक् है। जिसको न कोई अविद्या मे ला सकता है, न दुख दे सकता है। तब उसकी उपासना से यह भी शोक से पृथक् हो जाता है। परमात्मा ही की उपासना जीव को दुखों से बचानेवाली है।

प्रश्न—बहुत से मनुष्य तो जीव ब्रह्म को एक बताते हैं और वेद का सिद्धान्त अद्वैत बताते हैं।

उत्तर—अद्वैत तीन प्रकार से होता है। एक स्वरूप के विचार से जब कोई दूसरी वस्तु न हो। परन्तु परमात्मा ऐसा नहीं, क्योंकि परमात्मा के गुण और नाम बताते हैं कि उसकी प्रजा भी जिसमें वह व्यापक होने से आत्मा कहाता है। दूसरे एकता होती है, गुणों में अर्थात् उसके समान गुण किसी में नही। तीसरे एकता होती है, उपासना के विचार से। अतः परमात्मा में दो प्रकार की एकता है अर्थात् वह एक ही उपास्य है, उसके समान गुण किसी दूसरे में नही।

प्रश्न—वह गुणों में एक है, इसके यह अर्थ कि जो गुण उसमे हैं, वह अन्य में नही हैं।

उत्तर—यह अर्थ ठीक नहीं, क्योंकि उसमें सत्ता का गुण है, वह दूसरे पदार्थों में भी पाया जाता है।

मंत्र—यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं कर्त्तार-

मीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम्। तदा विद्वान् पुण्यापापे विधूय निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति ॥३।४६॥

(शब्दार्थ) यदा=जिस समय ज्ञान से अथवा समाधि की दशा में योगी । पश्यः=शुद्ध अन्त करण वाला ज्ञानी मनुष्य। पश्यति=देखता है। रुक्मवर्णं=प्रकाश है वर्ण जिसका। कर्त्तारम्=जगत् उत्पादक। ईशम्=सम्पूर्ण जगत् के स्वामी सर्व शक्तिमान परमेश्वर को। पुरुषं=जो सब मे व्यापक है। ब्रह्मयोनिम्=वेद के कर्त्ता सर्वज्ञ को। तदा= उस समय । विद्वान्=वह ज्ञानी पुरुष। पुण्यपापे=पुण्य। और पाप अर्थात् शुभाशुभ कर्म के संस्कारों को। विधूय= त्याग अर्थात् उस फल से साफ होकर । निरञ्जनः=राग द्वेष से पृथक् होकर। परमम्=अविद्या इत्यादि क्लेशों से रहित जो सब से सूक्ष्म है। साम्यम्=उसकी समानता को। उपैति=प्राप्त कर लेता है अर्थात् उन दुःखों से छूट जाता है।

(अर्थ) जिस समय मन क मैल को दूर करके और मन को एकत्र करके, योगी पुरुष उस प्रकाश स्वरूप परमात्मा को जिसके प्रकाश से सम्पूर्ण जगत् प्रकाश हो रहा है और जो इस सम्पूर्ण जगत् को उत्पन्न करनेवाला है और जो सब का स्वामी है, जिसकी शक्ति से सब ब्रह्मांड का चक्र चल रहा है। चन्द्र, सूर्य और पृथिवी की चाल, तारों का चक्कर, ऋतुओं का परिवर्तन, उत्पन्न होनेवाली चीजों का विकार। निदान प्रत्येक प्रकार के काम जिसकी शक्ति से बन रहे हैं, जब उसको देख लेता है, तब वह पाप और पुण्य की अभिलाषा और अहंकार के मल को धोकर अर्थात् किसी प्रकार की इच्छा न रहने से और अन्तःकरण के पृथक् हो जाने से परब्रह्म जो

परमात्मा है, जो सब से सूक्ष्म और सब से बलवान, ब्रह्म और पूर्ण ज्ञाता दुःखों के योग से रहित, जिसको कोई पकड़ नहीं सकता, उसको प्राप्त करके उसके आनन्द गुण मिल जाने से, उसकी समानता को प्राप्त कर लेता है। जिस प्रकार वह सत्चित आनन्द स्वरूप है, ऐसे ही उसके आनन्द से जीव भी आनन्द प्राप्त करके सम्पूर्ण दुःखों से पृथक् हो जाता है।

मंत्र--प्राणो ह्येष यः सर्वभूतैर्विभाति विजानन् विद्वान् भवते नातिवादी। आत्म क्रीड आत्मरतिः क्रियावानेष ब्रह्मविदां वरिष्ठः ॥ ४ । ४७ ॥

(शब्दार्थ) प्राणः = अपनी शक्ति से सम्पूर्ण जीवों के जीवन का कारण होने से परमात्मा का नाम प्राण है। हि= निश्चय करके। एष = यह परमात्मा है। यः = जो। सर्वभूतै = सम्पूर्ण जीवों के गेहे मे प्रकट होनेवाला है। विभाति = सब के भीतर रहकर प्रत्येक जीव को अपने नियम से पाप पुण्य कर्मों का प्रकाश करनेवाला। विजानन् = उसको जानने से। विद्वान् = ज्ञानी पुरुष। भवेत् = होता। न = नहीं। अतिवादी = अधिक वक्ता व्यर्थ अलापी। आत्मक्रीड़ी = अपनी आत्मा मे ही आनन्द को प्राप्त करता है। आत्मरतिः = आत्मा मे ही उसको प्रेम होता है, दूसरे से नहीं। क्रियावान = अपने ज्ञान के अनुकूल कर्म करता है। तात्पर्य यह है कि ज्ञानी पुरुष कर्म करता है वाणी से नहीं कहता है। एष = यह। ब्रह्मविदां = वेद के ज्ञाताओं में अथवा परमात्मा के जाननेवालों मे। वरिष्ठः = सब से उत्तम।

(अर्थ) परमात्मा सम्पूर्ण जीवों के जीवन का कारण है,

यदि परमात्मा अपनी शक्ति से संयोग न दे, तो कोई जीव जीवित नहीं रह सकता। जिस प्रकार यह परमात्मा सम्पूर्ण जीवों के भीतर प्रकाश कर रहा है और सम्पूर्ण ब्रह्मांड जो नियमानुकूल चल रहा है, वह परमात्मा की सत्ता को प्रकाश कर रहा है। जिस प्रकार हमारी वाणी को नियम पूर्वक बोलना, हाथ, पाँव का इच्छानुकूल चलना, हमारे भीतर नियम से चलानेवाले आत्मा का प्रकाश करना है। अथवा एंजन इच्छुक क्रिया अर्थात् उसका आगे बढ़ना, पीछे हटना, खड़ा होना इत्यादि ड्रायवर की विद्यमानता के प्रमाण हैं। गो एंजन स्टीम से चलता है परन्तु नियमानुकूल इच्छुक क्रिया ड्रायवर का प्रमाण देती है। जो उस परमात्मा को जान लेता है, वह ज्ञानी पुरुष अधिक बोलनेवाला नहीं होता। किन्तु अपने आत्मा के भीतर ही आनन्द भोगना, परमात्मा से ही प्रेम करना, कर्मकाण्डी, सत्यवादी होता है। ब्रह्म के जाननेवालों में वही उत्तम है जो मन, वाणी और कर्म का सच्चा है। इस अगले मन्त्र में उस विधान और साधनों को बताते हैं जिससे उस ब्रह्म का ज्ञान होता है। जो मनुष्य ब्रह्म को साक्षात् करने के लिये दूर-दूर देशो में घूमते हैं या जो पुरुष यह आशा रखते है कि गुरु अथवा पीर हमको निकाल कर परमात्मा दिखावेगा, वह बहुत ही भूल करते है। गुरु मार्ग बता सकता है, दिखा नहीं सकता।

मंत्र--सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येषआत्मा सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम्। अन्तः शरीरे ज्योतिर्मयोहि शुभ्रोयंपश्यन्ति यतयः क्षीणदोषाः ॥ ५। ४८ ॥

(शब्दार्थ) सत्येन=सदा सत्य बोलने, सत्य मानने, सत्य करने से। लभ्य =मिलता है, जाना जाता है। तपसा= इन्द्रियों को विषयो से रोकने और शीतोष्ण, क्षुधा, तृषा इत्यादि के सहन करने। हि=निश्चय करके। एष=यह आत्मा जीवात्मा परमात्मा। सम्यग्ज्ञानेन=ठीक प्रकार जो वस्तु जैसी है उसको वैसा ही जानना चाहिये। ब्रह्मचर्येण= सदा वेदानुकूल ८ प्रकार के मैथुनादि से पृथक् रहने से नित्यम्=सदा से यही नियम है। अन्तः शरीरे=इस शरीर में परमात्मा के दर्शन होते। ज्योतिर्मयः=वह प्रकाश स्वरूप उसमे अज्ञान और तम का पता भी नहीं। हि=निश्चय करके। शुभ्रः=शुद्ध है। यत्र=जिसको। पश्यन्ति=देखते हैं। यतयः=सन्यासी पुरुष। क्षीणदोषाः=जिनके मल विक्षेप आवरण दोष नष्ट हो गये।

(अर्थ) जो मनुष्य सत्य पर चलता है अर्थात् सत्य ही बोलता, सत्य ही मानता और सत्य ही करता है, वह आत्मा को जान सकता है, परन्तु वह मनुष्य सत्य पर नहीं चल सकता जो तप का अभ्यासी नहीं, जिससे शीतोष्णता, क्षुधा, तृषा और इन्द्रियों को विषयों से रोकना है। जो कष्ट होता है उसके सहन करके का स्वभाव नहीं उत्पन्न कर लिया, यह हित का स्वभाव नहीं हो सकता। जब तक ठीक-ठीक ज्ञान न हो, क्योंकि जो जानता है कि क्षुधा, तृषा प्रणों का धर्म है और मैं प्राण नही। वृद्ध होना और मरना शरीर का धर्म है, मेरा नही। हर्ष, शोक मन का धर्म है, मेरा नही। उसमें तो सहन की शक्ति हो सकती है, दूसरे में नहीं। परन्तु ज्ञान उनको हो सकता है जो नित्य ब्रह्मचर्य के नियमानुकूल गुरु से शिक्षा पाते हैं। जिन मनुष्यों ने ब्रह्मचर्य व्रत का पालन नहीं किया,

उनको ठीक ज्ञान नही हो सकता। और जिनको ठी-ठीक ज्ञान न हो, वह तप नही कर सकते, वह सदा आलसी रहते है। परन्तु आलसी मनुष्य कभी सन्मार्ग पर नही चल सकते। क्योंकि सच्चे को बहुत सी परीक्षाओं में से निकलना पड़ता है। जैसे खरा सुवर्ण कभी अग्नि मे जलाया जाता है, कभी परीक्षक (सर्राफ) को दिखाया जाता है और कसौटी पर घिसा जाता है, किसी को काट कर दिखाया जाता है। इसी प्रकार सत्य की परीक्षा होती है। जो परीक्षा में उत्तीर्ण हो जाता है, वही सच्चा ठहरता है। निदान जीवात्मा अपने शरीर में तप करके उस प्रकाश स्वरूप को जिसमे किसी प्रकार का मल या तम लेशमात्र भी नही होता। और जो शुद्ध है जिसको सब मनुष्य नही देख सकते, किन्तु वह संन्यासी मनुष्य जानते हैं। आगे तीन प्रकार की इच्छा को त्याग कर और कर्मकाण्ड से अन्तःकरण के मल को, उपासना काण्ड से अन्तःकरण की चंचलता को और अहङ्कार को त्याग देने से और आवरण दोष को दूर कर दिया हो। जब तक यह तीन प्रकार की इच्छाएँ और तीन प्रकार के दोष विद्यमान है, कोई भी परमात्मा को नही देख सकता और न कोई दिखा सकता है। अतः ब्रह्मज्ञान के इच्छुकों को बाहर के प्रत्येक प्रकार के आडम्बर को त्याग कर भीतर देखने के लिये जो साधन बताये गये है, उन पर अमल करना चाहिये।

मंत्र—सत्यमेव जयते नानृतं सत्येन पन्था विततो देवयानः। येनाक्रमन्त्यृषयो ह्याप्तकामा यत्र तत्सत्यस्य परमं निधानम् ॥ ६ । ४६ ॥

(शब्दार्थ) सत्यमेव जयते=सत्य कर्म करके ही मनुष्य मुक्ति को प्राप्त कर सकता है। न=नहीं। अनृतम्=झूठ की जय नहीं होती। सत्येन=सत्य से। पन्था=मार्ग जिस पर मनुष्य चल रहे है। विततो=फैला हुआ है। देवयानः=वेदों के जाननेवाले देवतो के कर्म का मार्ग। यन=जिस मार्ग से। आक्रमन्ति=परस्पर मे उत्साह से चलते है। ऋषयः=वेदों के अर्थ के ठीक ठीक जाननेवाले ज्ञानी। हि=निश्चय करके। आप्तकाम:=जिन्होंने अपने उद्देश मे सफलता प्राप्त करली है, जिस दशा मे। यत्र=जहाँ पर। तत्=वह। सत्यस्य=सत्य कर्म करने का। परमम्=अत्यन्त सुन्दर। विधानम्=अन्तिम सीमा है।

(अर्थ) अन्तिम सत्य की जय होती है, यद्यपि परीक्षा के समय सत्यता निर्बल मालूम होती है। झूठ को कभी सफलता प्राप्त नहीं होती। मुलम्मा कहने से कोई परीक्षा नहीं करता, सोना कहने से उसकी परीक्षा की आवश्यकता होती है। इसके यह अर्थ नहीं कि मनुष्य सोने से मुलम्मा को अच्छा समझते हैं, इस कारण उसकी परीक्षा नहीं करते। सत्य से ही देवतों के सन्मार्ग का द्वार खुला हुआ है अर्थात् सत्य से मुक्ति को प्राप्त कर सकते है। जिस मार्ग से ऋषि मुक्ति प्राप्त कर चुके है, वह वेद के ज्ञानियों का ही मार्ग सत्यता अन्तिम सीमा है।

प्रश्न—क्या सत्य की सदैव जय होती है? हम तो प्रायः देखते है कि सत्य की पराजय होती है।

उत्तर—अन्त में अवश्य सत्य की जय होगी। मध्य में जो असत्य की जय होती है, वह सत्य की परीक्षा होती है। क्योंकि यदि सत्य पर पूर्ण विश्वास होता है, तो असफलता की दशा

में भी सत्य से पृथक् नहीं होता। यदि पूर्ण विश्वास नहीं, तो वास्तव में वह सत्य नहीं।

मंत्र—बृहच्च तद्दिव्यमचिन्त्यरूपं सूक्ष्माच्च तत् सूक्ष्मतरं विभाति। दूरात्सुदूरे तदिहान्तिके च पश्यत्स्विहैव निहितं गुहायाम् ॥ ७। ५० ॥

(शब्दार्थ) बृहत्=बहुत ही बड़ा। च=और। तत्=वह। दिव्यम्=वह स्वयम् प्रकाश स्वरूप है, उसके देखने को किसी अन्य के प्रकाश की आवश्यकता नहीं। अचिन्त्यरूप=जिसके रूप को मन से भी विचार नहीं सकते, मन सब की सीमा पर हो आता है, परन्तु वह इस शक्ति से बाहर है। सूक्ष्मात्=अति सूक्ष्म है। विभाति=प्रकाश करता है। दूरात्=दूर से भी। सुदूरे=अधिक दूर है। तत्=वह। इह=यहाँ। अन्तिके=निकट ही है। च=और। पश्यत्सु=देखनेवालों के भीतर है। इह=यहाँ। एव=भी। निहतम्=स्थिर है, विद्यमान है। गुहायाम्=बुद्धि के भीतर।

(अर्थ) वह परमात्मा सब से बड़ा और प्रकाश स्वरूप है, जिसके जानने के लिये किसी अन्य के प्रकाश की आवश्यकता नहीं। उसके रूप को मन से भी विचार नहीं सकते, क्योंकि उसके गुण अनन्त हैं। क्योंकि सूक्ष्म प्रकृति और जीव से भी अधिक सूक्ष्म है। इसलिये उनके भीतर व्यापक हो रहा है और उनको प्रकाश देता है, जिसके प्रकाश से यह प्रकृति और जीव काम कर रहे हैं। वह अज्ञान की दूरी से दूर है। और न मक्का जाकर ही उसको पा सकते हैं और न काशी जाकर और न द्वारका में न रामेश्वर में। और ज्ञानियों के लिये इस शरीर के भीतर ही विद्यमान है।

वह मनुष्य अन्तःकरण को शुद्ध करके विज्ञान से मन की वृत्तियों को स्थिर करके अहङ्कार के आवरण से पृथक होकर उसको देखना चाहते हैं, उनको यहाँ ही अपनी बुद्धि के भीतर मालूम पड़ता है। तात्पर्य यह है कि परमात्मा को देखने के लिये कहीं दूर जाने की आवश्यकता नहीं, किंतु अन्तःकरण में देखने की आवश्यकता है। जो मनुष्य परमात्मा को बाहर ढूढते है, उनसे परमात्मा बहुत ही दूर है। और जो हृदय में देखते हैं, उनके नितान्त समीप है। बाह्य ज्ञान से देखनेवालों को वह किसी दशा में मिल नहीं सकते और ज्ञान-चक्षु से देखनेवाले उनको सदा देखते है।

मंत्र—न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा नान्यैर्देवै-स्तपसा कर्मणा वा। ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्त्व-स्ततस्तु तं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः ॥८।५१॥

(शब्दार्थ) न = नहीं। चक्षुषा = नेत्रों से उसे कोई देख सकता है, क्योंकि वह अनन्त है, सत् है, सूक्ष्म है। न=नहीं। अन्यः देवः=दूसरे इन्द्रियों के द्वारा से। अपि=भी। वाचा= वाणी से उसके गुणों की सीमा पा सकता है। तपसा=तप से। कर्मणा वा=न कर्म से, तप और कर्म से भी वह नहीं देखा जाता। ज्ञानप्रसादेन = ज्ञान के भीतर जो राग द्वेष इत्यादि दोष प्रस्तुत है, जब यह दोष दूर हो जावें। विशुद्ध सत्त्व साफ दर्पण की भाँति मन शुद्ध हो जावे। उनमें किसी प्रकार की राग अथवा द्वेष सत्कार मौजूद हो। तत्= उससे। तु=है। तम्=उस परमात्मा को। पश्यते=देख सकते हैं। निष्कलम्=निराकार और अनन्त को। ध्यायमानः= ध्यान करते हैं।

(अर्थ) परमात्मा निराकार है, इसलिये उसको नेत्र देख नही सकते और वह अत्यन्त समीप है, इसलिये नेत्र भी देखने में असमर्थ हैं। और महान से भी महान है, इसलिये भी नेत्र नहीं देख सकते और न वाणी उसके गुणों के सीमा को बता सकता है। और न कोई दूसरी इन्द्रियाँ उसको अनुभव कर सकती हैं। और न उसको तप अर्थात् शीतोष्णादि कष्ट सहन करने से जान सकते हैं और न कर्म से उसका ज्ञान हो सकता है। किन्तु अज्ञान के दोषों से रहित होकर जब बुद्धि शुद्ध हो जाती है अर्थात् मन में जो मल निक्षेप आवरणादि दोष हैं, यह नितान्त दूर हो जाते है, तब उस शुद्ध मन से ध्यान करता हुआ उसको देख सकता है।

प्रश्न—इन्द्रियाँ बाहर की चीजो के देखने के लिये हैं, उनसे भीतर नहीं देखा जा सकता। इसलिये जो भीतर देखता है, वह किसी भौतिक इन्द्रिय अथवा मन से नहीं देखा जाता है। जीवात्मा की स्वाभाविक शक्ति जो बुद्धि है, उससे देखा जाता है।

उत्तर—निराकार के अर्थ असंयोग के हैं। क्योंकि आकार कहते हैं नियत वस्तुओं के योग को जिसका दूसरा नाम स्थूल है। और जिसमें योग न हो, वह निराकार अर्थात् सूक्ष्म है। अत सूक्ष्म और स्थूल वस्तु अपने गुणो से ग्रहण की जाती हैं। जिसके देखने के लिये जो साधन नियत है, उनसे वह देखा जाता है, दूसरे से नहीं देख सकते।

मंत्र--एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यो यस्मिन् प्राणः पञ्चधा संविवेश। प्राणैश्चित्तं सर्व मोतं पजानाम्। यस्मिन् विशुद्धे विभवत्येष आत्मा ॥ ९ । ५२ ॥

(शब्दार्थ) एष = यह । अणु = सूक्ष्म । आत्मा = सब में व्यापक । चेतसा = पवित्र ज्ञान से जो हर प्रकार के दोष से पृथक् हो । वेदितव्य = जानने के योग्य है और प्रकार से नहीं । यस्मिन् = जिसके भीतर । प्राणः = प्राणवायु । पञ्चधा = पाँच प्रकार के प्राण, अपान व्यान, समान, उदान नाम वाले । संविवेश = ठीक प्रकार प्रविष्ट हो रहे हैं । प्राण= प्राण और उसके आश्रय काम करनेवाली इन्द्रियों के साथ । चित्तं = अन्तःकरण । सर्व = सब प्रकार के अर्थात् मन और बुद्धि । ओतम् = मन के मनकों में तागे की भाँति पिरोया हुआ है । प्रजानाम् = प्रजा का । यस्मिन् = जिस शरीर के भीतर । विशुद्ध = शुद्ध होने से अर्थात् तीन प्रकार की इच्छा और राग द्वेष के पृथक् होने से । विभवति = अपने स्वरूप को प्रकट करता है । एष = योगियों को प्रत्यक्ष होनेवाला । आत्मा = परमात्मा ।

(अर्थ) उस सूक्ष्म आत्मा को ज्ञान-चक्षु से देख सकते हैं । जिस शरीर में पाँच प्रकार के प्राण ठीक प्रकार प्रविष्ट हो रहे हों, प्राणों से सम्पूर्ण इन्द्रियाँ और चारो प्रकार के भीतरी यंत्र अर्थात् मन, बुद्धि, चित्त अहंकार इस प्रकार पिरोये हुए हैं, जैसे माला के मनकों में धागा पिरोया होता है । जिस शरीर मे चित्त अथवा अन्तःकरण सम्पूर्ण दोषों से शुद्ध हो जाते हैं, अर्थात् मन में मल अर्थात् दूसरों की क्षति चाहना । चंचलता, हर समय इच्छा का बढ़ते रहना । आवरण, अहङ्कार से अपनी शक्ति और दशा को अनुभव न करना, किन्तु बड़ा मान लेना और अज्ञान से पदार्थों के स्वरूप को यथार्थ न जानना ; किन्तु और का और जानना । यह सब दोष दूर हो जाते हैं, तब वह परमात्मा चित्त में अपना प्रकाश करते हैं, और जिस प्रकार

किसी बड़े अफसर को आना होता है, तो सम्पूर्ण शहर की सफाई कराते हैं, सम्पूर्ण हाट बाजारो मे रोशनी करते हैं, क्योंकि एक बड़े अफसर को आना है। इसी प्रकार जो अन्तःकरण तम अवस्था में अपवित्र है, वहाँ परमात्मा के दर्शन नहीं होते, किन्तु जो शुद्ध और प्रकाशित है, उस चित में परमात्मा के दर्शन होते हैं।

मंत्र--यं यं लोकं मनसा सविभाति विशुद्धसत्वः कामयतेयांश्च कामान्। तं तं लोकं जायते तांश्च कामांस्तस्मादात्मज्ञं ह्यर्चयेद् भूतिकामः ॥ १० । ५३ ॥

(शब्दार्थ) यम्‌यम्=जिस जिसको। लोकं=शरीर को। मनसा=मन से। विभाति=मन से इच्छा करता है। विशुद्धसत्वः=जिसका मन राग द्वेष, छल कपट, आडम्बर से रहित है। कामयते=इच्छा करता है। याश्च=जिसको। च=और। कामान्=इच्छाओ को। ताम्=उस-उस। लोकम्=सूर्य, चन्द्रादि अथवा शरीर में। जायते=उत्पन्न होता है। तान्=उन। कामान्=इच्छाओ को प्राप्त कर लेता है। तस्मात्=इस कारण से। आत्मज्ञम्=आत्मा के जाननेवाले विद्वान् को। अर्चयेद्=उसकी सेवा करने अर्थात् उसका संग करके उसके गुणो को प्राप्त करते है। भूतिकाम =जिसको योग सिद्ध करने की इच्छा हो, क्योंकि उसके संग से वह वैसा बन सकता है।

(अर्थ) जिस ज्ञानी पुरुष ने अपना मन शुद्ध कर लिया है, वह जिस-जिस लोक में जाने की इच्छा करता है, अथवा जिस वस्तु की इच्छा रखता हो उसको वह प्राप्त कर सकता

है। इस कारण जिस मनुष्य को योग की इच्छा हो कि मैं योग सिद्ध करूँ, उसको चाहिये कि आत्मा के जाननेवाले योगियो की सेवा करे।

प्रश्न—अन्तःकरण की शुद्धि होने की, मनुष्यों और दूसरी वस्तुओं की कामना कैसे हो सकती है? क्योंकि अन्तःकरण के शुद्ध होने का प्रमाण यही है कि तीन प्रकार की वस्तु अर्थात् वित्तेषणा, लोकैषणा, पुत्रैषणा का इच्छा न रहे। जिसको इनकी इच्छा है, उसका मन शुद्ध नहीं। और जिसका मन शुद्ध है, उसको इच्छा नहीं?

उत्तर—इच्छा दो भाँति स होती है, एक अपने स्वार्थ से, दूसरे परोपकार के लिये। जिसका मन अपवित्र होता है, उसको अपने लिये इच्छा होती है। और जिसका मन शुद्ध है, उसको दूसरों के उपकार की इच्छा होती है।

प्रश्न—परोपकार का फल अन्तःकरण की शुद्धि है। जब अन्तःकरण शुद्ध हो गया, तो परोपकार का क्या प्रयोजन?

उत्तर—जीवात्मा का स्वभाव कर्म करना है, जिससे वह अतिरिक्त उस दशा के जब कि कर्म करने के यन्त्र मन आदि न हो, कर्म से मन की विद्यमानता में खाली नहीं रह सकता। अतः वह शुभ कर्म करे अथवा अशुभ इसलिये मन के शुद्ध होने पर भी बुद्धिमान् परोपकार करते हैं, जिससे पाप की ओर मन न चला जावे।

प्रश्न—शुद्ध मनवाला ज्ञानी भी पाप कर सकता है?

उत्तर—मन से काम करता है, यदि ज्ञानी उसको सन्मार्ग पर जाने देगा तो वह पाप नहीं कर सकता। यदि उसके स्वभाव के विरुद्ध उसको रोकेगा, तो वह जिस प्रकार अवसर मिलेगा कर्म करेगा। इसलिये मन की शुद्धि के पश्चात् योग के

साधनों से उसकी चंचलता को रोकने की आवश्यकता विद्वानों ने स्वीकार की है। तृतीय मुण्डक का प्रथम खण्ड समाप्त हुआ।

अथ तृतीय मुण्डक-द्वितीय खण्ड

मंत्र--स वेदैतत्परमं ब्रह्मधाम यत्र विश्वं निहितं भाति शुभ्रम्। उपासते पुरुषं येह्यकामास्ते शुक्रमेतदतिवर्त्तन्ति धीराः ॥ १ । ५४ ॥

(शब्दार्थ) सः=वह ज्ञानी पुरुष जिसका विचार ऊपर हो चुका है। वेद=जानता है। एतत्=यह प्रत्यक्ष। परमम्=सब से उत्तम सब से सूक्ष्म। ब्रह्म=परमात्मा है। यत्रधाम=जिसमे। विश्वं=यह सम्पूर्ण जो विद्यमान है। निहितं=स्थित होकर। भाति=प्रकाश हो रहा है। शुभ्रम्=जो शुद्ध है, जिसमे किसी प्रकार का दोष नहीं। उपासते=उपासना करते है। पुरुषं=उस पुरुष की। यः=जो ज्ञानी मनुष्य। हि=निश्चय करके। अकामा=निष्प्रयोजन। ते=वह ज्ञानी मनुष्य। शुक्रम्=वीर्य्य को। एतत्=यह ज्ञानी पुरुष। अतिवर्त्तन्ति=उसकी शक्ति से बाहर निकल जाते है अर्थात् वह विषय भोग नहीं करते। धीराः=ऐसे बुद्धिमान योगी।

(अर्थ) उक्त गुणो से युक्त ज्ञानी जान सकता है कि सब से सूक्ष्म परमात्मा किस स्थान पर दर्शन देते हैं। जिस परमात्मा में यह सम्पूर्ण जगत् स्थित होकर प्रकाश करता है, अतिरिक्त परमात्मा के जगत् की सत्ता का दृष्टि पड़ना कठिन है। क्योंकि जगत् में दो गुण, संयोग और वियोग, काम कर रहे हैं। जो परस्पर विरोधी है; एक से उत्पत्ति होती है दूसरे से नाश। यह दोनों एक ही प्रकृति का गुण तो भूल नहीं सकते

अतः एक ही माना जाता है। प्रकृति में स्वाभाविक गुण संयोग मान कर भी दुनिया का काम चल नहीं सकता। और न वियोग मान कर चल सकता है। अतः शुद्ध स्वरूप परमात्मा ही संसार में प्रकाश करते है। जो उस परमात्मा की निष्काम उपासना करता है, वह संसार के विषयो में नहीं फँसता, वह वीर्य्य को नहीं गिराता। किंतु अपनी सम्पूर्ण शक्ति परमात्मा की उपासना और ज्ञान मे व्यय करता है।

मन्त्र--कामान् यः कामयते मन्यमानः स कामभिर्जायते तत्र तत्र। पर्याप्तकामस्य कृतात्म नस्तु इहैव सर्वे प्रविलीयन्ति कामाः ॥२ ।५५॥

(शब्दार्थ) कामान्=कामनाओं को। यः=जो मनुष्य। कामयते=चाहता है। मन्यमान=मन में उनकी वासना रखता हुआ। सः=वह मनुष्य। कामभि=कामनाओं के कारण। जायते=उत्पन्न होता है। तत्र तत्र=उस उस स्थान मे जहां की इच्छा थी। पर्याप्तकामस्य=जिसने कामनाओं को पूर्ण कर लिया है अब उसे कोई इच्छा शेष नहीं। कृतात्मनः=जिसकी आत्मा काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि से पृथक् हो गई है। तु=तो। इह=इस संसार में। एव=ही। प्रविलीयन्ते=अपने-अपने जिसमें प्रवेश हो जाती हैं। कामा= उसकी इच्छा।

(अर्थ) जो मनुष्य संसार की कामनाओ मे फँसा हुआ और निश दिन कामना ही करता रहता है, वह अपनी अभिलाषा के अनुकूल बार-बार जन्म लेता है। यदि घोड़े की इच्छा है, तो घोड़े के जन्म में जाता है। यदि स्त्री की इच्छा है, तो स्त्री का जन्म लेता है। यदि सूर्य-लोक में जाने की कामना है;

और वैसे कर्म किये हैं, तो सूर्य लोक में जाकर जन्म लेता है, प्रयोजन यह है, इच्छा से काम करने का परिणाम जन्म है। मुक्ति नहीं। जिसने आत्मा की कामनाओं से अलग करके काम, क्रोध, लोभ, मोह को आत्मा से दूर रहने दिया है और सब कामनाओं को पूर्ण करके उनका फल समझ लिया है। और अब उसके मन मे कोई इच्छा भी उत्पन्न नहीं होती। उसकी सब इच्छाएँ अपने-अपने कारण अर्थात् सब में प्रवेश हो जाती है, उसके साथ जाकर जन्म होता है।

प्रश्न—जिस प्रकार की कामना की जावे, वैसा ही जन्म होता है ?

उत्तर—जिस प्रकार की इच्छा से यज्ञादि शुभ कर्म किये जावेंगे, वैसा ही जन्म होना सम्भव है।

मंत्र—नाऽयमात्मा प्रवचनेन लभ्योन मेधया न बहुधा श्रुतेन । यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा वृणुते तनू छं स्वाम् ॥ ३ । ५६ ॥

(शब्दार्थ) न=नही। अयमात्मा=यह जीवात्मा यह परमातमा। प्रवचनेनलभ्यो=बहुत से व्याख्यान करने से मिल सकता है। न=नहीं। मेधया=बुद्धि से जाना जाता है। बहुधा श्रुतेन=बहुत सी पुस्तको के पढ़ने से अथवा बहुत से कथा वार्त्ता और व्याख्यानो के सुनने से जाना जाता है। यम्=जिस पुरुष। एष=यह जगत् में परमात्मा व्यापक। वृणुते=अधिकारी समझकर स्वीकार करता हूँ। तेन=उस पुरुष को। लभ्यः=ज्ञान होता है। तस्य=उसके लिये। एष=यह जगत् कर्त्ता परमात्मा। वृणुते=फैला देता है, प्रकाश करता है। तनू=फैलाव को। स्वाम्=अपने।

(अर्थ) उस परमात्मा को बहुत पढ़ाने अथवा उपदेश करने अथवा व्याख्यान देने से नहीं जान सकते। और न बुद्धि से परमात्मा का ज्ञान होता है और न बहुत से शास्त्रों के सुनने-सुनाने और पुस्तकों के पढ़ने-पढ़ाने से परमात्मा को जान सकते हैं। जिसको अधिकारी देखकर यह आत्मा स्वीकार करता है अर्थात् जिसने ज्ञान, कर्म और उपासना से सम्पूर्ण दोषो को दूर कर लिया है, जिसको अतिरिक्त आत्मा के जानने के और कोई इच्छा नहीं, जिसका अतिरिक्त आत्मा के और भरोसा नही। निदान जिसका सर्वस्व आत्मा ही है। जिसका दूसरी ओर ध्यान ही नही। जिसकी बुद्धि पतिव्रता स्त्री की भाँति परमात्मा के ही ध्यान में लगी हुई है, जिसको और ओर विचार करना भी दुख का कारण मालूम होता है, वह परमात्मा के जानने का अधिकारी है, उसको परमात्मा के दर्शन हो सकते है। सब साधन अधिकारी बनने के लिये है। जब अधिकारी बन जाता है, तब परमात्मा उस पर अपने स्वरूप का प्रकाश कर देते हैं।

प्रश्न—एक ओर तो कहा जाता है कि परमात्मा बुद्धि से नही जाना जाता। दूसरी ओर कहा जाता है, परमात्मा केवल बुद्धि से ही जाना जाता है?

उत्तर—बुद्धि दो भाँति की होती है। एक जीवात्मा का स्वाभाविक ज्ञान। दूसरे एक मन की प्रेरणा से परमात्मा का ज्ञान नही हो सकता। स्वाभाविक बुद्धि से समाधि और मुक्ति की दशा में ज्ञान होता है।

मंत्र--नाऽयमात्मा बलहीनेन लभ्यो न च प्रमादात्तपसो वाप्यलिङ्गात्। एतैरुपायैर्यतते यस्तु विद्वांस्तस्यैष आत्मा विशते ब्रह्मधाम॥४।५७॥

(शब्दार्थ) न=नहीं। अयमात्मा=यह परमात्मा। वलहीनेन=जिसने ब्रह्मचर्य का सेवन करके आत्मिक वल नहीं बढ़ाया। लभ्य=वह उसको जान सकता है। न=नही। च=और। प्रमादात्=जिसने अभिमान मे फँसकर आत्म चेतन्य की ओर से लापरवाही की है। तपसः=तप से भी उसको नहीं जान सकते। वाऽपि अलिंगात्=पाखंड से सम्पूर्ण वैदिक धर्म के लक्षणों को त्याग देने से ही परमात्मा नहीं जाना जाता। एतै=उस ब्रह्मचर्याश्रम को करने और आलस्य को त्यागने, सत्य, तप करने आदि। उपायैः-जो उपायों से। यतते=परिश्रम करता है। यस्तु=जो कोई। विद्वान्=ज्ञानी मनुष्य। तस्य=उसको। एषः=योग से जानने योग्य। आत्मा=परमात्मा विश्वते=प्रवेश करता है या दिखाता है। ब्रह्म=सब से बड़े। धाम=सब के रहने के स्थान परमेश्वर को।

(अर्थ) जिस मनुष्य ने ब्रह्मचर्याश्रम धारण करके और कर्म और उपासना से आत्मिक वल प्राप्त नही किया, उस शक्ति से शून्य मनुष्य को परमात्मा के दर्शन नहीं हो सकते। और जो अभिमान और नित्य कर्मों से अचित है, उनको भी परमात्मा के दर्शन नही हो सकते। और न आडम्बर तप से कोई परमात्मा को जान सकता है। और न वैदिक धर्म के लक्षणों को त्याग कर स्वतंत्रता से उसको मान सकता है। यदि नियम पूर्वक ब्रह्मचारी बनकर, अज्ञान को नाश करके और ग्रहस्थाश्रम में परोपकार से मन को शुद्ध करके; इन उपायों से जो वेदों ने बताये है, जो विद्वान् पुरुषार्थ करता है, उसको परमात्मा अपने स्वरूप का दर्शन कराते है, अथवा वह ब्रह्मधाम में प्रविष्ट होता है। प्रयोजन यह है कि परमात्मा के जानने के लिये बहुत बड़ी शक्ति अर्थात् प्रकृति के विषयों की

तुलना करनी पड़ती है। प्रत्येक ओर से विषय आत्मा को अपनी ओर खींचते हैं, मन विषयों की ओर आत्मा को ले जाना चाहता है। यदि आत्मा में बल नहीं है, तो मन के पीछे लग जाता है। यदि ब्रह्म की उपासना के करने से आत्मा बलवान है, तो विषयों से हटकर परमात्मा की ओर लग जाता है।

मंत्र—संप्राप्यैनमृषयो ज्ञानतृप्ताः कृतात्मानो वीतरागाः प्रशान्ताः ते सर्वज्ञ सर्वतः प्राप्य धीरा युक्तात्मानः सर्वमेवाविशान्ति ॥५।५८॥

(शब्दार्थ) संप्राप्य=ठीक प्रकार प्राप्त करके। ऋषयः= वेद जाननेवाले ज्ञानी अथवा वैदिक कर्म के आचार्य। ज्ञानतृप्ता=बाहर के विषयों को त्याग करके, भीतर के ज्ञान से ही जो तृप्त। कृतात्मा=जिनकी आत्मा शुद्ध हो गई है अर्थात् ऊपर की उपाधि से पृथक् हो गये हैं। वीतरागाः= जिसका राग दूर हो गया है। ते=वह विद्वान् मनुष्य। सर्वज्ञ=सब के जाननेवाला, जग व्यापक परमेश्वर। सर्वतः=सब ओर से। प्राप्य=प्राप्त करके। धीरा=आत्म दर्शन के विचारनेवाले। युक्तात्मनः=जिनकी बुद्धि, मन परमात्मा से युक्त है। सर्वमेव=सर्व कारण का कार्यरूप जगत् को। अविशान्ति=स्वतंत्रता से घूमते अथवा प्राप्त होते हैं।

(अर्थ) उस परमात्मा को प्राप्त होकर वेद के जाननेवाले ज्ञानी मनुष्य जो ज्ञान से तृप्त हैं, जिनको किसी वस्तु की इच्छा शेष नहीं रही, जिनका आत्मा बाहर की सम्पूर्ण उपाधियों से शुद्ध हो गया है, जिनका राग द्वेष सब नष्ट हो चुका है, जिनके विषयो की चिता जड़मूल से जाती रही है। वह मनुष्य

इस सर्व व्यापक, सब के ज्ञाता, सब स्थान पर प्राप्त होकर आत्म विचार मे लगे हुए और बुद्धि को परमात्मा की ओर मिलाए हुए सब कारण का कार्यरूप जगत् में स्वतंत्रता से घूमते है। उनको कोई बन्धन नहीं होता और कही आने जाने में बाधा नहीं होती, इसलिये वह स्वतंत्रता से आनन्द भोगते हुए, शान्ति से विचरते हैं।

मंत्र—वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः संन्यास योगाद्यतयः शुद्धसत्त्वाः। ते ब्रह्मलोकेषु परान्त काले परामृताः परिमुच्यन्ति सर्वे ६। ५६॥

(शब्दार्थ) वेदान्त विज्ञान सुनिश्चितार्थाः=वेदान्त के पुस्तकों से उत्पन्न होनेवाला जो ज्ञान है अर्थात् उपनिषद् और वेदान्त-दर्शन से जो ज्ञान उत्पन्न होता है, उससे जिस ने अर्थों को निश्चय कर लिया है। संन्यास योगत्=या तो वैराग्य द्वारा अर्थात् प्रत्येक संसारिक वस्तु मे दोष मालूम करने से अथवा योगाभ्यास से मन को रोकने से। यतयः= जिन्होंने इन्द्रियो को वश मे कर लिया है, इससे। शुद्ध-सत्त्वाः=बुद्धि को सब प्रकार के दोषो से शुद्ध कर लिया है। ते=वह ज्ञानी पुरुष। ब्रह्मलोकेषु=ब्रह्मलोक अर्थात् ब्रह्म दर्शन मे। परान्तकाले=महा कल्प की सीमा तक अथवा पराविद्या से उत्पन्न हुए शुद्ध सुख के अन्त काल तक। परामृताः=पराविद्या से मुक्त हुवा जीव। परिमुच्यन्ति=उस अवस्था से छूट जाते है। सर्वे=सब।

(अर्थ) जो मनुष्य वेदान्त के ग्रंथों अर्थात् उपनिषदों और वेदान्त सूत्र इत्यादि के मन्त्रों और मन से जीवात्मा और परमात्मा और प्रकृति के स्वरूप को निश्चय कर चुके है, वह

जीवनमुक्त संन्यास अर्थात् वैराग्य द्वारा सब वस्तुओं में दोष देखने अथवा योग द्वारा मन ठीक करने से अथवा प्रकृति के त्याग और परमात्मा के योग से मन शुद्ध करके, इन्द्रियों को वश में करनेवाले महात्मा, ब्रह्मलोक में प्राप्त होकर अर्थात् दर्शन करके पराविद्या के उत्पन्न हुए ज्ञान के अन्त तक पराविद्या से प्राप्त मुक्ति को भोगते हैं और महाकल्प के पश्चात् फिर सब इस दशा से छूट जाते है।

प्रश्न—परान्तकाल का अर्थ ब्रह्मायु अथवा महाकल्प, अथवा पराविद्या से परान्तज्ञान का अन्तकाल किस प्रकार हो सकता है?

उत्तर—जब कि ब्रह्मलोक कार्य है जिसको शंकराचार्य इत्यादि विद्वानों ने स्वीकार किया है, तो कार्य की आयु भी होती है। क्योंकि ब्रह्म जो नित्य है उसकी आयु तो नहीं हो सकती, क्योंकि आयु अनित्य की होती है। नित्य पदार्थों में काल का व्यवहार नहीं हो सकता। इसलिये जिस जगह ब्रह्म की आयु लिखी है, इसका प्रयोजन ब्रह्मलोक आयु अथवा ब्रह्म दर्शन की आयु से है। और ब्रह्म-दर्शन पराविद्या से होता है, पराविद्या से प्राप्त ब्रह्म-दर्शन का अन्त परान्त कहलाता है।

मंत्र—गता.कलाः पञ्चदश प्रतिष्ठां देवाश्च सर्वे प्रति देवतासु। कर्माणि विज्ञानमयश्च आत्मा परेऽव्यये सर्वएकीभवन्ति॥७। ६०॥

(शब्दार्थ) गताः=प्राप्त करके। कलाः=शरीर से सम्बन्ध रखनेवाली प्राणेन्द्रियाँ। पञ्चदश=पाँच प्राण दश इन्द्रियाँ। प्रतिष्ठा=अपने कारण। देवाश्च=विषयों को प्रकाश करने वाली काल आदि इन्द्रियाँ। सर्वे=सब। प्रतिदेवतासु= आकाश आदि अपने-अपने कारणो में कर्माणि=कर्मों से

उत्पन्न हुए संस्कार। विज्ञानमयः= ज्ञान स्वरूप जिसको स्वाभाविक व नैमित्तिक दोनो ज्ञान हो। च=और। आत्मा= जीवात्मा। परे=सब से उच्च। अव्यय=नाश से रहित। सर्वे= सब। एकीभवन्ति=एकत्र होते है।

(अर्थ) मुक्त होने के पश्चात् जीवात्मा के साथ जो पंचादश कला अर्थात् पाँच प्राण और दश इन्द्रियाँ है, वह सब अपने-अपने कारणो मे अर्थात् पाँच भूतो के भीतर प्रवेश हो जाती हैं। और सूक्ष्म शरीर के कारण मे प्रविष्ट हो जाने से सम्पूर्ण कर्म भी नष्ट हो जाते हैं। कर्मों का सम्बन्ध तब ही तक है जब तक जीव को शरीर और अन्तःकरण में अहंकार है, अर्थात् उनको अपना मानता है। और जब यह अहंकार नष्ट हुआ, तो सारा सूक्ष्म शरीर अपने कारण में प्रविष्ट हो गया। और कर्मों का संस्कार भी सूक्ष्म शरीर के साथ ही गया। कर्मों के नाश होने पर जीवात्मा परमात्मा के साथ रहता है और उससे सुख भोग करता है।

प्रश्न—क्या मुक्ति के काल में जीव ब्रह्म का भेद दूर हो जाता है ?

उत्तर—जीव ब्रह्म में जो दूरी थी, वह दूर हो जाती है, क्योंकि न तो देश की दूरी थी न काल की, केवल ज्ञान की दूरी थी, वह दूर हो जाती है और ब्रह्म के गुण भी जीव में आ जाते हैं।

मंत्र--यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रेऽस्तंगच्छन्ति नामरूपे विहाय। तथा विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम ।८।६१॥

(शब्दार्थ) यथा = जैसे। नद्यः = नदी। स्यन्दमानः = बहते हुए। समुद्रे = समुद्र मे। अस्तंगच्छन्ति=प्रविष्ट होकर

अदृष्ट हो जाते है। नामरूपे=नाम और रूप। विहाय=त्याग कर अर्थात् जब नदी सागर में मिल जाती है, तब उनका नाम और रूप दोनो समाप्त हो जाते हैं। तथा=ऐसे ही। विद्वान्=ज्ञानी पुरुष। नामरूपात्=नाम रूप से। विमुक्त=छुटकारा पाकर। परात्परं=सूक्ष्म से सूक्ष्म बड़े से बड़ा चेतन्य से चेतन्य। पुरुषम्=सर्व व्यापक परमात्मा। उपैति=प्राप्त होता है। दिव्यम=प्रकाश स्वरूप को।

(अर्थ) जिस प्रकार नदियाँ बहती हुई समुद्र में जाकर अपने नाम रूप को त्यागकर समाप्त हो जाती हैं, ऐसे ही विद्वान् ज्ञानी पुरुष नाम रूप जो शरीर के हैं, जो उत्पन्न और नष्ट होनेवाले हैं। इन सब से छूटकर अर्थात् शरीर के अहंकार से पृथक् होकर मन और इन्द्रियो से सम्बन्ध छोड़कर अपने भीतर रहनेवाले परमात्मा को सूक्ष्म से सूक्ष्म, बड़े से बड़ा ज्ञानी, धनी से धनी, सुखी से सुखी, निदान प्रत्येक गुण में जो अन्तिम सीमा है, जिससे किसी गुण में कोई समानता नही कर सकता। बड़ा तो तब होता है, जब प्रकाश स्वरूप सब को प्रकाश करता है, इसको प्राप्त होता है।

प्रयोजन यह है कि जब तक शरीर मे अभिमान है, तब ही तक नाम रूप से सम्बन्ध है। क्योंकि सब नाम रूप इत्यादि जीव के नहीं, किन्तु शरीर के हैं। शरीर के नामरूप मे अभिमान करना अविद्या है। तब तक दुख है, जब परमात्मा के ज्ञान से यह अविद्या मिट गई, तो बाहर की ओर दृष्टि दूर हो जाने से, वृत्ति भीतर जाकर जो व्यापक परमात्मा है, उसको प्राप्त करती है।

मंत्र--सयो हवै तत्परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति। नास्याऽब्रह्मवित्कुले भवति। तरति शोकं

तरति पाप्मानं गुहाग्रन्थिभ्यो विमुक्तोऽमृतो भवति ॥ ६ । ६२ ॥

(शब्दार्थ) सयो ह्वै=जो परमात्मा के ज्ञान से पूर्ण हो जावे अर्थात् पूर्ण ब्रह्मज्ञानी हो। तत्=वह । परमम्=सब से उत्तम। वेद=जाना जाता है। ब्रह्मएवभवति=ब्रह्म के गुणोवाला हो जाता है अथवा ब्रह्म ही हो जाता है। न=नहीं। अस्य=उसके । अब्रह्मवित्=ब्रह्म को जाननेवाला। कुले= कुल मे । भवति=होता है। तरति शोकम्=सम्पूर्ण चिन्ता से मुक्त हो जाता है। तरति पाप्मानं=पापो से छूटता है। गुहाग्रन्थिभ्यो:=बुद्धि मे स्थिर जो राग द्वेष और अविद्या की गाँठ से । विमुक्त=छूटकर। अमृतः=मोक्ष । भवति= हो जाता है।

(अर्थ) जो उस परमात्मा को जो सब से उत्तम है, जान जाता है, वह परमात्मा के अनुकूल ही हो जाता है। उसके कुल में ब्रह्म के न जाननेवाले उत्पन्न नही होते। वह सब शोक, मोह से पार हो जाता है और सब पापो से पृथक् होकर और मन में जो राग द्वेष और अहङ्कार की गाँठ हैं, उन सब से विरक्त होकर मुक्त हो जाता है।

प्रश्न—ब्रह्म के अनुकूल हो जाता है, ऐसा क्यों कहा? मनुष्य तो यह कहते है कि वह ब्रह्म ही हो जाता है।

उत्तर—जो हो जाता है, वह ब्रह्म नहीं होता। जो नित्य एक रस है, वह ब्रह्म है। और जिसमें परिवर्तन है, वह ब्रह्म नहीं। अतः जो ब्रह्म के ज्ञान से होता है, उसमें ब्रह्मरूपता होती है। जिसका कपिलजी से पता लगता है।

मंत्र—तदेतदृचाभ्युक्तम् क्रियावन्तः श्रोत्रिया

ब्रह्मनिष्ठाः स्वयं जुह्वते । एकर्षिंश्रद्धयन्तस्तेषामेवैतां ब्रह्मविद्यां वदेत शिरोव्रतं विधिवद्यैस्तु चीर्णम ॥ १० । ६३ ॥

(शब्दार्थ) तदेतदृचाभ्युक्तम्=इस बात में वेद मंत्र प्रमाण क्रियावन्तः=वेदानुकूल क्रिया करनेवाला, वेदों के पढ़ने और पढ़ानेवाला ज्ञानी । ब्रह्मनिष्ठा=जिसका मन ब्रह्म में लगा हुआ है । स्वयम्=अपने आप । जुह्वते=फल की इच्छा से पृथक् होकर होम करता है । एकर्षिम्=जिस कर्म का एक ही वेद रूपी ऋषि बतानेवाला है । श्रद्धयन्तः= श्रद्धा के साथ । तेषाम्=उनको । एव=ही । एतान्=इस मुण्डक उपनिषद् नाम को । ब्रह्मविद्या=ब्रह्मज्ञान के विधान को । वदेत्=उपदेश करे । शिरोव्रतं विधिवत्=सब गुणों का धारण करना, सत् पुरुषों की प्रतिष्ठा करना यह व्रत वेदानुकूल है । यैस्तु=जिससे । चीर्णम्=वह उस पर चल सकेगी ।

(अर्थ) यह उपदेश वेदों में भी कहा है । जो वेदानुकूल कर्म करनेवाला है, जिसमें वेद का पठन-पाठन सीखा हो और धर्म जानता हो, जिसके चित्त में ब्रह्म जानने की पूर्ण इच्छा हो । अपनी इच्छा से वेदानुकूल होम करनेवाला, श्रद्धा से जिज्ञासु मनुष्यों को इस ब्रह्मविद्या का उपदेश करे । जिसने तप से अन्तःकरण शुद्ध किया । जिसका मन एकाग्र न हो, उनको उपदेश न करे । जिनका व्रत यह हो कि वह कभी धर्म के कामों को न छोड़ेंगे और दूषित न करेंगे और उनको उपदेश देने से सफलता होती है । जो अधिकारी नहीं, उनको उपदेश करने से सफलता नहीं होती ।

मन्त्र--तदेतत्सत्यमृषिरङ्गिरा पुरोवाच नैतद

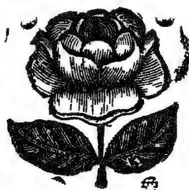
चीर्णव्रतोऽधीते । नमः परमऋषिभ्यो नमः परमऋषिभ्यः ॥ ११ । ६४ ॥

(शब्दार्थ) तत्=वह । एतत्=यह ब्रह्मविद्या । सत्यम्= जो तीन काल में रहता और रहनेवाली है । ऋषि=वेद के ज्ञाता । अंगिरा=अंगिरा ऋषि ने । पुरावाचः=पूर्व समय में उपदेश किया था । न=नहीं । एतद् चीर्णव्रतोऽधीते=यह ब्रह्म-विद्या नहीं पढ़ सकता । नम परम ऋषिभ्यो=परमात्मा और वेद के ज्ञानी को नमस्ते । नमः परमऋषिभ्य=वेद के तत्त्व को जाननेवालों को नमस्कार ।

(अर्थ) प्राचीन समय में यह ब्रह्मविद्या अंगिरा ऋषि ने ऋषियों को उपदेश की थी । और कहा था कि इस ब्रह्मविद्या को वह मनुष्य जिसने व्रत के आचरण करने का नियम नहीं रक्खा, न पढ़े । क्योंकि जो अधिकारी नहीं, उसको लाभ नहीं हो सकता । रोगी को औषधि से लाभ हो सकता है, जो रोगी नहीं, उसको औषधि हानिकारक है । अधिकार के विना ब्रह्म विद्या लाभ नहीं दे सकती । अन्त मे परम वेद के ज्ञाता ऋषियो को जिन्होंने इस ब्रह्मविद्या का प्रचार किया, बार-बार नमस्ते हो।

हिन्दी अनुवाद मुण्डकोपनिषद् का समाप्त हुआ।

ओ३म् शांतिः शांति शांति ।



* ओ३म् *

माण्डूक्योपनिषद्

का

हिन्दी अनुवाद

ब्रह्मविद्या में यह उपनिषद् सब से अधिक और अद्वैत-वादियो को प्रिय है। इस उपनिषद् पर गौड़पादाचार्यजी ने माण्डूक्यकारिका लिखी है, जो नवीन वेदान्त की मूल समझी जाती है। यद्यपि गौड़पाद की कारिका के दो वादों का अनुवाद प्रथम पेश कर दिया गया है। परन्तु यह आवश्यक मालूम पड़ता है कि इस उपनिषद् का शेष वादों के सहित अनुवाद पेश किया जावे। वेदान्त, विज्ञान के जाननेवालों के लिये उपनिषदों का अनुवाद भी इस रिसाला में क्रम से निकलता रहेगा।

मंत्र—ओमित्येतदक्षरमिदꣳ सर्वं तस्योपव्याख्यानं भूतं भवद्भविष्यदिति सर्वमोङ्कार एव। यच्चान्यत् त्रिकालातीतं तदप्योङ्कार एव ॥१॥

(शब्दार्थ) ओ३म्=परमात्मा। इति=जो। एतद्=यह। अक्षरम्=नाश रहित है। इदं=यह। सर्वं=सब। तस्य=इसका। उपव्याख्यान=प्रकाशित करनेवाली है। भूतं=भूत। भवत्=जो वर्त्तमान है। भविष्यत्=जो आनेवाला है। इति=जो। सर्वम्=सब

मन्त्र—सर्वꣳ ह्येतद् ब्रह्मायमात्मा ब्रह्म सोऽय-मात्मा चतुष्पात् ॥ २ ॥

(शब्दार्थ) सर्व=सब। हि=निश्चय करके। एतद्=यह। ब्रह्म=परमात्मा है। अयमात्मा=यह जो मेरे भीतर व्यापक है। ब्रह्म=परमात्मा है। सा=इसलिये। अयमात्मा=आत्मा। चतुष्पात्=चार भागो वाला है।

(अर्थ) यह सब जगत् जो कुछ दीख पड़ता है, ज्ञानियों की दृष्टि मे ब्रह्म की शक्ति प्रकाश होने से ब्रह्म ही है। योगी समाधि की दशा में अपने भीतर देखता हुआ परमात्मा के आनन्द को अनुभव करके कहता है कि यह जो मुझ में व्यापक है, यह ब्रह्म ही है। सो यह आत्मा चार पाद वाला है। ज्ञानी पुरुष जब संसार में जगत् के नियमानुकूल बनावट को देखता है, तो उसे विचार उत्पन्न होता है कि इसका सम्बन्ध ब्रह्म से है। जब स्वप्न की दशा मे देखता है, तो वहाँ भी ब्रह्म की महिमा का पता लगता है। जो वस्तु जागृत दशा में देखी होती हैं, उनके संस्कार जो मन में स्थित हो चुके, दीखते हैं। जब स्वप्न अवस्था गाढ़ निद्रा में सो जाता है, तब भी ब्रह्म से ही आनन्द प्राप्त करता है। जिससे संसार में रहते हुए भी दुख दूर हो जाते हैं। जब मुक्ति में शरीर त्याग देता है, तब भी ब्रह्म से ही आनन्द प्राप्त करता है। यह ब्रह्म के चार पाद हैं। दूसरी प्रकृति सत्य है, जीव सत् चित्त है, ब्रह्म सच्चिदा-नन्द और स्वतंत्र है। यह सत् चित्त आनन्द और स्वतंत्रता, ब्रह्म के चार पाद हैं। अब उपनिषद्कार इसको अपने शब्दों में बताते हैं।

मंत्र—जागरितस्थानोबहिःप्रज्ञः सप्तांगएकोनविंशतिमुखःस्थूलभुग्वैश्वानरः प्रथमः पादः ॥३॥

(शब्दार्थ) जागरितस्थानो=जागने की दशा अर्थात् स्थूल शरीर जिसका स्थान है। बहिप्रज्ञः=जिसकी बुद्धि बाहर की ओर काम करती है। सप्तांग=सात जिसके अंग है। एकोनविंशतिमुखः=उन्नीस जिसके मुख है। स्थूलभुग=जो स्थूल विषयों को भोगता है। वैश्वानर =जो सम्पूर्ण नरों को भोगनेवाला है। प्रथम पादः=प्रथम पाद है।

(अर्थ) अब ब्रह्म के चार पाद बताकर उसके विभाग बताते हैं, जिसमें जीव जागने की अवस्था में काम करता है। जिसकी बुद्धि बाहर की ओर लगी होती है, जिसके सात अंग और उन्नीस मुख हैं, जो स्थूल विषयों को भोगनेवाला है वह वैश्वानर नामवाला ब्रह्म का प्रथम पाद कहाता है।

प्रश्न—क्या निराकार चैतन्य के भी पाद हो सकते हैं?

उत्तर—यद्यपि ब्रह्म के पाद हो नहीं सकते, परन्तु समझाने के लिये कल्पना करते हैं, कि जीव की अवस्थाओं के विचार से ब्रह्मज्ञान भी चार भागों में होता है। जिस समय जीव जागता है और अपनी बुद्धि को बाहर के विषयों की ओर लगाता है। जब जीव का सात अंगों और उन्नीस मुखों से सम्बन्ध होता है। तब वह स्थूल शरीर का अभिमानी होने से स्थूल विषयों को भोगता है। इस दशा में जो किसी क्षण में जीव का ब्रह्म से सम्बन्ध होता है, उस ब्रह्म को वैश्वानर के नाम से उच्चारण करते हैं। क्योंकि उस समय जगत् के मनुष्य यिषय-भोग करते हुए ब्रह्म के आनन्द को विषयों का आनन्द विचार करते हैं, परन्तु वह आनन्द उत्तमानन्द नहीं होता।

प्रश्न—जीव के १६ मुख कौन से हैं ?

उत्तर—पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और पाँच कर्मेन्द्रियाँ और पाँच प्राण और मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार यह सब जीव के मुख कहाते हैं। क्योंकि जिस प्रकार मुख के द्वारा खाना खाते हैं, इसी प्रकार इन्द्रियों इत्यादि के विचार से जीव बाहर के सुखों को भोगता है। कभी उसको सुख अनुभव होता है, कभी दुख अनुभव होता है। यदि यह उन्नीस न हों, तो जीव बाह्य ज्ञान को प्राप्त नहीं हो सकता। केवल स्वाभाविक ज्ञान जो उसका नित्य है वही उसको ज्ञान होता है।

प्रश्न—अन्य शास्त्रों में सत्रह सूक्ष्म शरीर माने गये हैं। उन्नीस यहाँ पर बताये है, इनका कारण क्या है ? और सत्य कौन सा है ?

उत्तर—इसमें अन्तःकरण की चार वृत्तियाँ हैं। एक मनन-वृत्ति, जब कि अन्तःकरण के द्वारा किसी वस्तु के होने न होने, सत् असत्, सुख दुःख के कारण इत्यादि होने का अन्वेषण करता है, उस दशा का नाम मन है। दूसरे, जब अन्तःकरण इन्द्रियों के साथ बाह्य वस्तुओं का ज्ञान प्राप्त करता है, इसका नाम बुद्धि है। तीसरे, जब किसी वस्तु का चिन्तन करता है, जैसे कोई मनुष्य सोचता है कि इस समय मेरे पास १० रु० हैं, इससे व्योपार करके दश सहस्र कर लूंगा, पुनः एक लक्ष से एक वाटिका निर्माण कराऊँगा, इसमें सब देशों से एकत्र करके उत्तम-उत्तम फल पुष्पादि लगाऊँगा, फिर उन्हें आनन्द से खाऊँगा। इस प्रकार की दशा का नाम चिन्तन है। चौथे, जब अपनी सत्ता और उसके सम्बन्धी वस्तुओं को अपना जानता हुआ प्रकाश करता है, इस दशा का नाम अहंकार है। कति-पय आचार्यों ने मन और चित्त और बुद्धि और अहंकार को

एक मानकर, क्योंकि इनकी दशाओं में बहुत ही न्यून भेद है, एक स्वीकार कर लिया है। परन्तु वेदान्त शास्त्र ने जिसका उद्देश ही आत्मिक विद्या का प्रचार करना है, उस थोड़े से भेद से भी पृथकता प्रकट कर दी है, जिससे सूक्ष्म से सूक्ष्म भेद विदित हो जावे।

प्रश्न—अन्तःकरण अर्थात् मन, बुद्धि और चित्त, अहङ्कार नित्य हैं अथवा अनित्य?

उत्तर—इनके दो भेद है, एक शक्ति, दूसरे करण। शक्तियाँ सब जीवात्मा का स्वभाव (गुण) होने से नित्य है। और कारण सब कार्य होने से अनित्य है।

प्रश्न—जब कि जीव की शक्तियाँ न्यूनाधिक होती हैं, जिन से उनका विकार होना स्वीकार किया जाता है। और जो वस्तु विकारवाली होती है, वह उत्पन्न होनेवाली होती है। अतः वह शक्तियाँ उत्पन्न होनेवाली हैं। और शक्तियाँ जीवात्मा का स्वाभाविक गुण आपने स्वीकार किया है और विकार वाली नाशवान् है। इसलिये जीवात्मा भी कार्य और नाशवान् स्वीकार करना पड़ेगा।

उत्तर—जीवात्मा की शक्ति बढ़ती घटती नही, किन्तु उसके साधन अर्थात् करण बढ़ते घटते है। दूसरे, शक्ति का न्यूनाधिक जीव के विचार से होता है। अतः साधन और विचार में परिवर्तन है, न कि जीवात्मा की शक्ति में। यथा हम कभी तो बालकों के बल से तमाँचा मारते हैं, जब कि वह दोषी होते है। और कभी प्रेम से बहुत हलका मारते हैं, क्या इन दोनों दशाओ में हमारी शक्ति में भेद होता है अथवा विचार में। इसी प्रकार कभी नेत्र सूर्य की रोशनी में देखता है और पर्वत पर से देखता है, तो पचास और सौ कोस के वृक्ष तथा

मकान देख पड़ते हैं। और दीप के प्रकाश में अथवा कूप के भीतर घुसकर देखते है, तो घर और कूप के बाहर की वस्तु भी नहीं देख पड़ती। क्या यह साधनों की न्यूनाधिकता है, अथवा नेत्र की शक्ति की? अत साधन परिवर्तन होने से अनित्य हैं और शक्तियाँ एक रस अर्थात् नित्य है। कर्मेन्द्रियों की शक्ति साधनो और विचार से और ज्ञानेन्द्रियों के साधनों से न्यूनाधिक मालूम होती है। वास्तव में वह एक वर्ष है, इसलिये कार्यरूप न होने से शक्ति उत्पन्न होनेवाली नहीं और न उन शक्तियों का भण्डार जीवात्मा उत्पन्न होनेवाला है।

प्रश्न—बहुत से मनुष्य जीव को माया की कार्य और अविद्या उपाधि से अथवा इस अन्त करण से मिला हुआ मानते हैं। और अन्तःकरण के नाश से जीवात्मा का नाश स्वीकार करते हैं?

उत्तर—यह ब्रह्मविद्या अथवा वेदान्त-शास्त्र के अज्ञान के कारण है। क्योंकि माया का कार्य अन्तःकरण उपाधि किसने बनाया और किसके वास्ते बनाया। यदि कहो ब्रह्म ने अपनी माया से बनाया तो प्रश्न यह होता है कि ब्रह्म स्वाभाविक कर्ता है अथवा नैमित्तिक है। यदि कहो स्वाभाविक कर्ता है तो जीव नित्य हो जावेगा, इसका नाश मानना अविद्या होगी। क्योंकि ब्रह्म अपने स्वभाव से अन्तःकरण बनाता ही रहेगा और उस उपाधि से ढँपा हुआ होने से जीव भी बना रहेगा। यदि ब्रह्म नैमित्तिक कर्त्ता है, तो इरादा दो प्रकार का होता है। लाभदायक और अप्राप्ति वस्तु को प्राप्त करने का और प्राप्त हानिकारक वस्तु को नाश करने का। अब जिस वस्तु अर्थात् अन्तःकरण को ब्रह्म ने उत्पन्न करने का विचार किया वह उसके लिये लाभदायक होना आवश्यक है। लाभदायक वह वस्तु होती है, जो दोष को दूर करे अथवा त्रुटि को पूरा करे। अब

ब्रह्म ने अपने किस दोष को दूर करने और किस कमी को पूरा करने के लिये अन्तःकरण बनाया। इसका पता नहीं लग सकता, क्योंकि ब्रह्म मे न तो कमी है और न कोई दोष है। जब अन्तःकरण के बनाने की आवश्यकता नही मालूम पड़ती, तो विचार से यह कार्य उपाधि उत्पन्न नहीं हो सकती, जिससे जीव का उत्पन्न होना और नाश होना सम्भव हो। अतः जीव को अनादि मानना ही ठीक है। जीव बिना अन्तःकरण के न तो अपने स्वरूप को जान सकता है और न प्रेम के आनन्द को प्राप्त करने के जो साधन हैं, वह कर सकता है। इसलिये जीवो के लिये माया से अपनी दया के कारण अन्तःकरण और सब जगत् बनाता है।

प्रश्न—ब्रह्म में अन्तःकरण के न होने से माया के गुणों को भोगने की शक्ति न थी, इसलिये उसने अन्तःकरण को बनाकर अपनी इस कमी को पूरा किया।

उत्तर—अन्तःकरण से सर्वज्ञ ब्रह्म अल्पज्ञ हो गया, जिससे ब्रह्म में दोष उत्पन्न हो गया और कोई काम दोष बढ़ाने को नही किया जाता। अत यह विचार सत्य नही। दूसरे भोग सुख, दु ख बुद्धि का नाम है। दुःख भोगने की तो किसी की इच्छा नहीं होती और सुख प्रकृति का गुण नहीं। इसलिये दुःख स्वरूप प्रकृति के गुणो के भोगने के योग्य न होना उत्तमता है, कमी नहीं। अतः उत्तमता को दूर करने और दोष को उत्पन्न करने के लिये कोई बुद्धिमान मनुष्य भी काम नहीं करता। तो सर्वत्र ब्रह्म किस प्रकार कर सकता है। अत ब्रह्म को जीव बनाना अपने को दोषी बनाना है, जो असम्भव है। ऐसी अविद्या ब्रह्म में नहीं आ सकती, जिससे वह आनन्द स्वरूप होकर दुःख भोगने की इच्छा करे, सर्वज्ञ होकर अल्पज्ञ बन जावे। क्योंकि

ऐसा मानना वेद विरुद्ध है, इसलिये सत्य नहीं। दूसरे ब्रह्म ने अन्तःकरण किससे बनाया। यदि कहो माया से, तो माया गुण है, अथवा द्रव्य और नित्य है अथवा अनित्य। यदि कहो नित्य है, तो अद्वैत सिद्धान्त गिर गया। क्योंकि ब्रह्म के साथ माया भी नित्य हो गई। यदि कहो अनित्य है, तो उसको ब्रह्म ने किससे बनाया। यदि माया का उपादान कारण कुछ और बताना होगा, तो इसके सम्बन्ध में भी यही शङ्का होगी। यदि माया को ब्रह्म का गुण मानकर अद्वैत बताओगे, तो गुण से गुणी उत्पन्न नहीं हो सकता। इसलिये संसार में एक भी उदाहरण नहीं मिल सकता, जहाँ गुण से गुणी उत्पन्न होना दृष्टि पड़े।

प्रश्न—क्या तुम ब्रह्म को अद्वैत नहीं मानते?

उत्तर—हम ब्रह्म को अद्वैत इस प्रकार मानते हैं कि वह नित्य है। उसका ऐश्वर्य प्रकृति अथवा माया भी नित्य है। किसी स्वामी की सम्पत्ति उसको मिल नहीं सकती। इसलिये प्रकृति की विद्यमानता में उसका स्वामी ब्रह्म अद्वैत ही बना रहता है। दूसरे, जो ब्रह्म राजा है, जीव उसकी प्रजा है। किसी राजा की प्रजा भी उसके समान नहीं कही जा सकती, किन्तु सम्पत्ति और प्रजा राजा को वास्तव में राजा सिद्ध करने-वाली होती हैं। नहीं तो बिना सम्पति और प्रजा के राजा शतरंज के खेल से अधिक क्या मान रख सकता है। यदि राजा नित्य होगा, तो उसकी सम्पति और प्रजा भी नित्य होगी। जिसकी सम्पति और प्रजा नित्य न हो, वह बनावटी राजा होगा। चाहे वह राज उसने स्वयम् उत्पन्न किया हो परन्तु नित्य राजा कभी नहीं होगा।

प्रश्न—यह सब विद्वानों का एक सिद्धान्त है कि ब्रह्म

सजाति, विजाति और स्वगति भेद से शून्य है। यदि जीव प्रकृति को ब्रह्म से अलग सत् माना जावे, तो विजाति भेद तो मौजूद रहा, जिससे सिद्धान्त बिगड़ जाता है।

उत्तर—प्रथम तो ब्रह्म में जाति ही नही, क्योंकि जाति बहुतो मे होती है। और ब्रह्म एक है, इसमें जाति का लक्षण पाया नही जाता। दूसरे जाति का चिन्ह आकृति है और ब्रह्म निराकार है, इसलिये इसमें जीव मौजूद नहीं। जब ब्रह्म में जाति नही, तो समान जाति और पृथक् जाति हो नही सकती। तीसरे विजाति का अर्थ यहाँ पृथक् जाति नही, किन्तु विरुद्ध जाति है। और जीव प्रकृति ब्रह्म की प्रजा और सम्पति है, इस कारण विरुद्ध है। नहीं तो विजाति वस्तु किस प्रकार हो सकती है।

प्रश्न—सात अङ्ग कौन से है?

उत्तर—अग्नि इसका घर, चन्द्र-सूर्य नेत्र, वायु-प्राण, वेद उसकी वाणी अथवा रसना, दिशा श्रोत्र, आकाश-नाभि, पृथिवी पाँव है।

प्रश्न—अग्नि को सिर और पृथिवी को पाँव क्यो कहा?

उत्तर—अग्नि सतोगुणी होने से सब से ऊपर का भाग अर्थात् सिर है अर्थात् सतोगुण जीव मनुष्य जाति का सिर अर्थात् सब से उच्च है। और पृथिवी तमोगुण है और पाँव सब से नीचे हैं। इस कारण बताया कि तमोगुणी जीव सब से नीचे है, रजोगुणी और श्रोत मध्यम है।

मंत्र—स्वप्नस्थानोऽन्तः प्रज्ञः सप्ताङ्ग एकोनविंशतिमुखः प्रविविक्तभुक्तैजसो द्वितीयः पादः ॥ ४ ॥

(शब्दार्थ) स्वप्नस्थान=स्वप्न अवस्था। अन्तः प्रज्ञ भीतर की ओर है बुद्धि जिसकी। सप्ताङ्ग=सात अङ्ग एकोनविंशतिमुखः=उन्नीस जिसके मुख हैं। प्रविविक्तभुक् बाह्य विषयों के न होने पर भोगनेवाला है। तैजसः=तैजस नाम वाला आत्मा। द्वितीयपादः=दूसरा पाद है।

(अर्थ) जिस अवस्था में जीवात्मा स्वप्न देखता है, उस समय उसकी बुद्धि अर्थात् मन के जाननेवाली वृत्ति अर्थात् इसका स्वाभाविक ज्ञान संसार के बाह्य विषयों से सम्बन्ध रखता हुआ सात अंगों और उन्नीस मुखों से जिनका उपर्युक्त वर्णन हुआ, उन्हीं पदार्थों को भोगता है कि जिनके संस्कार जागने की दशा में मन पर पड़ गये हैं। इस अवस्था में इसका नाम तैजस कहलाता है और यह दूसरा पाद है।

प्रश्न—क्या स्वप्न अवस्था में वही पदार्थ दृष्टि पड़ते हैं जिनके संस्कार जागने की अवस्था में पड़ गये हैं, अथवा अन्य वस्तु भी दृष्टि पड़ सकती हैं?

उत्तर—जागृत अवस्था में तो जीवात्मा बाह्य पदार्थों के फोटू उतारता है। जिस प्रकार फोटूग्राफर के कैमरे में दो शीशा होते हैं, एक बाहर का शीशा दूसरा भीतर का। और प्रकाश की किरणें उस वस्तु के प्रतिबिम्ब को प्रथम शीशा पर डालती है, तो वह उलटा पड़ता है। जब दूसरे शीशा पर जाता है, तो सीधा हो जाता है। इसी प्रकार जीवात्मा फोटूग्राफर के लिये परमात्मा ने यह मनुष्य का शरीर कैमरा बना दिया है। जिसके बाहर के शीशा तो इन्द्रियाँ हैं और भीतर का शीशा मन है। इन्द्रियों का सहायक प्रकाश उनके विषय का फोटू इन्द्रियों पर डालता है, जिससे वह उलटा होता है, और मन पर जाकर सीधा हो जाता है। जब जीवात्मा बाहर

बाहर का शीशा और मन भीतर का शीशा है। इस कारण भीतर स्थान में बुद्धि का काम करना बताया है।

प्रश्न—जागृत और स्वप्न अवस्था में क्या अन्तर है?

उत्तर—हम ऊपर कथन कर आये हैं, कि जागृत अवस्था मे बाहर की वस्तुओं का फोटू लेता और उससे दुःख सुख अनुभव करता है। और स्वप्न अवस्था में विना बाहर की वस्तु होने के, भीतर ही फोटू को देखता है और इससे दुःख सुख मानता है। अतः जीव की इस अवस्था को जब बाहर के विषय की उपस्थित में सुख दुख को अनुभव करता है, पशु कहते हैं। और जब बाहर के विषयो की अनुपस्थिति में सुख दुःख को भोगता है, उस समय तैजस कहाता है।

प्रश्न - स्वप्न मे जिन वस्तुओ को भोगते है, उसमें तो प्रभाव शरीर पर भी पड़ जाता है। लेकिन फोटू के देखने की दशा मे प्रभाव शरीर पर नहीं पड़ता?

उत्तर—यदि कभी स्वरूपवान का फोटू देखते हैं, तो प्रसन्नता, और निकृष्ट आकृति का फोटू देखने से घृणा उत्पन्न होती है। सहस्रों मनुष्य फोटू देखने से ही मस्त हो गये। इस कारण जो प्रभाव स्वप्न से शरीर पर मन के द्वारा पड़ता है, वही फोटू के देखने से भी पड़ता है।

मंत्र—यत्र सुप्तो न कञ्चन कामं कामयते न कञ्चन स्वप्नपश्यति तत्सुषुप्तम्। सुषुप्तस्थान एकीभूतः प्रज्ञानघन एवानन्दमयो ह्यानन्दभुक् चेतोमुखः प्राज्ञस्तृतीयः पादः ॥ ५ ॥

(शब्दार्थ) यत्र=जिस अवस्था में। सुप्तो=सोया हुआ।

न=नहीं। कञ्चन कामं=किसी काम को। कामयते=इच्छा करता। न=नहीं। कञ्चन=कोई। स्वप्नं=स्वप्न। पश्यति=देखता है। तत्=वह। सुषुप्तम्=सुषुप्ति की अवस्था है। सुषुप्तस्थान=उस स्थान पर। एकीभूतः=समस्त ज्ञान एकत्रित होकर। प्रज्ञान घनः=अँधेरी रात्रि की भाँति विवेक रहित ज्ञान। एव=है। आनंदमयः=आनंद युक्त। आनंदभुक्=आनन्द को भोगता है। चेतोमुखः=केवल स्वाभाविक ज्ञान ही जिसका मुख है। प्राज्ञः=प्राज्ञ नाम वाला। तृतीय पादः=यह तीसरा पाद है।

(अर्थ) जब यह जीवात्मा बाहर के ज्ञान से पृथक् होकर ऐसी अवस्था में चला जाता है, जहाँ उसकी कोई इच्छा शेष नहीं रहती और न किसी प्रकार का स्वप्न देखता है। अर्थात् पूर्व देखे हुए ज्ञान का भी कुछ प्रभाव शेष नहीं रहता। अर्थात् बाहर के ज्ञान से निःसम्बन्ध होकर और बाहर के ज्ञान के कारण इन्द्रियों और मन के सम्बन्ध को त्याग कर जब जीव भीतर की ओर लग जाता है, उस अवस्था का नाम सुषुप्ति है। उस अवस्था में सब बाह्य ज्ञानों के दूर हो जाने से, विवेक से रहित ज्ञान, जैसे अँधेरी रात में नेत्र लाल काले रूप के विवेक से रहित होकर अँधेरा ही अँधेरा देखते हैं। इसी प्रकार जीवात्मा भीतर देखता है, उस समय एक ही दृष्टि आता है। और आनन्द स्वरूप परमात्मा के आनन्द को जो बाहर की ओर लग जाने से दूर हो गया था भोगता है। उस समय भोगने का साधन केवल स्वाभाविक ज्ञान जो जीवात्मा का जातीय गुण है, प्रस्तुत होता है। कोई अन्य यन्त्र मन इत्यादि नहीं होता। इस अवस्था में जीव का नाम प्राज्ञ होता है। यह तीसरा पाद है।

प्रश्न—क्या स्वप्न की दशा में जीवात्मा आनन्द भोगता है ?

उत्तर—अवश्य, तीन दशाओं में जीव को ब्रह्म का गुण आनन्द मिलता है। एक समाधि की अवस्था में, दूसरे सुषुप्ति की अवस्था में, तीसरे मुक्ति अवस्था में। अतएव महर्षि कपिलजी सांख्यदर्शन में लिखते हैं–' समाधि सुषुप्ति मोक्षेषु ब्रह्म रूपिता।" अर्थात् समाधि, सुषुप्ति और मुक्ति इन तीन अवस्थाओं में सत्‌चित्त स्वरूप आत्मा ब्रह्म के गुण नैमित्तिक आनन्द से ब्रह्मरूपिता अर्थात् सच्चिदानन्द अवस्था को प्राप्त होता, अर्थात् उस अवस्था में जीव भी सच्चिदानन्द कहाता है। जैसे लोहे का गोला अग्नि में पड़ने से ऊष्ण होकर अग्नि के गुणवाला हो जाता है, तो उसमें अग्नि का गुण जलाना इत्यादि मौजूद होते है, परन्तु अपने गुण भार इत्यादि भी उपस्थित रहते हैं। इसी प्रकार जीव में ब्रह्म का गुण आनन्द आ जाता है, परन्तु उसका अपना गुण अल्पज्ञता भी मौजूद होती है। जिस प्रकार अग्नि रूप लोहे के गोले को अग्नि कह सकते हैं। ऐसे ही समाधि की अवस्था में जीव को ब्रह्म भी कह सकते है। परन्तु वह कहना उपचार से होता है, वास्तव में नहीं।

प्रश्न—समाधि, सुषुप्ति और मुक्ति के स्वरूप में क्या अंतर है ?

उत्तर—जब ज्ञान सहित और शरीर रहित ब्रह्म का जीव से सम्बन्ध होता है, उस अवस्था का नाम समाधि है। और जब शरीर सहित और ज्ञान रहित जीव का ब्रह्म से सम्बन्ध हो, उस अवस्था का नाम सुषुप्ति है। और शरीर रहित और ज्ञान सहित जीव का ब्रह्म से सम्बन्ध हो, उस अवस्था का नाम मुक्ति है।

प्रश्न—क्या स्थूल शरीर की विद्यमानता में ब्रह्म से जीव का सम्बन्ध हो सकता है?

उत्तर—जब तक स्थूल शरीर का जीव को अभिमान है, तब तक तो ब्रह्म से सम्बन्ध हो नहीं सकता। परन्तु समाधि और सुषुप्ति में जब अभिमान नहीं रहता, तो ब्रह्म से सम्बन्ध हो जाता है। क्योंकि जीव को बाह्य वस्तुओं से सम्बन्ध करानेवाला अहंकार ही है, और समाधि, सुषुप्ति की दशा में अहंकार विद्यमान नहीं होता। जब अहंकार न हो, तो उसका प्रकृति से सम्बन्ध नहीं हो सकता। जब प्रकृति से सम्बन्ध नहीं, तो ब्रह्म के साथ सम्बन्ध अवश्य होगा। क्योंकि चेतन जीवात्मा विना सम्बन्ध के नहीं रहता।

प्रश्न—क्या सुषुप्ति में ज्ञान रहता है? जिससे वह आनन्द भोगता है।

उत्तर—जीवात्मा का स्वाभाविक गुण ज्ञान है, वह जीव से किस प्रकार पृथक् हो सकता है। जिस प्रकार अग्नि से उष्णता का पृथक् होना असम्भव है, ऐसे ही जीव से ज्ञान का पृथक् होना भी असम्भव है। यदि बाहरी ज्ञान के साधन होंगे, तो बाहर की चीजों को जानेगा; यदि साधन न होंगे, तो अन्दर की चीज़ों को जानेगा। अतः जब जाग उठता है, तो कहता है कि आज मैं सुख से सोया। जिससे स्पष्ट विदित होता है कि उसको इस बात का ज्ञान था कि सुख है। यद्यपि बाहरी पदार्थों से बे-खबर होता है, परन्तु ज्ञान से शून्य नहीं।

प्रश्न—बहुत मनुष्य कहते हैं कि सोने के समय ज्ञान नहीं होता। जब जाग कर देखता है, तब कहता है। क्योंकि जागने से पूर्व कोई नहीं कहता।

उत्तर—यदि ऐसा स्वीकार किया जावे, तो मूर्खता ही

कहलावेगी। क्योंकि जिस समय ज्ञान नहीं था, उस समय सुख था और जब ज्ञान हुआ, तब सुख नही। तब सुख से सोने को किस प्रकार प्रकट कर सकते है। ऐसा कहनेवाले महाशय सुख के स्वरूप से भी अनभिज्ञ है। क्योंकि सुख दुःख दोनों बुद्धि अर्थात् ज्ञान हैं। यदि ज्ञान न हो, तो सुख कह ही नही सकते।

प्रश्न—फिर योगदर्शन में क्यो लिखा है कि ज्ञान की अभाव वृत्ति का नाम निद्रा है। क्या पातञ्जलि को भी सुख का स्वरूप विदित नही था?

उत्तर—योगदर्शन के कर्त्ता का आशय बाह्य ज्ञान से है, अतः निद्रा की अवस्था मे बाहरी ज्ञान का अभाव होता है।

प्रश्न—इसका क्या प्रमाण है कि बाहर का ज्ञान नहीं होता और भीतर का ज्ञान होता है?

उत्तर—प्रथम तो जीवात्मा का चेतन होना ही इसका प्रमाण है। क्योंकि चेतन किसी समय भी ज्ञान से शून्य नहीं रह सकता। द्वितीय, सुषुप्ति में सुख होना भी इस बात का प्रमाण है कि सुखानुकूल ज्ञान का नाम है। तृतीय, जाग कर यह कहना कि आज ऐसा सुख से सोया कि कुछ खबर भी नहीं रही। जिससे स्पष्ट विदित ह कि बाहर की तो बेखबरी थी और सुख की सुधि थी। अब जीव की तीनो अवस्थाओं का कथन करके जिससे भीतर जाकर जीव समाधि, सुषुप्ति और मुक्ति में आनन्द को प्राप्त होता है, उस ब्रह्म का कथन करते हैं।

मंत्र—एष सर्वेश्वर एष सर्वज्ञ एषोऽन्तर्याम्येष योनिः। सर्वस्य प्रभवाप्ययौ हि भूतानाम्॥६॥

(शब्दार्थ) एषः=यह। सर्वेश्वरः=सब का स्वामी। एषः=यही। सर्वज्ञः=सब कुछ जाननेवाला। एषः=यह।

अन्तर्यामी=सब के भीतर रहकर नियमानुकूल चलानेवाला। एषः=यही। योनि सर्वस्य=सब जगत् का कारण। प्रभव= उत्पन्न होने। अप्ययौ=सुख पाने। भूतानाम्=भूतों के।

(अर्थ) यह परमात्मा सब का स्वामी है, जो सब के कर्मों को जाननेवाला है। जो सर्व व्यापक होकर उनको (सब को) नियमानुकूल चला रहा है, यही सबका निमित्त कारण है और अपने ऐश्वर्य से ही कुल जगत् को बनाता है और सम्पूर्ण जीव उससे सुख पाते हैं। जब जीव अपनी तीन दशाओं से पार होकर, भीतर जाकर परमात्मा के दर्शन करता है। तब उसको परमात्मा के आनन्द की प्राप्ति होती है। तब वह यह कहता है कि यह जो मेरा अन्तर्यामी है, यही सब का स्वामी, यही सब का ज्ञाता, यही सब जगत् का अपनी सामिग्री से उत्पादक है। इस से सब को आनन्द प्राप्त हो सकता है।

प्रश्न—प्रायः मनुष्य कहते हैं कि सुषुप्ति अवस्था का अभिमानी जो जीवात्मा है, वही सर्वज्ञ ईश्वर इत्यादि है।

उत्तर—ऐसा मानना ठीक नहीं, क्योंकि उस दशा में किस का अन्तर्यामी होगा। सुषुप्ति की दशा में भी अन्तर्यामी होना आवश्यक है, उस समय किसका अन्तर्यामी होगा, क्योंकि बाहर के विषयों से तो कोई सम्बन्ध नहीं। अतः सुषुप्ति की दशा में जीव का अन्तर्यामी है। पूर्व तो यह संदेह हो सकता था कि आनन्द बाहरी विषयों से मिलता है। जाग्रत में बाहरी विषय और स्वप्न में उसका प्रतिबिम्ब आनन्द का कारण कह सकते थे। अतः सुषुप्ति की दशा में न तो बाहर के विषय ही प्रस्तुत है, न उनका प्रतिबिम्ब प्रस्तुत है। अब जिससे जीव आनन्द को प्राप्त होता है, वह कोई बाहरी वस्तु नहीं, किन्तु वह भीतर वास करनेवाला है। उसी के यह लक्षण प्रकट किये है।

प्रश्न—यहाँ तो ओंकार जो परमात्मा है उसके चार पाद बताये है, जिससे जीव ब्रह्म का भेद प्रकट किया है। तुम और ही ओर चल रहे हो।

उत्तर—आत्मा शब्द का अर्थ है व्यापक। उसकी जो चार सीढ़ियाँ है, वह आत्मा के चार पाद। पहले जागृत अवस्था मे जिस स्थूल शरीर का अभिमानी जीवात्मा है, उसके भीतर जो व्यापक है, वह सूक्ष्म शरीर है। सूक्ष्म शरीर के सूक्ष्म होने से उसमें व्यापक कारण शरीर है। कारण शरीर से सूक्ष्म होने के कारण व्यापक जीवात्मा है। और जीवात्मा से सूक्ष्म होने के कारण व्यापक परमात्मा है। जो मनुष्य आत्मज्ञान के तीन मार्गों को व्यतीत करके चौथे मार्ग में पहुँचते है, तो उनको जीवात्मा अर्थात् अपने भीतर परमात्मा के दर्शन होते हैं। और उससे वह आनन्द को प्राप्त करके कहते है कि यह जो मुझ में व्यापक है, वह ब्रह्म है। तीन मार्गों में तो जीव व्यापक है, चौथे मार्ग में जीव व्याप्य और ब्रह्म व्यापक है। यद्यपि जीव ब्रह्म मे कोई दूरी नहीं होती, इस कारण अभेद कहते है। यथा नेत्र मे अञ्जन है, अब नेत्र और अञ्जन में दूरी नहीं। क्योंकि दूरी तीन प्रकार की होती है, एक देश की, दूसरे काल की, तीसरे ज्ञान की दूरी। नेत्र और अञ्जन, देश और काल की दूरी से तो पृथक् होने से केवल ज्ञान की दूरी है। जब जीवात्मा अपने ज्ञान को बाहर की ओर से हटाकर भीतर देखता है, वह ज्ञान की दूरी भी दूर हो जाती है। इसी दूरी के दूर करने का नाम अभेद ज्ञान है; न कि जीव ब्रह्म को एक मानने का।

प्रश्न—जीव ब्रह्म के दो होने में क्या प्रमाण है?

उत्तर—वेदान्त शास्त्र में जीव ब्रह्म के दो होने में इतने प्रमाण दिये हैं कि जिससे किसी मूर्ख को भी इनका एक होना

मालूम नही होता। प्रथम ब्रह्म का लक्षण सच्चिदानन्द ही इस बात का प्रमाण है। द्वितीय, ब्रह्म का जीव के भीतर होना जैसा कि बृहदारण्यकोपनिषद् की श्रुति से प्रकट होता है। तृतीय, ब्रह्म के चार पाद होना। चतुर्थ, वेदान्त के सूत्रों में स्थान-स्थान पर व्यासजी का यह बताना कि श्रुति ने जीव ब्रह्म का भेद बताया है। जिसको हम वेदान्तदर्शन के भाष्य मे प्रकट कर चुके है। इस कारण अभेद पाद का तात्पर्य इतना ही है कि जीव ब्रह्म में दूरी नहीं। जिसके लिये किसी पैग़म्बर (दूत) की आवश्यकता पड़े। किन्तु अन्तःकरण के दर्पण को शुद्ध करके भीतर देखने की आवश्यकता है।

प्रश्न—ब्रह्म के लिये इतने विशेषण क्यो दिये ?

उत्तर—पहले कहा यह ब्रह्म सब का स्वामी अथवा ईश्वर है। परन्तु वेदान्तदर्शन में मुक्त जीव का नाम भी ईश्वर स्वीकार किया गया है। फिर जीव को अल्पज्ञ समझ कर सर्वज्ञ बताया। फिर शका हुई कि मनुष्य योगियों को भी सर्वज्ञ कहते हैं। इस कारण अन्तर्यामी कहा। क्योंकि किसी जीव के भीतर कोई दूसरा जीव नहीं जा सकता। यदि अन्तर्यामी शब्द न देते, तो उपाधि कृत भेषवालो का मत बन सकता था। परन्तु श्रुति ने अन्तर्यामी शब्द देकर जीव ब्रह्म को एक मानने वालों का गढ़ ही गिरा दिया। यहाँ तक कि आनन्दगिरि जैसे अद्वैतवादियों को मानना पड़ा कि किसी दूसरे को भीतर प्रवेश होकर नियमानुकूल चलाने की सामर्थ्य नहीं। फिर इस बात को स्वीकार करने के लिये सारे जगत् का कारण बता दिया, जिससे किसी को जीव-भ्रम न रहे। क्योंकि वेदान्तदर्शन में स्थान-स्थान पर सिद्ध कर दिया है कि जीव अथवा प्रकृति जगत् कर्त्ता नहीं। इसके पश्चात् यह कह कर कि उससे

आनन्द को प्राप्त करते हैं, अतः आनन्द स्वरूप तो अतिरिक्त ब्रह्म के कोई भी नहीं। जिस पर वेदान्त के प्रथम पाद में अत्यन्त सबल विचार किया गया है। क्या इन विशेषणों को देखकर भी जीव ब्रह्म के एक होने का ख्याल रह सकता है? निस्संदेह जो नेत्रों में पट्टी बाँधकर इसको देखते हैं, तो इसका उपाय क्या हो सकता है। अब उस ब्रह्म को जीव से पृथक् करते हैं।

मंत्र—नान्तः प्रज्ञं न बहिः प्रज्ञं नोभयतः प्रज्ञं न प्रज्ञान घनं न प्रज्ञं नाप्रज्ञम्। अदृष्टम-व्यवहार्यमग्राह्यमलक्षणमचिन्त्यमव्यपदेश्यमे-कात्मप्रत्ययसारं प्रपञ्चोपशमं शान्तं शिवम-द्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते स आत्मा स विज्ञेयः ॥ ७ ॥

(शब्दार्थ) नान्तः प्रज्ञं=भीतर की ओर ज्ञान नहीं। न वहिः प्रज्ञं=बुद्धि नहीं जाती। नोभय प्रज्ञं = न दोनों ओर भीतर बाहर बुद्धि जाती है। न प्रज्ञान घनं= न अँधेरे की ओर एक ही ज्ञान होता है। नः=नहीं। प्रज्ञं=प्राप्त किया हुआ ज्ञान। न=नहीं। अप्रज्ञ=ज्ञान की जड़ता। अदृष्टम्=नेत्रों के देखने योग्य नहीं। अव्यवहार्यम्=व्यवहार दशा से रहित। अग्रह्यम्=पकड़ने योग्य नहीं। अलक्षणम्=जिसका लक्षण इन्द्रियों से जाना नहीं जाता। अचिन्त्यम्=मन की कल्पना शक्ति जिसकी सीमा को नहीं पा सकती। अव्यप-देश्यम्=जो किसी नाम के कहने से ध्यान मे नहीं आता। एकात्म प्रत्ययसारं=जिसको एक आत्मा ही जानने का अधिकारी है। प्रपंचोपशमं=बाहर पंच भौतिक ज्ञान से एक

होकर। शान्तं=जो शान्त अर्थात् विक्षेप रहित है। शिवम्=जो कल्याणकारी और शरीर, मन और प्राणों के धर्म से रहित। अद्वैतं=अनुपम। चतुर्थं=चौथत। मन्यन्ते=विचार करते या मानते है। स आत्मा=वह जीवात्मा है। स=वह। विज्ञेयः=जानने योग्य है।

(अर्थ) परमात्मा सब से सूक्ष्म है, इस कारण इसके भीतर कोई पदार्थ नहीं। अतः वह भीतर किसको देख सकता है, जिससे उसको भीतरी ज्ञान हो? और परमात्मा के सर्व व्यापक होने स उससे कोई वस्तु बाहर नहीं, जिसको वह बाह्य ज्ञान के द्वारा देखे और बाहरी बुद्धि को प्राप्त करे और जब उसके भीतर बाहर कुछ नहीं, तो दोनो ओर जानेवाली बुद्धि भी उसकी नहीं हो सकती। और न अँधेरे में केवल उसको अँधेरा ही दृष्टि पड़ता है, जिसको एक ही प्रकार का ज्ञान कहा जावे। और न उसे नैमित्तिक ज्ञान होता है और न कोई वस्तु ऐसी है जिसको वह न जानता हो। क्योंकि उसको पूर्व सर्वज्ञ बता चुके है। अतः वह क्या है, जो इन्द्रियों से नहीं जाना जाता? नाम रूप के प्रत्यक्ष सम्बन्ध से उसमें व्यवहार दशा नहीं हो सकती। उसका कोई लक्षण ही ऐसा नही हो सकता जो इंद्रियों से प्रत्यक्ष हो सके। मन से कितना ही विचार किया जावे, उसके अनन्त गुणों की सीमा नहीं। वह ऐसी आकृति नही कि जो केवल नाम लेने से ही उसका स्वरूप स्मरण हो जावे। उसको केवल जीवात्मा ही जान सकता है। जब कि इन्द्रियों से अनुभव होने योग्य बाह्य वस्तुओं से मन को पृथक् करले और उपासना के द्वारा चंचल मन को शान्त और स्थिर करे, वह कल्याणकारक क्षुधा, तृषा, शोक, मोह, बुढ़ापा, मौत से रहित और अनुभव है। जिसके समान कोई नही हुआ है,

न होगा। उसको चतुर्थ पाद मानते हैं, वही इसके जीव के भीतर वास करनेवाला आत्मा है, वही जानने योग्य है। जो इसको नहीं जानता, वह अपने जन्म को नष्ट करता है।

प्रश्न—जब कि वेद ने यह बताया है कि जो मनुष्य सब भूतों को आत्मा के भीतर देखता है और सब के भीतर आत्मा को देखता है। इससे स्पष्ट विदित है कि सब आत्मा के भीतर हैं, तो उसको भीतर का ज्ञान आवश्यकीय है। और जब वह सब के भीतर है, तो सब उससे बाहर है। इस कारण बाहर का ज्ञान भी अवश्य चाहिये। फिर श्रुति ने क्यों कहा कि वह भीतर बाहर के ज्ञान से रहित है?

उत्तर—भीतर के कहने से आशय परमात्मा से सूक्ष्म कोई नहीं, जिसको भीतर जाकर देखने की आवश्यकता हो। जैसे जीव को भीतर जाकर परमात्मा के दर्शन की आवश्यकता है। और बाहर कहने से यह आशय है कि वह एक देशी नहीं, जिसको बाहर की वस्तुओं के देखने के लिये इन्द्रियों की आवश्यकता हो। दूसरी बात यह है कि जीवात्मा को नैमित्तिक ज्ञान होता है, परमात्मा को न भीतर का न बाहर का ही नैमित्तिक ज्ञान होता है।

प्रश्न—जबकि ब्रह्म अदृश्य अर्थात् देखने योग्य नहीं, तो बृहदारण्यकोपनिषद् म क्यो लिखा हे कि—हे मैत्रेयि! आत्मा ही देखने सुनने योग्य और मनन करने योग्य है।

उत्तर—आत्मा इन्द्रियों से अनुभव नहीं होता, इस कारण अदृष्ट कहा है। परन्तु मन से उसका प्रत्यक्ष होता है। इस कारण देखने योग्य कहा है। केवल थोड़ा सा विचार करने से विदित होता है कि दोनों श्रुतियों में विरोध नहीं।

प्रश्न—परन्तु उपनिषद् में बताया है कि वह मन से चेतन

नहीं किया जाता । फिर उसका मन से प्रत्यक्ष मानना भी युक्ति से ठीक नहीं मालूम होता। क्योंकि श्रुति इसका खंडन करती है।

उत्तर—कठोपनिषद् की श्रुति में स्पष्ट शब्दों में लिखा है कि वह परमात्मा मन ही से जाना जाता है । वास्तव में मन की दो दशाएँ है। एक, मल विक्षेप और आवरण दोष से रहित मन। दूसरे, इन दोषो से युक्त मन जो श्रुति कहती है कि परमात्मा मन से नहीं जाना जाता, उसका आशय मल विक्षेप और आवरण दोष युक्त मन से है । और जो श्रुति कहती है कि परमात्मा मन से जाना जाता है, उसका आशय मल विक्षेप आवरण दोष से रहित मन से है। यदि परमात्मा का ज्ञान किसी भाँति न हो, तो उसकी सत्ता ही किस प्रकार स्वीकार की जावे।

प्रश्न—मल दोष किसे कहते हैं?

उत्तर—मन में जो दूसरो को हानि पहुंचाने का विचार है यही मल दोष है । जब तक यह दोष बना हुआ है, तब तक मन परमात्मा को जानने में साधन नहीं हो सकता। यथा दर्पण से नेत्र और उसके भीतर रहनेवाले सुरमा (अंजन) का दर्शन होता है। परन्तु मैला दर्पण नेत्र और सुरमा का दर्शन नहीं करा सकता। इस कारण नेत्र और सुरमा को देखनेवाले प्रथम दर्पण को शुद्ध करते हैं, जब तक दर्पण शुद्ध न हो, तब तक किस प्रकार उससे ज्ञान हो सकता है । वह मनुष्य मूर्ख है, जो मन को शुद्ध किये विना जीवात्मा और परमात्मा के देखने की इच्छा रखता है। और वह गुरु कपटी है, जो परमात्मा को दिखाने के लिये अतिरिक्त मन के दोषों के दूर करने के, अन्य साधन बताता है।

प्रश्न—विक्षेप दोष किसे कहते है?

उत्तर—मन की चंचलता का नाम विक्षेप दोष है। मन इस वेग से संकल्प विकल्प करता है कि इसका चलना (गति) विद्युत से भी अधिक है। यदि इस भाँति वेग से गति करनेवाले दर्पण से कोई नेत्र और उसके भीतर रहनेवाले सुरमा का दर्शन करना चाहे, तो क्योंकर सफल हो सकता है।

प्रश्न—आवरण दोष किसे कहते हैं ?

उत्तर—यदि दर्पण पर एक काग़ज़ (पत्र) पड़ा हो, तो इसमें नेत्र और नेत्र के भीतर रहनेवाले सुरमा का दर्शन नहीं हो सकता। अतः जब तक दोष दूर न हों, तब तक आत्मा और परमात्मा का जानना कठिन है।

प्रश्न—क्या इन तीनों दोषों के अतिरिक्त परमात्मा के जानने में और कोई बाधा है ?

उत्तर—यदि दर्पण शुद्ध हो, परन्तु मकान अँधेरा हो, तो भी नेत्र और सुरमा का ज्ञान नहीं हो सकता। इस कारण सब से बड़ा दोष जिससे हम जीवात्मा और परमात्मा को नहीं जान सकते, वह अविद्यान्धकार है। जब तक अविद्या रहेगी, कोई भी जीवात्मा और परमात्मा के स्वरूप को नहीं जान सकता।

प्रश्न—इन दोषों के दूर करने का उपाय क्या है ? जिससे परमात्मा के जानने योग्य बन सके।

उत्तर—अन्धकार को दूर करने का उपाय ब्रह्मचर्याश्रम के द्वारा वेद वेदाङ्ग और उपाङ्ग को यथावत् पढ़ना। फिर वेद के बताये हुये निष्काम कर्म से मन के मल दोष को दूर करना। जिस प्रकार से मन में अन्य को हानि पहुँचाने का विचार हुआ था, उसके स्थान में दूसरों के साथ परोपकार का विचार नियत करना। जिसके वास्ते ग्रहस्थाश्रम बनाया गया। फिर विक्षेप दोष को दूर करने के लिये वानप्रस्थाश्रम

करके अष्टाङ्ग योग के अभ्यास अथवा वैराग्य द्वारा मन की चंचलता को दूर करना। अतिरिक्त वैराग्य और अभ्यास के अन्य कोई साधन मन को स्थिर करने का नहीं। पुनः संन्यासाश्रम के द्वारा मन के ऊपर जो अहंकार का परदा पड़ा हुआ है, इसको दूर करना। अतएव इन चारो आश्रमो का नियमपूर्वक पालन करना ही परमात्मा को जानने का सन्मार्ग है। इसके विरुद्ध चलनेवालो को कभी ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता।

मंत्र—सोऽयमात्माऽध्यत्तरमोङ्कारोऽधिमात्रं-पादा मात्रा मात्राश्च पादा अकार उकारो मकार इति ॥ ८ ॥

(शब्दार्थ) स=इसलिये। अयमात्मा=यह जीव के भीतर वास करनेवाला आत्मा। अत्तरम्=नाश रहित। ओंकारः=ओ३म् है। अधिमात्र=मात्रा इनसे बताया गया। पादाः= पाद अर्थात् भागो से विभाजित करके। मात्रा= मात्रा से विभाग करके। मात्राश्च=मात्रा में पादा=पाद्य है। आकार=अकार। उकार=उकार। मकार=मकार।

(अर्थ) सो यह आत्मा जो विनाश रहित और जीव के भीतर वास करनेवाला है। वह पाद और मात्रा के विभाग से विभाजित करके अकार, उकार, मकार के शब्द से प्रकाशित किया गया है। जिससे समझने वालों को सरलता से परमात्मा का ज्ञान हो सके। समस्त संसार में जानने के योग्य चार ही वस्तु हैं, जो चार पाद कहलाते हैं। तीन प्रकृति के गुण और एक तीनों से पृथक्। चार आश्रम, चार वर्ण, चार वेद, चार अवस्था जानने के चार साधन हैं। किन्तु ब्रह्म चार ही से जाना जाता है, इस कारण ओ३म् अक्षर में तीन पाद तो

चेतन जीवात्मा के, जो प्रकृति के गुणों को अल्पज्ञता से भोगता है , दिखाकर, चौथे मे उस जीव के भीतर रहनेवाले परमात्मा को प्रकट किया ।

मन्त्र—जागरितस्थानो वैश्वानरोऽकारः प्रथमा मात्राप्तेरादिमत्त्वाद्वाप्नोति हवै सर्वान् कामाना-दिश्च भवति य एवं वेद ॥ ६ ॥

(शब्दार्थ) जागरितस्थान = जागृत दशा का अभिमानी जीव मे व्यापक । वैश्वानरः=वश्वानर नामवाला । अकार= अकार । प्रथमा=प्रथम मात्रा है । मात्रा=सर्व अक्षरों में व्यापक होने से । आप्ते =पाना । आदिमत्त्वात्=सब अक्षरो में पहिला होने स । आप्नोति=प्राप्त होता है । हवै=निश्चय करके । सर्वान् कामान्=सम्पूर्ण इच्छाओं का आदि कारण। च=भी । भवति=होता है । यः=जो । एवं=इस प्रकार । वेद= जानता है ।

(अर्थ) ओंकार की प्रथम जो मात्रा अर्थात् अकार अकार है, उसका नाम वैश्वानर है । क्योंकि जिस प्रकार अकार सब अक्षरो मे व्यापक है, विना अकार के किसी अक्षर को बोल नही सकते । ऐसे ही परमात्मा जो वैश्वानर है, वह सब पदार्थों के भीतर व्यापक है। विना उसकी सत्ता के संसार के भीतर कोई नियम स्थित नहीं हो सकता । दूसरे सम्पूर्ण अक्षरों में अकार प्रथम है। इसी प्रकार सृष्टि के सर्व कारणों में परमात्मा प्रथम कारण है। अर्थात् कर्ता है। विना कर्ता के कोई कारण कार्य में प्रवृत्त नहीं हो सकता। अर्थात् मिट्टी कभी अपने आप घड़ा नहीं बना सकती। लोहे से विना कर्ता

के घड़ी नहीं बन सकती। जो मनुष्य विना कर्ता के जगत् की उत्पत्ति मानते हैं, उनके पास दृष्टान्त के लिये कोई शब्द नहीं।

प्रश्न—जगत् अनादि है, उसका कोई आदि नहीं और न अकार सब में व्यापक है।

उत्तर—जो वस्तु विकारवाली हो, वह अनादि कैसे हो सकती है। जगत् के पदार्थों में षट्विकार अर्थात् १ उत्पन्न होना २ बढ़ना, ३ एक सीमा तक बढ़कर रुक जाना, ४ रूप बदलना, ५ घटना, ६ नाश होना पाये जाते हैं। जब कि जगत् का प्रत्येक पदार्थ विकार युक्त है, तो उसका योग विकार से शून्य कैसे हो सकता है। जब सम्पूर्ण योग के परमाणु विकार युक्त हों, तो वह विकार रहित कैसे हो सकते हैं। अतः जगत् विकारवाला होने से अनादि कभी नहीं हो सकता। और आदि कहते हैं कारण को, अतएव जो उत्पन्न है, उसका कारण अवश्य है। और किसी व्यञ्जन का उच्चारण विना अकार के नहीं हो सकता।

प्रश्न—जबकि 'एकार, उकार का उच्चारण विना अकार के होता है, तो किस प्रकार कहा जावे कि अकार के विना किसी का उच्चारण नहीं हो सकता ?

उत्तर—एकार और उकार दो स्वर इस कारण पृथक् हैं कि जीव प्रकृति वह जो ब्रह्म की सम्पति तथा प्रजा है, वह नित्य हैं। इस कारण तीन स्वर जो नित्य हैं अर्थात् अकार, ब्रह्म और उकार जीव और एकार प्रकृति। शेष सब स्वर और व्यजन यौगिक हैं। स्वर की परिभाषा ही (लक्षण) यह है कि जो अपने आप हो जिसका कोई कारण न हो। अतः जीव की तीन अवस्थाओं में ब्रह्म उसके भीतर विराजमान होता है। इस कारण तीन पाद और मात्राएँ जीव को दिखा, चौथा पाद

और मात्रा ब्रह्म है। जीव के भीतर कोई नही, वह सब से सूक्ष्म और सब से महान सब के भीतर रह कर उनका प्रबंधक है। जब तक जीव उसको न जाने तब तक उसको यथार्थ शान्ति नही मिल सकती।

प्रश्न—जब कि जीव, प्रकृति और ब्रह्म तीनों नित्य हैं, तो अकेले ब्रह्म को सब के भीतर मानना और प्रकृति न मानना ठीक नही हो सकता?

उत्तर—जिस प्रकार अकार के विना तो किसी व्यंजन का उच्चारण नही हो सकता। क्या एकार उकार की भी यही दशा है? कदापि नही। इस दृष्टान्त से बताया गया है कि ब्रह्म के विना तो वस्तु स्थित नहीं रह सकती। परन्तु ऐसे पदार्थ जिनके भीतर जीव नहीं, जिससे जगत् दो प्रकार का कहाता है। एक जड़, दूसरे चेतन, अथवा स्थावर, जंगम, चराचर इत्यादि।

प्रश्न—भला जीव के होने न होने से तो जड़ चेतन का भेद किया, परन्तु प्रकृति को तो सब के भीतर मानना ही पड़ेगा। फिर अकेले ब्रह्म ही को क्यो व्यापक कहा?

उत्तर—सूक्ष्म वस्तु के भीतर स्थूल वस्तु नही जा सकती, परंतु स्थूल के भीतर सूक्ष्म जा सकती है। अत. प्रकृति स्थूल है, इसके भीतर जीव और ब्रह्म रह सकते हैं, परंतु जीव ब्रह्म के भीतर प्रकृति नहीं व्यापक हो सकती। अतः अकेला ब्रह्म ही व्यापक हो सकता है। जीव एक देशी होने से व्यापक नही हो सकता और प्रकृति स्थूल होने से।

मन्त्र—स्वप्नस्थानतैजस उकारो द्वितीया मात्रोत्कर्षादुभयत्वाद्वोत्कर्षति हवै ज्ञानसन्तति समानश्च भवति नास्याऽब्रह्मवित्कुले भवति य एवं वेद । १० ॥

(शब्दार्थ) स्वप्नस्थानः=स्वप्न की दशा जिस स्थान में है। तैजसः=तैजस नाम । उकार=द्वितीय मात्रा है। उत्कर्षाद्=महान् होने से। उभयत्वाद्=दोनों के बीच होने से अथवा दोनों के साथ सम्बन्ध होने से । उत्कर्षति=महत्ता को प्राप्त करता है। ज्ञानसन्ततिम्=ज्ञान से उत्पादक फल को प्राप्त होता है। समानश्च=जो न कभी दुखी न सुखी, न मित्र न शत्रु सब को समान होता है। न=नहीं। अस्य= इसके कुल । अब्रह्मविद्=ब्रह्म को न जाननेवाला। भवति= होता है। यः=जो। एवं= इस प्रकार। वेद=जानता है।

(अर्थ) द्वितीय पाद अर्थात् तैजस को द्वितीय मात्रा उकार से अनुकूल करके दिखाते है। स्वप्न दोनों दशाओं के मध्य मे होता है। जागृत और निद्रा की मध्यम दशा का नाम स्वप्न होता है, इस कारण वह दोनो के मध्य में होता है । और वह जागृत से उत्तम होता है। क्योंकि जागृत की अवस्था में तो विषयों के संस्कार बढ़ते हैं और स्वप्न में उसको उन्नति रुक जाती है। यहाँ उकार से आशय जीवात्मा का है, जो संसार मे नैमित्तिक ज्ञान को प्राप्त करता है, जो प्रकृति से उत्तम है, क्योंकि प्रकृति में ज्ञान नहीं और जीवात्मा ज्ञान को प्राप्त करके उससे प्राप्त होनेवाले आनन्द को प्राप्त करता है। और ब्रह्म प्रकृति के मध्य है और ब्रह्म की भाँति ज्ञान स्वरूप नहीं। जिसको बाह्य ज्ञान की आवश्यकता ही न हो अथवा जिसका नियम उन्नति न कर सके और प्रकृति की भाँति ज्ञान से शून्य हो, वह अल्पज्ञ है। यदि वह प्रकृति के साथ सम्बन्ध करे तो मिथ्या ज्ञानी होकर अज्ञान स्वरूप प्रकृति के धर्म दुख को ग्रहण कर लेता है। प्रकृति दुःख स्वरूप है, जीव उसके संग से दुःख को प्राप्त होता है। जैसा कि जागृत अवस्था में मालूम

होता है। जागृत अवस्था में सम्पूर्ण इन्द्रियाँ प्रकृति के विषयों के साथ में सम्बन्ध रखती हैं, जिससे सब प्रकार के दुःख ईर्षा, द्वेष, काम, क्रोध, लोभ, मोह इत्यादि प्राप्त होते हैं। मानो जागृत अवस्था प्रकृति के साथ सम्बन्ध उत्पन्न करती है। स्वप्न जागृत से ऐसा ही उत्तम है, जैसे प्रकृति से जीव। जागृत में प्रकृति के संस्कार बढ़ते हैं, स्वप्न में नहीं। सुषुप्ति में जीव का ब्रह्म से सम्बन्ध होता है और जागृत में प्रकृति से; स्वप्न दोनों के मध्य में है। जैसे ब्रह्म ज्ञान-स्वरूप और प्रकृति अज्ञान स्वरूप है। परन्तु जीव न तो ज्ञान-स्वरूप है, न अज्ञान-स्वरूप है। थोड़ा ज्ञान है, शेष वस्तुओं का सीमाबद्ध होने से अज्ञान रहता है। जितनी वस्तुओं का इन्द्रियों के द्वारा मन में ज्ञान होता है। जितने शब्द सुने है, जितने रूप देखे हैं जितनी वस्तुओं का रस चक्खा है, जितनी गंध सूंघी है, जितना स्पर्श किया है इन सब का संस्कार मन में रहता है, उसकी स्मृति होती है, उसको स्वप्न में देखता है। शेष सम्पूर्ण वस्तुओं से अज्ञानी रहता है। जब जीवात्मा परमात्मा के साथ सम्बन्ध करता है, तो उसका बाह्य ज्ञान अल्प होता है और सुख की वृद्धि होती है। जब प्रकृति के साथ सम्बन्ध करता है, तो उसका बाह्य ज्ञान बढ़ता है और सुख घटता है। जागृत अवस्था में प्राकृतिक सम्बन्ध होता है और स्वप्न अवस्था में परमात्मा से। और स्वप्न अवस्था दोनों के मध्य है, इस कारण जागृत अवस्था से उत्तम और दोनों के मध्य रहनेवाली है। जो इस बात को ठीक प्रकार से जानता है, उसके कुटुम्ब में ब्रह्मज्ञानी उत्पन्न होते हैं। कोई ब्रह्म का न जाननेवाला उस कुल में नहीं होता।

मंत्र—सुषुप्तस्थानः प्राज्ञो मकारस्तृतीया

मात्रा मितेरपीतेर्वा । मिनोति हवा इदꣳ सर्व-मपीतिश्च भवति य एवं वेद ॥ ११ ॥

(शब्दार्थ) सुषुप्तस्थानः=सुषुप्त स्थान । प्राज्ञः=प्राज्ञनाम वाला । मकारस्तृतीया मात्रा=मकार तृतीय मात्रा है । मितेः -अनुमान करने से । अपीतेर्वा=एक ही हो जाने से । मिनोति=अनुमान करता है । हवा=यथावत् । इदं सर्वम्= इस सब जगत् को । अपीतिश्च भवति=यह जगत् का जो कारण है इसको प्राप्त होता है । य=जो । एवं=इस प्रकार । वेद=जानता है ।

(अर्थ) सोने की दशा में जीव का नाम प्राज्ञ होता है, इसके लिये मकार तृतीय मात्रा है । इसके बताने के लिये अनु-कूलता का कारण क्या है ? इसके उत्तर में बताया गया है कि प्राज्ञ से विश्व और तेजस का अनुमान किया जाता है । द्वितीय, जिस प्रकार प्रथम अकार, उकार, मकार के योग से ओ३म् एक हो जाता है । ऐसे प्राज्ञ अर्थात् सोने की दशा में सम्पूर्ण नैमि-त्तिक ज्ञान से अलग होकर भीतर रहनेवाले आत्मा में मन को लगा कर इस सारे जगत् का ठीक-ठीक अनुमान कर लेता है । क्योंकि जिस समय जागना था, उस समय बाहर से क्लेश भीतर आ रहे थे । जब स्वप्न की दशा में आ गया, तब बाहर से क्लेश आने बंद हो गये ; परन्तु आये हुये मौजूद रहे । परन्तु जब सुषुप्ति दशा में अणु बाहर से आने के अतिरिक्त भीतर के भी शेष न रहे, क्योंकि वह भी स्वरूप से पृथक् मन में आत्मभाव होने के कारण से थे । जब मन के साथ सम्बन्ध टूट गया अर्थात् इसमें अहंकार न रहा, तब सर्व क्लेश दूर हो

गये। इससे जीव को जगत् का अनुमान विदित हो गया, कि जब इन्द्रियों के विषयों से सम्बन्ध होता है तो मन बहुत फैल जाता है, जिससे दुःख ही दुःख प्रतीत होता है। मकान जल गया, मन दुखी हो गया। धन नाश हो गया, मन दुखी हो गया। पुत्र मर गया, मन दुखी हो गया। कोई सम्बन्धी मर गया, मन दुखी हो गया। घोड़ा मर गया, मन दुखी हो गया। अपने शरीर के अतिरिक्त मैं इतनी बढ़ जाती है कि जिसकी सीमा नहीं रहती। और जितनी मैं उन्नति करती है उतना ही दुःख वृद्धि पाता है। जागृत अवस्था में अहंकार अपने शरीर से बाहर की वस्तुओं का भी बना रहता है, परन्तु स्वप्न की दशा में अत्यन्त निर्बल हो जाता है, केवल इन्द्रियों के पदार्थों का सम्बन्ध मन में रह जाता है। इस कारण स्वप्न की दशा में जागृत अवस्था की अपेक्षा उत्तमता मानी गई है। परन्तु जब सो जाते है, तो मैं न जगत् के पदार्थों में रहती है, न शरीर मे, न सूक्ष्म शरीर में। जब इनमें इन नाशवाली वस्तुओं से पृथक् हो गई, तो किस के नाश से दुःख हो। इस समय केवल जीवात्मा के भीतर चली गई। जब मैं जीवात्मा के भीतर रहती है, तो इसका नाश हो नही सकता, जिससे कोई दुःख हो सके। परन्तु जीवात्मा का ज्ञान स्वाभाविक गुण है, जो विना जाने नही रह सकता। जब बाहर का सम्बन्ध टूट गया, तो बाहर का ज्ञान तो बन्द हो गया, जिससे जीवात्मा को दुःख न रहा। अब उसने भीतर देखना आरंभ किया, जहाँ एक ही आनन्द स्वरूप था। यदि दो होते, तो ज्ञान होता, एक में ज्ञान किस प्रकार हो सकता है। अतः आनन्द में जीव रहा जिससे वह सम्पूर्ण दुःख जो जागने में रहे थे, जाते रहे।

मंत्र—अमात्रश्चतुर्थोऽव्यवहार्यः प्रपञ्चोपशमः

शिवोऽद्वैत एवमोङ्कार। आत्मैव संविशत्यात्मना-ऽऽत्मानं य एवं वेद य एवं वेद ॥ १२ ॥

(शब्दार्थ) अमात्रः=जिसके लिये कोई मात्रा नहीं। चतुर्थः=चतुर्थ पाद । ऽव्यवहार्य=जिस पर कोई व्यवहार नहीं हो सकता । प्रपञ्चोपशमः=जहाँ पहुँच कर यह प्रपच अर्थात् ज्ञान दूर हो जाता है। शिवः=कल्याणकारी क्षुधा, तृषा, शोक, मोह और बुढ़ापे और मौत से रहित। अद्वैतम्=अनुपम। ओंकार=ओंकार है। आत्मा=जीवात्मा। एव=है । संविशति=व्याप्य होता । आत्मानम्=परमात्मा से। आत्मानं=आत्मा को । एवं=इस प्रकार। वेद=जानता है। द्विर्वचन=ग्रन्थ समाप्ति सूचक है।

(अर्थ) यहाँ तक तो स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीर के अभिमान से तीन पाद और मात्रा ओरेम् से प्रकट करके अब इन तीनों शरीरों के अभिमानी जीवात्मा के भीतर जो व्यापक परमात्मा होता है, नो उसको उन अवस्थाओं से सम्बन्ध है, न कि इन तीन शरीरों से। और न क्षुधा, तृषा, शोक, मोह, जरा, मृत्यु का उस पर कोई प्रभाव है। जिस प्रकार जीव बहुत से हैं, परन्तु परमात्मा एक ही है। इसकी कोई उपमा नहीं, वह जीव के भीतर भी व्यापक है। जीवात्मा को इस प्रकार जानता है, कि जब वह बाहर सम्बन्ध छोड़ कर, अपने भीतर परमात्मा को व्यापक देखकर, यह कहता है कि मुझ में जो व्यापक है, यह ब्रह्म है, यह आत्मा है, उसको कोई दुःख हो ही नहीं सकता। जिस प्रकार सूर्य के निकट

जाने से अन्धकार स्वयम् भाग जाता है। ऐसे ही परमात्मा को अपने भीतर देखने से सब दोष दूर हो जाते हैं।

जो मनुष्य विचार से इस उपनिषद् को पढ़ते है, वह तो आत्मज्ञान को प्राप्त होते है। और जो मनुष्य अविचार से पढ़ते हैं, यह मायावाद के जाल में ग्रसित हो जाते है। वेदान्त-दर्शन ऐसा उत्तम दर्शन है कि जिसको जाननेवाला मनुष्य मनुष्यत्व की पदवी से आगे बढ़ जाना है। जो मनुष्य वेदान्त को नहीं जानते, वह मनुष्यत्व स गिरे हुए है। क्योंकि जो मनुष्य यह नहीं जानता कि मै क्या हूँ, उससे बढ़ कर संसार मे मूर्ख कौन हो सकता है। सम्पूर्ण संसार के रोगों की चिकित्सा जानता हूँ, परन्तु अपने रोग से हिल नहीं सकता और इसकी चिकित्सा भी नहीं कर सकता। तो मेरी अन्य रोगो की चिकित्सा जानने से क्या लाभ है। क्योंकि मैं जब तक स्वयम् आरोग्य होकर इनकी बीमारी की चिकित्सा न करूँ, तो मेरे ज्ञान से दूसरों को क्या लाभ पहुँच सकता है। वेदान्तशास्त्र ही है जो जीव को अपने रूप का ज्ञान करा के सब प्रकार के दुःख और भय से मुक्त करा देता है। मायावादियों ने तो वेदान्तशास्त्र को बदनाम कर रक्खा है। परन्तु वह वास्तव में ठीक नहीं। बहुत से मनुष्य यह कहते है कि वेदान्ती मनुष्य आलसी होता है और निकम्मा हो जाता है, परन्तु यह विचार केवल मूर्खों का है। वास्तव में वेदान्ती अपने स्वरूप को जानता है, इसको निश्चय हो जाता है कि आत्मा नित्य है। कोई शक्ति ऐसी नहीं, जो आत्मा को हानि पहुँचा सके। कोई शस्त्र ऐसा नहीं, जो आत्मा को काट सके। कोई अग्नि ऐसी नहीं, जो आत्मा को जला सके। यदि संसार की सर्व शक्तियाँ एकत्रित हो जावें, तो भी आत्मा को कोई हानि नहीं हो सकती। क्षुधा,

तृषा प्राणों के धर्म हैं। आत्मा प्राण नहीं, प्राण उत्पन्न तथा नाश होनेवाले हैं, उनके धर्म से आत्मा को कोई दुःख नहीं। प्राण परमात्मा ने कर्मों का फल भोगने के लिये अवधि दी है, जिसकी रक्षा परमात्मा का काम है। जब तक परमात्मा इसकी रक्षा करेगा, तब तक यह सुरक्षित रहेंगे। परमात्मा की आज्ञा होते ही कोई भी इनको स्थिर नहीं रख सकता। संसार के बड़े-बड़े राजाओं को एक मिनट में चलना होगा। कोई सेना तथा तोप, डायनामेन्ट के गोले और बंदूकें, गढ़ और खंदकें एक मिनट के लिये इस वारंट को जो प्राणों को लेने आया है, रोक नहीं सकतीं। संसार में अनगिनती राजा हुए आज उनके शरीरों का कुछ भी चिन्ह नहीं। जो उत्पन्न हुआ है, उसका नाश भी होना है। प्राण न उत्पन्न हुए हैं, न उनको नाश होना है। नाश से रहित का नाशवाले से क्या मेल? इसलिये प्राणों की रक्षा की इसको कोई चिन्ता नहीं। वह रोटी के लिये अपने धर्म को नहीं बेच सकते। वह जानता है कि मनुष्य तीन प्रकार के होते है। एक पामर, दूसरे विषयी, तीसरे मुमुक्षु। जो मनुष्य पशुओं के शरीर से आते हैं, उनके भीतर पशुओं के संस्कार होते है। पशुओ को खाने के अतिरिक्त और कोई चिन्ता नहीं होती। उसको यह निश्चय नहीं होता कि जिस स्वामी ने मुझे खूटे पर बांधा है, जिसको मुझ से काम लेना है; वह मुझ को अवश्य खाने को देगा। स्वामी खाना देने आता है, पशु रस्सा तुड़ाने के लिये दौड़ता है। जब तक चारह उसके सामने न आ जावे, इसको शान्ति नहीं होती। वह अपने साथियो से चारे के लिये लड़ता है। ऐसे ही जो मनुष्य पशु शरीर से आये हैं, जिनमें ज्ञान के संस्कार बहुत कम हैं, जो पुनर्जन्म के सिद्धान्त से अनभिज्ञ हैं, जो आत्मा को

सत्ता से अनभिज्ञ हैं, जो परमात्मा के और इसके नामों से दूर है, जो कर्म और फल भोगने के विधान से अनभिज्ञ है वह पामर मनुष्य है , जिनके जीवन का उद्देश्य ही रोटी है। भारतवर्ष में आज भी लक्षों पामर मनुष्य हैं, जिनको धर्म कर्म का कुछ भी ज्ञान नही, जो केवल रोटी की खोज ही मुख्य समझते हैं। जिनके हृदय में यह बैठा हुआ है कि यदि हम अपने धर्म की ओर लग जावे, तो रोटी कहाँ से आवे। वह यह नहीं देखते कि जिस समय मनुष्य अति न्यून असत्य बोलते थे, जिस समय मनुष्य अंग्रेज़ी शिक्षा से शून्य थे, जिस समय मनुष्य अंग्रजी विज्ञान से नितान्त अनभिज्ञ थे उस समय रोटी कैसी सरलता से प्राप्त होती थी। उस समय न तो ऐसे सूखा पड़ते थे और न रोग फैलते थे। जितनी अंग्रेज़ी शिक्षा बढ़ती जाती है, वैसे ही मनुष्य परमात्मा को भूलकर प्रकृति उपासक बन गये। जिसका परिणाम हर प्रकार के दुःख भोगना था। जब कि गवर्नमेन्ट के विरोधी आराम से नहीं सो सकते, उनको रात दिन पकड़ जाने का भय लगा रहता है। यद्यपि सरकार अल्पज्ञ है, वह विरोधियों के मन का वृत्तान्त नहीं जान सकती, उसे गुप्त-भेदी द्वारा पता लगाने की आवश्यकता पड़ती है। इतनी कमज़ोरी पर भी विद्रोही पकड़े जाते है और दंड पाते है। इन दंडों को देखकर विद्रोहियों के चित्त अशान्त रहते है। फिर उस सर्व व्यापक, सर्व शक्तिमान् परमात्मा के विद्रोही जिसके सर्वत्र होने से किसी गुप्त-भेदी की आवश्यकता नहीं। जिसके दंड से झूठी साक्षी नहीं बचा सकती, कोई योग्य वकील भी कानून द्वारा मुक्त नहीं करा सकता। फिर उससे विरोध करके जो सुख चाहते हैं, वह निरे पशु ही कहलावेंगे। दूसरे प्रकार के मनुष्य विषयी कहलाते हैं, जो इन पशुओं से कुछ

अधिक ज्ञान रखते हैं। वह प्रत्येक वस्तु को सुधारकर प्रयोग करना चाहते हैं। वह प्राकृतिक विज्ञान के प्रेमी और अपनी सत्ता से शून्य होते हैं। इनको भी न तो जीवात्मा की सत्ता का ज्ञान होता है और न परमात्मा की सत्ता का ज्ञान। और न इनको पुनर्जन्म पर कुछ विश्वास होता है और न वेद पर। इसलिये वह मनुष्य जीवन का उद्देश्य खाना पीना और विषय-भोग ही समझते हैं। यह दोनों तो पुनर्जन्म के विश्वास न होने से वर्तमान जन्म के लिये प्रबंध करते हैं। वर्तमान जन्म का प्रबंध पशु भी करते है। खाना पीना और विषय-भोगना भी पशुओं में पाया जाता है। यह अपने आपको पशुओं से आगे नहीं ले जा सकते। यह बार-बार पशुआ के शरीर में जन्म लेते हैं। इनका जीवन बहु मूल्य जीवन नहीं होता। क्योंकि यह अपने जीवन को शरीर की गाड़ी को धोने और इन्द्रियों के घोड़े चराने में व्यय करते हैं। वह जीवन जो गाड़ी को धोने और घोड़ों के चराने में खर्च हो, उत्तम पुरुष का जीवन नहीं हो सकता। क्योंकि गाड़ी का धोना घोड़ों का चराना साईस का काम है। साईस चाहे कितने ही अधिक हों, उनसे देश की प्रतिष्ठा नहीं होती। क्योंकि इनकी आत्मा बल से शून्य होती है, इनके हृदय में कभी बलवान साहस उत्पन्न नहीं होता। छोटे काम तथा छोटे विचार होते हैं। निर्बलता उनको आधीन रखती है। वेदान्तशास्त्र के ज्ञाता तीसरे प्रकार के मनुष्य होते हैं, जिनको मुमुक्षु कहते हैं। इनके भी तीन भेद हैं। एक वह जिनके मन मैले थे, वह उसको शुद्ध करने के लिये निशदिन परोपकार में लगे रहते हैं। वह समस्त संसार की भलाई को ही अपना उद्देश्य समझते हैं। उनका वचन यह होता है कि अपने उत्साह को ऊँचा रख, ताकि ईश्वर और सृष्टि के समीप हो और तेरे

उत्साह के अनुसार मेरा आदर हो। न तो उनको आराम की इच्छा, न धन की, यदि इच्छा है तो परोपकार की। वह संसार के कष्टों की कुछ परवाह नहीं करते। वह यश तथा अपयश को तुच्छ समझते है। वह मान अपमान से कोई स्वार्थ नहीं रखते। वह किसी दशा में भी जीव मात्र को हानि पहुँचाने का विचार नहीं करते। उनका विचार स्वतंत्र रहता है। ईश्वर की आज्ञा पर उनको संतोष होता है। वह जानते हैं कि परमात्मा जो कुछ करता है, अच्छा ही करता है। उसने जो कुछ किया अच्छा ही किया। वह जो कुछ करेगा, अच्छा ही करेगा। क्योंकि वह न्याय तथा दया के अतिरिक्त कुछ करता ही नहीं। यदि तुमको दुःख मिलता है, तो तुम्हारे कर्मों से। दयालु परमात्मा ने कोई वस्तु ऐसी नहीं बनाई जो जीवों को दुःख देने-वाली हो। और न कोई वस्तु सुखदाता है, सुख दुःख का कारण निज कर्म हैं। यदि हम ज्ञान के अनुकूल कर्म करते हैं, तो सुख होता है। यदि ज्ञान के विरुद्ध करते हैं, तो दुःख होता है। ज्ञान हमको बताता है कि जिस प्रकार के बीज बोवेंगे, वैसा ही फल आवेगा। इसी प्रकार हम दूसरों के साथ जैसी वासना करते हैं, वैसा ही हमको फल मिलता है। जो मनुष्य दूसरों को हानि पहुँचाने का विचार करता है, उसके मन में पाप का बीज बोया गया। जिसका फल दुःख के अतिरिक्त और कुछ नहीं हो सकता। वह दूसरों के दोष टटोलने पर नहीं रहता, न इस कर्म को उच्च विचार करता है। किन्तु किसी में कोई दोष दृष्टि पड़ता है, तो उसको किसी उपाय से दूर करना चाहता है। वह मधु मक्षिका की भाँति पुष्पों से मधु निकालता है। वह जिससे मिलता है, उसके गुणों में से कोई न कोई गुण प्राप्त करता है। वह संसार में रहता है, परन्तु सराय समझ

कर संसार को अपना घर नहीं समझता। उसका विचार इस दृष्टान्त पर रहता है।

दृष्टान्त—किसी राजा ने एक जड़ाऊ छड़ी बनवाई। जिसमें लाखो रुपये के हीरा मोती लगा दिये। एक दिन राजा स्मसान के पास से होकर निकले, वहाँ एक पागल को देखा, राजा ने उससे कहा—तुम नगर में क्यों नही आते? दीवाने ने उत्तर दिया—जो नगर मे है, वह कहाँ जाते हैं। अन्त को वह भी यहाँ ही आते हैं। पागल की इस बात को सुनकर राजा ने छड़ी उसको देदी। पागल ने कहाँ—मैं इसको क्या करूँ, यह मेरे किस काम की है। राजा ने कहा—इसे रक्खो, जब कोई तुम स अधिक उन्मत्त मिले, तो उसे दे देना। पागल ने वह छड़ी लेली। कुछ समय के पश्चात् राजा की मृत्यु के दिन समीप आये। यह समाचार पागल को मिला। वह राजा के समीप आया और राजा से हाल पूछा। राजा ने कहा—अब हमारे अन्तिम मार्ग का समय है। पागल ने पूछा—आप कहाँ जायँगे? राजा ने कहा—यह तो मालूम नहीं। पागल ने कहा—जहाँ आप जायँगे कितनी सेना, रिसाला, तोपें और पयादे साथ ले जायँगे। राजा ने कहा—तब ही तो तुझको पागल कहते हैं। भला, इस अंतिम मार्ग में कहीं ऐसा सामान भी जाया करता है। दीवाने (पागल) ने फिर कहा—कितना कोष आप साथ में ले जायँगे, क्योंकि इतने बड़े यात्रा के लिये जिसका पता ही न हो, बहुत व्यय की आवश्यकता पड़ेगी। राजा ने कहा—वास्तव में तू पागल है। भला, कही अन्तिम यात्रा में कोष साथ जाया करता है। इस यात्रा मे बिना धन के ही जाना पड़ता है। पागल ने कहा—अच्छा कौन कौन से मंत्री आप के साथ जावेंगे, क्योंकि बिना मंत्री के तो काम चल ही नहीं

हैं। सैकड़ों बंक दीवाला निकाल बैठे। सहस्रों ज़मींदारों की ज़मींदारियाँ बिक गईं। कोटि युवा बलवान् योद्धा मिट्टी में मिल राख की ढेरी बन गये। भीम और अर्जुन की अस्थियों के चिह्न भी नहीं मिलते। राम, कृष्ण के शुभ कर्मों के अतिरिक्त उनके प्राकृतिक शरीर का कुछ भी पता नहीं। अतएव मुमुक्षु का यही विचार है कि जिस प्रकार हो सके संसार का निष्काम परोपकार करूँ, जिससे अन्तःकरण की शुद्धि हो जावे। जब अन्तःकरण शुद्ध हो जावे, तो तीन प्रकार की वासनायें अर्थात् वित्तेषणा, पुत्रेषणा, लोकेषणा (धन की इच्छा, पुत्र की इच्छा, यश की इच्छा) दूर हो जाती हैं। जिसको यह इच्छाएँ प्रस्तुत हैं, उसका मन शुद्ध नहीं। वह परोपकार के काम यदि करता है, तो लोकेषणा अर्थात् यश प्रतिष्ठा तथा प्रभुत्व के कारण से करता है। परन्तु यह सब धर्म से गिरा कर पाप के गढ़े में गिराते हैं। इन्द्र जैसे देवराज को भी यश की इच्छा ने धर्म से पतित कर दिया। कोई यश का इच्छुक यह नहीं चाहता कि उस जैसे दो हो जावें। धर्म के विचार के लक्षों मनुष्य मिलकर काम कर सकते हैं, परन्तु यश और प्रतिष्ठा तथा हुकूमत के विचार के दो मनुष्य भी एक में नहीं समा सकते। जैसा कवि कहता है, जिसका भावार्थ यह है—१० साधु १ गुदड़ी में समा सकते हैं, परन्तु दो बादशाह १ देश में नहीं समा सकते।

जब तक मनुष्य के मन में परोपकार का विचार रहता है, तब तक उसका किसी से विग्रह तथा झगड़ा नहीं होता। जहाँ स्वार्थ आवे, वहाँ लड़ाई झगड़े आरम्भ हो जाते हैं। जब तक विद्या रहती है, लड़ाई झगड़े नहीं होते। परन्तु अविद्या महाराणी का पाँव जहाँ पड़ा, वहाँ सब फूट मरते हैं। द्वितीय कक्षा के मुमुक्षवत् हैं, जिनका मन शुद्ध हो चुका है, जो केवल मन

की चंचलता को दूर करने के लिये अभ्यास और वैराग्य को काम मे लाते हैं। मन विना वैराग्य और अभ्यास के स्थिर नही हो सकता। योगी जन अभ्यास के द्वारा मन को पकड़ते है। मन रक्त की गति से गति (हरकत) करता है। यदि रक्त में गति न हो, तो मन नही गति कर सकता। रक्त प्राणों की गति से क्रियावान होता है, यदि यह प्राणों की हरकत न हो, तो रक्त गति नहीं कर सकता। अतएव जब प्राण-गति अधिकार में आ जाये, तो रक्त की गति वश मे हो जावेगी। जब रक्त की गति वश में हो जावेगी, तब चंचल मन भी वश में हो जावेगा। इस प्राण की गति को वश मे करने के लिये महर्षि पातञ्जलि ने योगदर्शन में यम नियम इत्यादि योग के अष्टाङ्ग नियत किये है। इन अङ्गों पर ठीक प्रकार अनुष्ठान करने का नाम अष्टांग योग का अभ्यास कहाता है। इस मार्ग पर चलनेवाला मनुष्य यदि सिद्धियों के जाल मे न फॅस जावे, तो मुक्ति को प्राप्त होता है। उसके मार्ग की सम्पूर्ण बाधा स्थिर चित होकर अभ्यास करने से दूर हो जाती है। परन्तु द्वितीय साधन मन को वश में लाने का वैराग्य है। राग अर्थात् वासना उस वस्तु की होती है जिसको आत्मा अपने लिये सुलभ अप्राप्त समझता है। न तो उस वस्तु की इच्छा होती है जो लाभदायक न हो और न उस वस्तु की इच्छा होती है, जो प्राप्त हो। और जो वस्तु प्राप्त तथा हानिप्रद हो, उसमें द्वेष होता है। अब उपयोगी वह वस्तु होती है, जो न्यूनता को पूरा करे अथवा दोष को दूर करे। जब तक जीवात्मा अविद्या से अपने को शरीर समझता है, तब तक जो वस्तु शरीर की त्रुटि को पूरा करती है, भोजनादि अथवा शरीर के दोष को दूर करती है, यथा घृत औषधि इत्यादि। तब उसको इनमें

राग होता है। यदि सवारी को शरीरार्थ उपयोगी विचार करता है, तो उसमें राग होना है। तात्पर्य यह जितने पदार्थों में अपने होने का अभ्यास होता है, उन सब के लिए उपयोगी में राग होता है। जब जीव को पता लग जाता है कि मैं न तो शरीर हूँ और न इन्द्रियाँ, किन्तु यह मेरे मार्ग में ले जाने के लिये गाड़ी तथा घोड़े है। इनकी सेवा में लगे रहना साईसी है। यदि यह अपनी गाड़ी होती, तो इसकी रक्षा की भी आवश्यकता होती। यह तो किराये की गाड़ी है, जिसका स्वामी हर समय किराया माँगता है। यदि थोड़ी देर के लिये वायु न मिले तो भीतर से शब्द आता है—निकलो बाहर। यदि २४ घंटे तक पानी न मिले, तो शब्द आता है—निकलो बाहर। यदि चार पाँच दिवस भोजन न मिले, तो आज्ञा मिलती है—निकलो बाहर। भला ऐसे किरायेदार की गाड़ी में जिसका स्वामी क्षण क्षण में किराया माँगता हो, स्वस्थ होकर बैठना बुद्धिमानी का काम नहीं है। नहीं, इस गाड़ी से तो जितना मार्ग की ओर चला जावे, उतना ही लाभ है गाड़ी और घोड़ों के चराने में अधिक समय व्यय करना अविद्या है। गाड़ी की रक्षा गाड़ी का स्वामी स्वयम् करेगा। यात्री को तो जितनी यात्रा पूर्ण हो जावे, उतना ही लाभ है। जिस मनुष्य को शरीर और आत्मा का पता लग जावे, वह उस शरीर से लाभ उठा सकता है। जिसको आत्मज्ञान नहीं, वह शरीर की आवश्यकताओं में राग उत्पन्न करके अपने आपको बिगाड़ देता है। यदि आवश्यकताओं तक ही इतिश्री होती, तो कोई हानि नहीं थी। क्योंकि परमात्मा प्रत्येक आवश्यकता पूर्ण करते हैं। परन्तु शरीर को आत्मा समझनेवाला तृष्णा रूपी रोग का शिकार हो जाता है। जो परमात्मा सम्पूर्ण संसार की आवश्यकताएँ पूर्ण करता है,

वह एक मनुष्य की भी तृष्णा पूर्ण नही कर सकता। क्योंकि जितना मिलता जावे, तृष्णा उससे अधिक बढ़ती जाती है। जिसका कारण यह है कि संसार के पदार्थों में आनन्द तो है नही। जो इनमें आनन्द की इच्छा से काम करता है उसे और मनुष्यों को (जो उससे सांसारिक पदार्थों में अधिक हैं) देख कर विचार उत्पन्न होता है कि इनको आनन्द होगा। इसलिये वह उन पदार्थों को प्राप्त करता है। और सांसारिक वस्तुओं में आनन्द नहीं है, इस कारण पदार्थों के प्राप्त करने से भी आनन्द प्राप्त नही होता। फिर वह उससे अधिक में आनन्द समझकर उसकी इच्छा करता है। फल यह होता है, सम्पूर्ण संसार का चक्रवर्त्ती राज्य प्राप्त होने पर भी दुःख बढ़ जाता है, आनन्द प्राप्त नही होता, परंतु तृष्णा नित्यप्रति कष्ट देती है। इस कारण जब तक विद्या न हो, जब तक प्रकृति के मूल तत्त्व से मनुष्य का वास्तविक परिचय न हो, जब तक प्रत्येक वस्तु आत्मा के लिये बंधन न समझ ली जावे, क्योंकि वस्तुओ का अहंकारी बंधन है, उसी से सम्पूर्ण दुःख उत्पन्न होते हैं। जिस वस्तु को हम अपना समझते हैं, उसी के नाश होने से दुःख होता है। जिसको हम अपना नहीं समझते उसके नाश से भी दुःख नही होता। यदि हम उसको अपना शत्रु समझते हैं, तो उसके नाश से भी हमको प्रसन्नता प्राप्त होती है। यदि हमारा भवन भस्म हो जावे, तो हमको कष्ट होता है। यदि वह भवन बेच दिया हो, तो उसके नाश से कोई प्रसन्नता नहीं होती। यदि किसी हमारे शत्रु का मकान हो, तो उसके नाश से प्रसन्नता होती है। एक ही मकान बुद्धिभेद से दुःख, उदासीनता और सुख का कारण होता है। अतएव यह नाशवाला संसार है, इसकी प्रत्येक वस्तु विकारवाली पाई जाती है।

उत्पन्न होना, बढ़ना, एक सीमा तक बढ़कर रुक जाना, आकृति में परिवर्तन करना, क्षय को प्राप्त होना तथा नष्ट होना , प्रत्येक शरीर, वृक्ष और वस्तुओं में देखा जाता है। जितना विनाश-युक्त वस्तुओं मे अहङ्कार होगा, उतना ही दु:ख अधिक होगा। जितना इन अनित्य वस्तुओं से सम्बंध न्यून होगा, उतना ही दुःख भी न्यून होगा। अज्ञानी समझते है कि धनवानों को सुख अधिक होता है। परंतु यह सत्य नहीं, जितनी सम्पत्ति अधिक होती है, उतना उसका चित्त कंगाल होता है। इसके सम्बन्ध में एक दृष्टान्त है।

दृष्टान्त—एक बार एक राजा नगर से पर्वतों पर मृगया के हेतु गया। मार्ग में बूंदें पड़ने लगीं। राजा घर की ओर लौटा मार्ग में देखा कि एक साधु बैठा हुआ है, न तो कोई उसपर वस्त्र है, न पात्र, न कोई भोजन की सामिग्री है, न कोई खाट है न झोपड़ी। राजा इस साधु की दशा को देखकर चित्त में विचार करने लगा कि मैं कैसा अयोग्य राजा हूं जिसके राज्य में ऐसे कंगाल मनुष्य रहते है। यह सोच कर राजा ने २५) एक सेवक द्वारा साधु के पास भेजे। साधु ने उत्तर दिया—किसी दीन को देदो। नौकर ने आकर राजा से कहा कि रुपया कम है, इस कारण नहीं लिया। राजा ने ५००) रु० साधु के पास भेजा, तो भी उसने उत्तर दिया-किसी दीन को,देदो। जब नौकर ने आकर कहा, तो राजा ने कहा अब भी थोड़े हैं। अतः पंचसहस्र रुपया साधु के समीप भेजे। उसने फिर उत्तर दिया-किसी दीन को देदो। राजा ने सुनकर फिर थोड़े ही समझ कर पच्चीस सहस्र भेजे। साधु ने उत्तर दिया-किसी दीन को देदो। अंतिम सवालक्ष लेकर राजा स्वयम् गये। साधु ने फिर वही उत्तर दिया-किसी दीन को देदो। राजा ने कहा-स्वामिन्

आपसे बढ़कर कौन दीन होगा ? न तो आप के पास कपड़ा है न झोपड़ी, न पात्र है, न भोजन की सामिग्री। साधु ने कहा—हम तो राजा है। राजा ने सुनकर कहा-राजाओं के पास तो सेना होती है, आप की सेना कहाँ है। साधु ने कहा—उनको भय होता है, इस कारण वह सेना रखते हैं। हमको भय किसका है ? जिसके लिये सेना रक्खें। राजा ने कहा-राजाओं के पास कोष होता है, तुम्हारा कोष कहाँ है ? साधु ने कहा—राजाओं को भय के रोग के कारण व्यय होता है। इस कारण वह कोष रखते है। न हमको भय का रोग है, न सेना की आवश्यकता है, न हमारा कोई व्यय है, फिर हम कोष क्यों रक्खें ? राजा ने कहा-आप के समीप राज-सामिग्री ही क्या है। साधु ने कहा-हमारे समीप रसायन है, जिस समय चाहें इन सम्पूर्ण पर्वतो के ताम्र को सुवर्ण बना दें,। यह उत्तर श्रवण कर राजा चल दिये और मन में विचार किया कि यदि यह साधु रसायनी न होता, तो अवश्य इतना प्रभूत धन ले लेता। इसका रुपया न ले लेना, इस बात का प्रमाण है कि अवश्य रसायनी है। राजा रात्रि को सोने लगे तो विचार आया कि यदि इस रसायन-कर्ता साधु से दश पाँच सहस्र मन सुवर्ण बनवा लिया जावे, तो दो एक देश और पराजित हो सकते हैं। विचारा कि यह अवसर उत्तम है, क्योंकि रात्रि है, किसी को मालूम भी न होगा। अतः राजा साधु की ओर बिना सवारी पैदल ही चल दिये। जब साधु ने पाँव की आहट सुनी तो पूछा। कौन है ? राजा ने कहा—मैं आपका सेवक राजा हूं। साधु ने प्रश्न किया कि तू इस समय क्यों आया ? राजा ने सब हाल वर्णन किया और कहा कि आप दश बीस सहस्र मन सुवर्ण बनादें। साधु ने कहा-बता दीन तू है अथवा हम ? माँगने तू आया अथवा हम ? यह

उत्तर सुन कर राजा ने कहा—निःसंदेह दीन तो मैं ही हूँ। आप दया करके सोना बनादें। साधु ने कहा--अवश्य बना देंगे, तू आया कर। राजा ने साधु के पास जाना आरम्भ कर दिया। और साधु ने उसको तत्त्वज्ञान का उपदेश कर दिया। एक वर्ष में राजा तत्त्वज्ञान का विद्वान् हो गया और उसकी वह वासनाएँ नष्ट हो गईं। साधु ने जब देखा कि राजा अब दीन नहीं रहा। उसकी आत्मिक दशा सुधर गई तो साधु ने राजा से कहा कि तुम दश सहस्र मन ताम्र ले आओ, हम सुवर्ण बनादें। राजा ने हँसकर उत्तर दिया--स्वामिन्! वह ताम्र तो सुवर्ण बन चुका, अब कोई आवश्यकता नहीं।

वास्तव में तृष्णा-वश मनुष्य अनित्य पदार्थों को नित्य बनाने के हेतु सहस्रों प्रकार के पाप करता है। क्या उस मनुष्य से अधिक कोई मूर्ख हो सकता है कि जो अनित्य को नित्य होने का प्रयत्न करता है। अनित्य में नित्य बुद्धि अविद्या है। मनुष्य के कुछ बाह्य साधन और सामान अनित्य हैं, इनको नित्य बनाना असम्भव है। बड़े-बड़े मूर्ख राजाओं ने पत्थरों के गढ़ बनाये, सहस्रों तोपें बनाईं, शरीर की रक्षार्थ बड़े-बड़े वैद्य डाक्टर रक्खे, बाडीगार्ड और रक्षक रक्खे, क्या उन राजाओं के शरीर बच गये? मूर्ख मनुष्य नहीं जानते कि महाराजा जार्ज-पञ्चम इस समय सब से बड़े राजा हैं। उनके राज में एक कोटि उन्नीस लक्ष वर्ग मील पृथ्वी है। जिसमें चालीस कोटि से अधिक उसकी प्रजा है। उसकी राजधानी लंडन संसार के सब नगरों में बड़ा नगर है। पारलामेंण्ट का उत्तम प्रबन्ध है। इन सब वस्तुओं के होते हुए भी उसके माँ बाप मर गये, भाई मरे, बेटा मरा। जो सम्पूर्ण संसार के अज्ञानी पुरुषों को शिक्षा दे रहा है, कि इतनी शक्ति और सामिग्री होने पर उत्पन्न होने-

वाला शरीर स्थिर न रह सका। भला इनसे अधिक कौन मूर्ख मनुष्य हो सकता है कि जो धन के भरोसा पर परमात्मा के अटल नियमों की ओर संकेत करता है और बताता है कि जो नित्य है, इसको कोई शक्ति नष्ट नहीं कर सकती। जो वस्तु अनित्य है, उसकी कोई शक्ति रक्षा नहीं कर सकती। अनित्य का नष्ट होना अवश्य है, नित्य का स्थिर रहना अवश्य है। नित्य के काम नित्य से चल सकते हैं। नित्य की उन्नति अनित्य से नहीं हो सकती। यदि ध्यान पूर्वक ज्ञान-दृष्टि से ऋषियों के सिद्धान्तों को विचारो, जो बिना किसी सांसारिक प्राकृतिक सामिग्री के जंगलों में रहते हुए भी राजाओं के राजा थे। किसी की शक्ति न थी कि उनको कष्ट दे सके। इनको कष्ट दे ही कौन सकता था! क्योंकि वह ऐसी बलवान् शक्ति के आश्रय थे कि जिसके सामने संसार की सम्पूर्ण शक्तियाँ तुच्छ हैं। गवर्नमेंट का ५) रुपये मासिक का सिपाही बड़े-बड़े धनपतिको को पकड़ लाता है। क्या वह चपरासी की अपनी शक्ति होती है? उत्तर मिलता है नहीं। किन्तु वह उस शक्ति के आश्रय जिसके प्रबन्ध में सम्पूर्ण संसार के राजा जी रहे हैं। जिसके यंत्र अग्नि, पानी वायु, विद्युत ऐसे बलवान् है कि कोई बड़े से बड़ा राजा भी इसका प्रबन्ध नहीं कर सकता। इसके यंत्र भूचाल आदि ऐसे दृढ़ है कि एक क्षण में राजाओं के राज्य को सेना आदि सहित नष्ट भ्रष्ट कर सकते हैं। चाहे सामुद्रिक जहाज हों अथवा वायु-यान, परमात्मा की शक्ति का सामना नहीं कर सकते। अज्ञानी अपनी अज्ञानता से परमात्मा को त्याग प्राकृतिक वस्तु को आश्रय लेते हैं। परन्तु इस अविद्या के कारण अपने आप को दुःखमय बना लेते हैं। जो मनुष्य परमात्मा के ज्ञान से अपने आत्मिक बल को बढ़ा लेते है, उनको दबानेवाली कोई शक्ति

नहीं। जब कि सरकारी सिपाही निज राजा के भरोसे बड़े-बड़े मनुष्यों को पकड़ लाते हैं, तो ईश्वर-भक्तों को किसका भय हो सकता है। वह जानते हैं कि मृत्यु हमारे स्वामी के हाथ है। अतिरिक्त उसके कोई नहीं मार सकता। बलवान् मनुष्य दूसरों के मारने का विचार कर सकता है, परन्तु मारने में सफल नहीं हो सकता। मनुष्य के हाथ मे केवल उसका विचार है, वह कुविचार से अपने आप को पापी बना सकता है, परन्तु अपने शत्रुओं को हानि पहुँचा देना उसके अधिकार से बाहर है। जितना मनुष्य का भोग दुःख अथवा सुख है, वह प्रत्येक दशा में उसको भोगना पड़ेगा। जिस मनुष्य का भोग उत्तम है, वह अपनी सम्पूर्ण सम्पत्ति नष्ट कर दे, धनवानों को कठोर से कठोर गालि प्रदान करे, किसी की पर्वाह स्वप्न में भी न करे, तो भी उसके सुख के साधन सब ही एकत्रित रहेंगे। सुभाग्य मनुष्य कहीं भी चला जावे, उसे दुःख नहीं हो सकता। वह मनुष्य मूर्ख है जो सुख को धन के आश्रय समझते हैं। धन से सुख नहीं हो सकता, किन्तु धन दुःखदायी है। जो काम धनवान् धन से नहीं कर सकते, वह ईश्वर-भक्त सरलता से कर सकते हैं। संसार में धन के चार फल दृष्टि पड़ते हैं। प्रथम यह कि धनवान् भोजन उत्तम खा सकता है, परन्तु ऐसा कोई भोज्य पदार्थ नहीं जो पशुओं को न मिलता हो। मांस-भक्षी मनुष्य मांस को उत्तम समझते हैं, परन्तु जिन पशुओं का मांस मनुष्य सेवन करते हैं, उन्हीं का पशु भी सेवन करते हैं। ऐसा कौन सा जीव है, जिसका मांस बाज आदि पक्षी अथवा व्याघ्र गीदड़ आदि पशुओं को प्राप्त न होता हो। मनुष्य मेवे और अन्न खाते हैं, जिसको पशु पक्षी भी खाते हैं। मनुष्य के भोज्य पदार्थ में ऐसा कोई पदार्थ नहीं जो दूसरे जीवों को अप्राप्त हो। जब कि वह

भोजन जिसको धनवान् खाते हैं, परमेश्वर ने पशुओं को भी दे रक्खा है। तो इसके लिये ईश्वर भक्ति को त्यागकर धन एकत्रित करने लग जाना, अविद्या नही तो और क्या है ? हमने अनुभव किया है कि ईश्वर विश्वासी मनुष्य धनवानो से नित्य उत्तम भोजन करते हैं। यथा साधुओ को देखिये वह भोजन करने में किसी अमीर से कम नहीं, क्योंकि उनको प्रत्येक निर्धन और धनवान् निमंत्रण देते हैं और अपने भोजन से उत्तम भोजन जिमाते है। द्वितीय सुख जिसको धन से प्राप्त होना समझते है; सेवको से काम लेना है। इस काम में भी ईश्वर-भक्त धनवानो से अच्छे रहते है, क्योंकि ईश्वर-भक्तों को प्रत्येक स्थाद में सेवक मिल जाते हैं। राजा, महाराजा भी उनकी सेवा का परम कर्तव्य समझते है, जैसा कि एक उर्दू कवि का वचन है—''अय हुमा पेशे फ़कीरी सल्तनत क्या माल है, बाद्शाह आते हैं पापोश गदा के वास्ते।'' जिन मनुष्यो ने काशी में स्वामी भास्करानन्द की दशा को देखा होगा उनको पता है, कि ईश्वर-भक्तों के सेवक किस क़द्र है। तृतीय फल जो धन से निकलता है, वह प्रतिष्ठा है। परन्तु ईश्वर-भक्तो के सन्मान के आगे धनियों का सन्मान तुच्छ है। वह जिस देश में जावें, वहाँ उनका सन्मान प्रस्तुत है। स्वामी रामतीर्थ यदि भारतवर्ष मे प्रतिष्ठा पाते थे, तो अमरीका में भी उनकी प्रतिष्ठा कम न थी। जितना सन्मान आज बाबा नानकजी का सिक्खों के हृदय म है, क्या महाराजा रणजीतसिंह का भी उतना है ? क्या जितनी प्रतिष्ठा व्यास जी की हिन्दुओं के हृदय में है, क्या युधिष्ठिर की भी उतनी प्रतिष्ठा हो सकती है ? प्रयोजन यह है कि जितनी प्रतिष्ठा ईश्वर-भक्तों की होती है, उतनी धनवानो की नहीं। चतुर्थ यह कि धनवानो को विश्वास रहता है कि जब

कोई आपत्ति आवेगी धन से उसको नष्ट कर देंगे। जैसा कि किसी नीति का वचन है—आपत्ति के लिये धन एकत्र करना चाहिये। धनवानों को क्या आपत्ति हो सकती है, यदि आपत्ति आवेगी भी तो धन से नष्ट हो सकती है। परन्तु वह यह नहीं जानते, आपत्ति जब आवेगी, धन भी नष्ट हो जावेगा। परंतु जो मनुष्य ईश्वर-भक्त हैं वह निर्भय रहते हैं। कोई आपत्ति भी उनका सामना नहीं कर सकती। क्योंकि वह जानते हैं परमात्मा के राज्य में आपत्ति कोई वस्तु नहीं। जो वह करता है अच्छा करता है। यद्यपि रोगी को कड़वी औषधि बुरी मालूम होती है, परन्तु उसको गुणदायक होती है। इसी प्रकार ईश्वर के न्याय से जो हमको दंड मिलता है, वह हमारे मन से पापों की मलिनता को दूर करता है, इस कारण वह भी उपयोगी है। मनुष्य को जब तक तत्त्वज्ञान नहीं होता, तब तक उसको प्राकृतिक पदार्थ उत्तम जान पड़ते हैं। परन्तु तत्त्वज्ञानी जानते हैं कि धन की तृष्णा जितनी दुखदायक है, अन्य उससे कोई पदार्थ दुखदायक नहीं। यथा सर्प स्पर्श में नरम प्रतीत होता है, परन्तु काटने से मृत्यु आ जाती है। इसी प्रकार वह चमत्कारिक पदार्थ धन तथा स्त्री यद्यपि देखने में उत्तम मालूम पड़ती हैं, परन्तु वास्तव में सत्य से दूर ले जाकर मृत्यु का कारण होती हैं। क्योंकि परमात्मा ने आत्मा को इंद्रिय मन और शरीर का राजा बनाया है। परन्तु इन चमत्कारिक पदार्थों के आवरण से धोका खाकर आत्मा इद्रियों का सेवक हो जाता है और सत्य धर्म से दूर हो जाता है। उस समय मन जिस प्रकार आत्मा को नचाता है, वैसे ही आत्मा नाचता है। अतएव परमात्मा ने वेद में उपदेश किया है कि चमत्कारी वस्तुओं के आवरण से सत्य का मुख छिपा हुआ है। यदि तुम चाहते हो

कि आत्मिक बल में उन्नति हो और सत्य धर्म के ज्ञाता हो जाओ, तो सब से प्रथम उस आवरण को दूर करो। जब तक यह आवरण है, तब तक तुम सत्य को नहीं जान सकते। मनुष्य यदि सत्य से पतित हो जावे, तो उसका जीवन पशुओं से भी निकृष्ट हो जाता है। मनु ने स्पष्ट लिखा है कि लोभी, कामी, मनुष्य कभी धर्म को नहीं जान सकता। इसी कारण जो लोभ तथा काम मे लिप्त नहीं है, उन्हीं को धर्म के जानने का अधिकार है। और जो लोभ और विषय मे लिप्त हैं उनको धर्म के जानने का अधिकार ही नहीं। जिनको धर्म के जानने का अधिकार नहीं, आज भारतवर्ष में वह धर्म के आचार्य हैं! गृहस्थ का तो धन पैदा करना धर्म है, परन्तु भारत में कोटि-पति संन्यासी कहे जाते हैं। लक्षों रुपया एकत्रित करके उदासी नाम रख लिया। वास्तव में यहाँ अविद्या ने ऐसा पॉव जमाया है कि धर्म-नौका भॅवर में जा पड़ी है। यद्यपि इस देश में ५२ लक्ष साधु है, परन्तु इसी प्रकार यथा पाञ्चाल में नाई का नाम राजा रख लेते है। यदि उन ५२ लक्ष में से ५२ भी साधु होते तो देश का कल्याण हो जाता। परन्तु यह संन्यासी उदासी नहीं, किन्तु वान्ताशी अर्थात् वमन करके चाटनेवाले हैं। बहुत से अल्पायु में साधु हो गये, जिन्होंने संसार का कुछ देखा ही न था। साधुओं में आकर कुछ पढ़ लिख गये, गृहस्थों में कुछ प्रतिष्ठा होने लगी। अतिरिक्त इसके कि वह गृहस्थों का उपकार करते, उन्हीं से धन लेकर मठाधारी बनना और उन्हीं के धन से अपने शरीर का शृंगार करना और उन्हीं के धन से पुत्र देने के मिस से उनको पतित करना उनका धर्म हो गया। धर्म कर्म को यह सब मिथ्या बताने लगे। यदि धर्म कर्म का उपदेश करते, तो सम्भव था कि कोई गृहस्थ इनसे प्रश्न कर बैठता—

महाराज ! आप क्या कर्म करते हैं ? इन्होंने जगत् मिथ्या बताकर धर्म कर्म को मूल से नष्ट कर दिया। यदि कोई इन मिथ्यावादियों से पूछे कि महाराज ! जब संसार मिथ्या है, तो आपका यह वचन भी संसार में होने से मिथ्या होगा। यदि संसार सत् है, तो भी आप का यह वचन मिथ्या ही है। शोक है ! कि गृहस्थ मनुष्यों ने पढ़ना त्याग दिया। अतएव मिथ्या आडम्बर वेषधारी उनको धोका में डाल अधर्म का उपदेश करते है। इधर संसार को मिथ्या बताते हैं, उधर गृहस्थों से धन एकत्रित करके उत्तम-उत्तम सुन्दर भवन बनवाते हैं तथा सुन्दर वस्त्र धारण करते हैं। और वाहनारूढ़ होकर आनन्द करते हैं। जब कोई प्रश्न कर देता है—महाराज ! आप तो जगत् को मिथ्या बताते हैं। पुनः आप ऐसे कार्य क्यों करते है ? तो उत्तर देते हैं—यह सब भी मिथ्या भ्रम ही है। यदि कोई गृहस्थ बुद्धिमान् दश बीस पादत्राण से पूजा कर दे। जब वह न्यायालय में केस चलावें, तो वही उत्तर दे—महाराज ! यह तो मिथ्या ही है। आपने क्यों न्यायालय की शरण ली, तो उनको विदित हो। परन्तु अभागे गृहस्थ हैं ! यदि वह विद्वान् होते, तो उनकी दाल न गलती। उनकी दाल उन्हीं देशों में गलती है, जहाँ मनुष्य अज्ञानी हैं। साधु वही हो सकता है कि जिसमें साधु के लक्षण हों और वह पतित संसार के उद्धार का यत्न करे। नहीं तो कच्चा घर को त्यागा, उत्तम पक्का भवन बनवा लिया। कम्बल छोड़ा, दुशाला ओढ़ लिया। एक पुत्र

त्यागा, शिष्य बना लिये। स्त्री त्यागी, शिष्या प्रस्तुत करली और सब के धर्म को नष्ट कर दिया !

हिन्दी अनुवाद माण्डूक्योपनिषद् का समाप्त हुआ।

ओ३म्

शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

श्रीस्वामी दर्शनानन्द सरस्वती कृत उपनिषद्-प्रकाश का

हिन्दी अनुवाद

